भारत में राज्यों की राजनीति :
राजस्थान में राजनीतिक दलों के विशेष संदर्भ में एक अध्ययन
(1989–2008)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की पीएच0 डी0

उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

(सामाजिक विज्ञान विभाग)

शोध निदेशक :–
डॉ0 फूलसिंह गुर्जर
व्याख्याता
राजनीति विज्ञान विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़ (राज0)

शोधार्थी :–
मनीषा शर्मा

(सामाजिक विज्ञान विभाग)

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झालावाड़

सत्र 2013–2014

Certificate To Accompany The Thesis

It is certified that the :-

1. Thesis entitled State politics in India : A Study of Special reference to political parties in Rajasthan, Since (1989 to 2008) submitted by Mrs. Manisha Sharma is an original piece of research work carried out by the candidate under my supervision.

2. Literary presentation is satisfactory and the thesis is in a form suitable for publication.

3. Work evinces the capacity of the candidate for critical examination and independent judgement.

4. Candidate has put in at least 200 days of attendance every year.

Signature of supervisor
with date

समर्पण

मैं अपना शोध ग्रन्थ पूज्य पिताजी स्व0श्री बद्रीलाल जी शर्मा को समर्पित करते हुए कोटिशः नमन अर्पित करती हूँ जिनके आशीर्वाद, असीम वात्सल्य एवं प्रेरणा से मैं अपने कार्य को सम्पूर्ण कर पायी हूँ।

प्राक्कथन

भारत के प्रभुत्व सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य को संविधान में 'राज्यों का संघ' घोषित किया गया है, जिसकी दो विशेषताएं हैं : भारत की संघात्मक व्यवस्था इकाईयों के मध्य समझौते का परिणाम नहीं है और इकाईयों को अपनी स्वेच्छानुसार संघ से पृथक् होने का अधिकार भी नहीं है।

भारतीय संघ के विभिन्न राज्यों में होने वाली राजनीतिक प्रक्रिया के अध्ययन को राज्यों की राजनीति के नाम से जाना जाता है।

भारत के राज्यों के शासन के सम्बन्ध में भारतीय संघ की इकाईयों के अपने अलग संविधान नहीं है। यद्यपि कुछ राज्यों से सम्बन्धित विशेष प्रावधान किए गए हैं, तथापि सभी राज्यों को एक जैसी शक्ति प्रदान की गई है। यह भी सत्य है कि देश के विविध राज्यों की स्थिति और सांगठनिक संरचना भिन्न–भिन्न है। राज्यों की राजनीति को प्रभावित करने वाली भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियों के कारण राज्य राजनीति का अध्ययन एक जटिल विषय है। राज्य राजनीति के अध्ययन को विशेष महत्व 1967 के चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् प्राप्त हुआ है। 1967 के पश्चात् की घटनाओं के बाद विविध विद्वानों का ध्यान राज्यों की राजनीति की ओर आकर्षित हुआ।

मायरन वीनर के अनुसार प्रत्येक राज्य एक बड़ी व्यवस्था (भारत) का भाग है, परन्तु फिर भी हर एक का अपना निश्चित अस्तित्व है, इसलिए प्रत्येक राज्य में राजनीतिक प्रक्रिया का विश्लेषण किया जा सकता है जिसका सम्बन्ध सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों तथा सरकार की कार्यक्षमता के साथ जोड़ा जा सकता है। यह विधि प्रमुख रूप से व्यवस्था विधि पर आधारित है और यह राज्यों के तुलनात्मक अध्ययन को महत्व देती है।

चतुर्थ आमचुनाव 1967 के पश्चात् राज्यों के स्तर पर अनेक गैर कांग्रेसी सरकारों का गठन हुआ, दलीय व्यवस्था का नवीन स्वरूप सामने आया। विविध राज्यों में भिन्न क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के भिन्न स्वरूप सामने आये विकास प्रक्रिया में विविध वर्गों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक ढाँचे के अन्तर्गत राजनीतिक प्रक्रिया को समझना आवश्यक हो गया था।

1989 के पश्चात् भारतीय राजनीति में अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं जैसे गठबन्धन राजनीति का प्रारम्भ, मण्डल आयोग रिपोर्ट, जातिवाद का विभत्स रूप, नवीन क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का उदय, राममंदिर विवाद आदि। इन का अध्ययन भी महत्वपूर्ण हो गया है।

शोध ग्रन्थ के अध्ययन को सरल बनाने की दृष्टि से इसे सात अध्यायों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अध्याय में, राज्य राजनीति की दृश्यावली एवं उसके समग्र चित्र का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत राज्यों के वर्गीकरण, राज्य राजनीति के निर्धारक तत्व, विभिन्न रूप एवं काल का विश्लेषण किया गया है।

द्वितीय अध्याय में, देशी रियासतों के एकीकरण, राज्य पुनर्गठन आयोग, राजस्थान का राजनीतिक एकीकरण एवं अवधारणात्मक परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का वर्णन किया गया है। भारत में संघात्मक व्यवस्था अपनायी गई है जिसके अन्तर्गत संविधान के द्वारा केन्द्र एवं इकाईयों के मध्य शक्तियों का वितरण किया गया है, इसके सांविधानिक प्रावधान, केन्द्र–राज्य के मध्य विवाद, उनके लिए गठित विभिन्न आयोगों के गठन का विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में, राजस्थान के राजनीतिक दलों का विश्लेषण किया गया है। लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिए राजनीतिक दल अपरिहार्य है इन्हें लोकतंत्र का प्राण तथा शासन का चतुर्थ अंग कहा गया है। भारत में राजनीतिक दलों का उद्‌भव और इतिहास राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ा हुआ है। राजस्थान में समय–समय पर जो भी दल अस्तित्व में आए हैं उनके कारण और कार्यक्रम का वर्णन किया गया है।

पंचम अध्याय में, राजस्थान की राजनीति में मुख्यमंत्रियों की भूमिका को प्रस्तुत किया गया है। भारतीय प्रशासनिक ढ़ाँचे में संसदीय शासन व्यवस्था अपनाई गई है। जिस प्रकार केन्द्र में राष्ट्रपति को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और प्रधानमंत्री को वास्तविक प्रधान, उसी प्रकार राज्य में राज्यपाल को सांविधानिक अध्यक्ष तथा मुख्यमंत्री को वास्तविक प्रधान बनाया गया है। प्रस्तुत अध्याय में राजस्थान के प्रथम मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री से लेकर वसुन्धरा राजे सिन्धिया (2008) तक के कार्यों, उपलब्धियों तथा अनुपलब्धियों का तुलनात्मक विश्लेषण किया गया है।

षष्ठ अध्याय में, राजस्थान की राजनीति में जाति की भूमिका को स्पष्ट किया गया है, जाति की उत्पत्ति वैदिककाल में हुई। शनैः–शनैः जाति प्रथा कर्म पर आधारित ना होकर जन्म पर आधारित हो गई। राजस्थान में जाति सर्वाधिक प्रभावशाली तत्व रहा है, यहां जाति की शक्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। विभिन्न जातीय समुहों का विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है।

सप्तम अध्याय में, प्रस्तुत अध्ययन का समग्र मूल्यांकन करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

अध्ययन के अन्त में विषय से सम्बन्धित संदर्भ ग्रन्थों की एक सूची भी प्रस्तुत की गई है जो इस विषय पर अधिक जानकारी चाहने वालों के लिए अधिक उपयोगी होगी और भावी अध्ययन कर्ताओं के लिए मार्गदर्शक साबित होगी।

राज्य राजनीति पर आधारित इस शोध प्रबन्ध में मैंने अध्ययन एवं विश्लेषण में अनेक पद्धतियों का उपयोग किया है। इसमें ऐतिहासिक पद्धति का आश्रय लेकर राज्य राजनीति एवं राजनीतिक दलों के विषय में जानकारी दी गई है। साथ ही वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, सेफोलोजी एवं तुलनात्मक पद्धतियों के माध्यम से वास्तविक स्थिति को जानने का प्रयास किया गया है। अतः स्पष्ट है कि शोधार्थी ने विभिन्न पद्धतियों के सम्मिश्रण को इस शोध प्रबन्ध का आधार बनाया है।

शोध एवं अनुसंधान का व्यापक इतिहास यह सहज उद्घाटित करता है कि शोध की सफलता गुरूजन के निर्देशन, साथियों एवं सहायकों की सहायता पर निर्भर करती है।

प्रस्तुत अध्ययन के लिए मैं सर्वप्रथम उस विधाता को नमन करती हूं जिसकी ईश्वरीय योजना और असीम अनुकम्पा से यह कार्य सम्भव हो पाया है।

इस अध्ययन के लिए मैं अपने शेध निर्देशक एवं परम् आदरणीय गुरूवर डॉ0 फूलसिंह गुर्जर, व्याख्याता राजनीति विज्ञान विभाग, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़ (राजस्थान) के प्रति अपने ह्रदय के गहनतम् तल से आभारी एवं अत्यन्त कृतज्ञ हूं, जिन्होंने स्नेहिल वातावरण में पूर्णतः अपनत्व भाव से मुझे अपने विद्वतापूर्ण दिशा–निर्देश दिए। उन्होंने न केवल शोध निर्देश ही दिए वरन् मेरे शैक्षणिक उन्नयन के साथ–साथ व्यक्तित्व विकास में भी पूर्ण सहयोग प्रदान किया। उनसे प्राप्त हुई प्रेरणा एवं सहयोग के लिए मैं सदैव उनकी ह्रदय से आभारी रहूंगी। गुरूवर के सतत् सक्रिय और सर्वदा सुलभ निर्देशन के बिना इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करना सम्भव नहीं था। साथ ही मैं अपने शोध निर्देशक की धर्मपत्नी श्रीमती सज्जन पोसवाल, व्याख्याता इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़ को भी ह्रदय से धन्यवाद देना चाहती हूं, जिन्होंने अपने कार्यों में स्वयं को सीमित रखते हुए भी निर्देशक महोदय द्वारा मुझे दिये जाने वाले उपयोगी समय में निरन्तर सहर्ष सहयोग दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में कोटा, झालावाड़, कोटा खुला विश्वविद्यालय, राजकीय हरिश्चन्द्र पुस्तकालय, झालावाड़ के पुस्तकालय प्रभारियों व कर्मचारियों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूं।

परिवारजनों के अभाव में मेरे प्रयास अधुरे रह जाते। इनके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना परम् कर्तव्य समझती हूं जो मेरे प्रेरक बने तथा अपने विविध कार्यक्षेत्रों में निरन्तर भावनात्मक रूप से सहयोग प्रदान किया।

मैं अपना शोध ग्रन्थ स्व. पिता श्री बद्रीलाल जी शर्मा को समर्पित करती हूं। जिन्होंने मुझे इस योग्य बनाने के लिए हर कदम पर मेरा मित्रवत् सहयोग किया, पितृवत् प्रेरणा तथा वात्सल्य दिया एवं शिक्षकवत् प्रेरित किया। मैं अपनी स्नेहमयी दादी श्रीमती अयोध्यादेवी शर्मा तथा ममतामयी माता श्रीमती विमला शर्मा के प्रति श्रद्धानवत् हूं जिन्होंने मुझे विषम परिस्थितियों में भी इस योग्य बनाने के लिए हर

संभव प्रयास एवं सहयोग प्रदान किया। उनके द्वारा प्रदत्त संस्कार ही आज इस रूप में प्रस्फूटित हुए हैं, उन्होंने मुझे सदैव अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया उसी का परिणाम यह शोध प्रबन्ध है। मुझे इस स्तर तक पहुंचाने में मेरे सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा स्त्रोत मेरे अग्रज भरत शर्मा एवं कुलदीप शर्मा, भाभी श्रीमती स्वाति शर्मा मेरे अनुज कमल भारद्वाज एवं अनुजा प्रतिभा शर्मा रहे हैं। इन्हीं के प्रेरणा एवं सहयोग तथा प्रोत्साहन ने मुझे यह दिशा दी है, ससुराल पक्ष का भी पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ तथा मेरे इस कार्य में प्रत्यक्ष रूप से सहयोगी रहे मेरे पति श्री रवि भार्गव जिनके अतुलनीय सहयोग एवं स्नेह से मैं अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकी हूं।

मेरे इस कार्य में सहायक रही मेरी मित्र सोनिया गौड़ एवं श्रीमती शिखा शर्मा। उनके सही दिशा–निर्देशन तथा प्रेरणा के बल पर यह शोध कार्य पूर्ण किया। इसके अतिरिक्त अन्य सभी मित्रगणों एवं पारिवारिकजनों को भी आभार ज्ञापित करना चाहूंगी। जिनका समय–समय पर अविरल स्नेह, प्रोत्साहन एवं सहयोग ने मुझे इस स्तर तक पहुंचाया है।

अन्त में मैं इस शोध ग्रन्थ को सुरूचिपूर्ण, सुन्दर, स्वच्छ, स्पष्ट और शुद्ध मुद्रण के लिए कम्प्यूटर ऑपरेटर श्री लक्ष्मीकान्त पहाड़िया का आभार व्यक्त करती हूं जिनके उपयोगी सहयोग से मैं इस शोध ग्रन्थ को समय पर प्रस्तुत कर पाई हूं। यद्यपि शोध प्रबन्ध में मैंने अपने सभी उद्देश्यों की ओर ध्यान दिया तथापि कुछ कमियां रह जाना स्वाभाविक है, अतः विद्वानों से मेरी प्रार्थना है कि वे उन त्रुटियों को क्षमा करेंगे तथा मैं उनके सुझावों को सहर्ष आमंत्रित करती हूं और भविष्य में भी शोध के क्षेत्र में गतिरत रहने का प्रयास करूंगी।

वार –

दिनांक –

मनीषा शर्मा

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विवरण	पेज नं.
1.	अध्याय प्रथम – परिचयात्मक	1–25
	• स्वतन्त्र भारत में राजस्थान की अवस्थिति	4
	• भारतीय संघ में राज्यों की स्थिति	5
	• राज्य राजनीति के निर्धारक तत्व	8
2.	अध्याय द्वितीय – ऐतिहासिक एवं अवधारणात्मक परिप्रेक्ष्य	26–41
	• प्रमुख प्रजामण्डल	27
	• राजस्थान के एकीकरण की प्रक्रिया	33
3.	अध्याय तृतीय – केन्द्र राज्य सम्बन्ध	42–75
	• केन्द्र व इकाईयों के मध्य सम्बन्ध	49
	• केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर गठित समितियां	54
	• केन्द्र–राज्य सम्बन्ध व्यवहारिक स्थिति	67
4.	अध्याय चतुर्थ – राजस्थान में राजनीतिक दल	76–136
	• राजनीतिक दलों की उत्पत्ति के सिद्धान्त	77
	• भारतीय दल पद्धति की विशेषताएँ	78
	• राजस्थान के प्रमुख राजनीतिक दल	88

5. अध्याय पंचम् – राजस्थान की राजनीति में मुख्यमंत्री 137–173

- संवैधानिक स्थिति 137
- मुख्यमंत्री चयन में निर्धारक तत्वों की भूमिका 140
- राजस्थान की राजनीति में मुख्यमत्री (काल क्रमानुसार वर्णन) 145

6. अध्याय षष्ठम् – राजस्थान की राजनीति में जाति 174–206

- जाति प्रथा के विकास के सिद्धान्त 177
- राजस्थान की राजनीति में जाति की भूमिका 184
- आरक्षण की राजनीति 188

7. अध्याय सप्तम् – उपसंहार 207–221

8. संदर्भ ग्रन्थ सूची 222–228

9. परिशिष्ट 229–244

प्रथम अध्याय
परिचयात्मक

भारतीय समाज को समझने की दृष्टि उसकी राजनीति में निहित है। एक प्राचीन परम्पराबद्ध, बहुल और खण्डित संरचनाओं वाला सभ्यता मूलक समाज अपनी संरचनाओं के राजनीतिकरण के माध्यम से आधुनिक बन रहा है। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत के विकास का प्रथम चरण (1947 से 1970 तक) वह है जब एक राजनीतिक केन्द्र की स्थापना करते हुए एक पार्टी के वर्चस्व वाली दलीय प्रणाली के अन्तर्गत राजनीतिक अभिजनों के सामूहिक नेतृत्व ने उपकेन्द्रों के साथ गठजोड़ निर्मित किया और उपकेन्द्र निम्न स्तर पर सक्रिय छोटे–छोटे केन्द्रों से जुडे। सरकार, राजनीतिक संस्थाओं और नियोजन के द्वारा पृथक् हुए समूहों को राजनीतिक सहभागिता में खींचा गया और लोकतन्त्र का आधार विस्तृत करते हुए आर्थिक विकास करने का प्रयत्न किया गया। इस कालखण्ड में राज्य की संस्था ने समाज परिवर्तन के मुख्य कारक की भूमिका निभाई, परन्तु उसके कार्य करने का तरीका कमोबेश विकेन्द्रित रहा जो भारतीय समाज की प्रकृति के अनुकूल था। द्वितीय चरण (1971 से वर्तमान तक) वह है जब एक पार्टी के वर्चस्व वाली दलीय प्रणाली विखण्डित हो गयी और राज्य व्यवस्था जनता की मांगों को पूरा करने में असफल होने लगी, उसमें अन्तर्विरोध उत्पन्न हो गए और जनता में व्यवस्था के प्रति असंतोष में वृद्धि होने लगी। राजनीतिक सहभागिता में से व्यक्तिपरक नेतृत्व पर आधारित लोक लुभावनवादी जन राजनीति फूट पड़ी। लोकतन्त्र के नाम पर उसे सीमित करने का प्रयास किया गया, राजनीति के स्थान पर अर्थव्यवस्था को अधिक महत्व प्रदान किया गया। लोकतान्त्रिक राजनीति ने एक तरफ राजनीतिक सहभागिता का अधिक विकास किया, निचली जातियाँ और उपेक्षित वर्ग राजनीति की मुख्यधारा में अपनी दावेदारियां प्रस्तुत करने लगे। दूसरी ओर तकनीकशाही प्रौद्योगिकीय प्रतिमान भारतीय राज्य पर प्रभावी होते चले गए। राज्य लोकोपकार से संलग्न अपने उत्तरदायित्वों से परे जाता हुआ भूमण्डलीय अभिजनों द्वारा निर्धारित तौर–तरीके स्वीकृत करने लगा।[1]

स्वतंत्रता से पूर्व की स्थिति का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि पराधीन भारत राष्ट्र देशी रियासतों तथा ब्रिटिश प्रान्तों में विभाजित था, संवैधानिक विकास के विभिन्न चरणों में तथा स्वतंत्रता आन्दोलन के अन्तर्गत राजनैतिक सुधारों के माध्यम से प्रान्तों ने भी इकाईयों के स्वरूप में अपनी पहचान निर्माण प्रारम्भ कर दी थी एवं अधिकाधिक स्वायत्ता की ओर अग्रेषित होने लगे। 1861 के भारत सरकार अधिनियम से ही इस व्यवस्था का उदय हुआ है। 1892 के अधिनियम के द्वारा बंगाल, बम्बई, मद्रास तथा उत्तर पश्चिमी प्रान्त

की विधायी परिषदों का विस्तार हुआ, परन्तु प्रान्तों के सम्मानपूर्ण अस्तित्व प्राप्त करने की दिशा में 1909 के भारत सरकार अधिनियम को महत्वपूर्ण माना जा सकता है, तब प्रान्तीय विधायी परिषदों के आकार में वृद्धि की गयी वरन् अधिकारों को भी विस्तृत किया गया। इन परिषदों में भारतीयों का सम्मिलित होना सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, प्रान्तों के सम्मानजनक अस्तित्व की दिशा में 1919 के भारत सरकार अधिनियम को द्वितीय महत्वपूर्ण मोड माना जा सकता है, इस अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय सरकारों को आंशिक उत्तरदायी शासन समर्पित किया गया था। इसके साथ ही प्रान्तीय विधान परिषदों के आकार में वृद्धि भी की गयी तथा निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि करके शासन को अधिक लोकतांत्रिक बनाया गया, प्रथम समय केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के मध्य शक्ति का विभाजन किया गया, अर्थात् आधुनिक स्वायत्त राज्यों का प्रारम्भ इसी प्रावधान के फलस्वरूप हुआ, प्रान्तों को कुछ क्षेत्रों में स्वायत्ता व अधिकार प्रदान किये गये, केन्द्र के पास विदेश से सम्बन्धित विषय सेना, डाक–तार आदि विषय थे तो प्रान्तों के पास शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि जैसे स्थानीय महत्व के विषय रखे गए, किन्तु प्रान्तों में द्वैध शासन की व्यवस्था की गयी, यानि कुछ विषय ही लोकप्रिय मंत्रियों के पास थे, शेष शक्तियाँ गवर्नर व उसकी कार्यकारिणी के पास रहीं। भारत के प्रान्तों बंगाल, बिहार, मध्य प्रान्त, मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त तथा उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में इस पद्धति को लागू किया गया, प्रान्तीय सरकारों को शक्तियाँ प्रत्यायोजित शक्तियों के रूप में मिलीं, इससे सरकार का स्वरूप एकात्मक ही रहा।

दोषपूर्ण नीति व अव्यवहारिक क्रियान्वयन के कारण यह पद्धति सफल नहीं हुई। 1935 के संवैधानिक सुधारों के माध्यम से अखिल भारतीय संघ निर्मित किया गया जिसमें 11 ब्रिटिश प्रान्त व 6 चीफ कमिश्नर के क्षेत्र थे, जो देशी रियासतों से मिलकर बने थे, अर्थात् प्रथम समय देश का स्वरूप एकात्मक से संघात्मक स्वीकार किया गया। इस सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप प्रदान करते हुए प्रान्तों को अधिक शक्तिशाली व उत्तरदायी बनाया गया तथा द्वैध शासन समाप्त करके प्रान्तों को स्वशासित संवैधानिक आधार प्रदान किया गया।

1935 के अधिनियम के अन्तर्गत ही केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के क्षेत्रों को स्पष्ट किया गया तथा तीन सूचियों की व्यवस्था की गयी, केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा समवर्ती सूची। उल्लेखनीय है कि यही व्यवस्था आगे चलकर भारतीय संघात्मक व्यवस्था का आधार बनी, अखिल भारतीय महत्व के 59 विषय यथा–सेवा, विदेश, डाक–तार आदि संघीय सूची में रखे गए, जिन पर विधि निर्माण का अधिकार संघीय व्यवस्थापिका का था, स्थानीय महत्व

के 54 विषय यथा–शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय, शान्ति जैसे विषय प्रान्तीय सरकारों के अधिकार क्षेत्र में थे, समवर्तीसूची में 36 विषय थे जिन पर केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों व्यवस्थापिकाएँ कानून बना सकती थीं, परन्तु संघर्ष की स्थिति में संघीय व्यवस्थापिका का कानून ही मान्य होता। प्रभावी क्रियान्वन के अभाव में 1935 के अधिनियम की मूल भावना व्यवहार में परिणित नहीं हो पायी।

स्वतन्त्र भारत में शासन के स्वरूप पर विचार करते समय संविधान निर्माताओं के समक्ष स्पष्ट था कि राजनीति विरासत, आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक, सांस्कृतिक वैविध्यपूर्ण देश के लिए संघात्मक व्यवस्था ही उचित रहेगी, अतः विविधता को एकता के सूत्र में बांधने का एक स्तुत्य प्रयत्न किया गया। स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् तत्कालीन गृहमंत्री एवं उप–प्रधानमंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल तथा उनके गृह सचिव वी.पी. मेनन ने संघात्मक पुनर्रचना का अति महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित किया। उनके प्रयासों के फलस्वरूप 4 श्रेणी के राज्य अस्तित्व में आये।

स्वतन्त्र भारत में प्रान्तों के स्थान पर 'राज्य' शब्द का प्रयोग किया गया। प्रथम श्रेणी में A (ए सूची) में असम, बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, संयुक्त प्रान्त, प. बंगाल एवं पंजाब सम्मिलित किए गए, कुछ समय पश्चात् आन्ध्रप्रदेश को भी इसमें सम्मिलित किया गया, 'बी' श्रेणी के अन्तर्गत हैदराबाद, जम्मू व कश्मीर, मध्य भारत, मैसूर, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्य संघ राजस्थान, सौराष्ट्र, विन्ध्यप्रदेश, तथा ट्रावन कोर–कोचीन राज्यों को सम्मिलित किया गया। ऐतिहासिक कारणों से जम्मू–कश्मीर को इस श्रेणी में होते हुए भी विशिष्ट राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। 'सी' श्रेणी में अजमेर, भोपाल, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, मणिपुर, त्रिपुरा, को रखा गया तथा 'डी' श्रेणी में अण्डमान तथा निकोबार द्वीप समूह आये, इस प्रकार एकीकरण योजना के द्वारा भारत के भौगोलिक, राजनैतिक व आर्थिक एकता के वांछित स्वप्न को साकार किया गया, इसे रक्तहीन क्रांन्ति की संज्ञा दी गयी।

शनैः–शनैः यह अनुभव किया गया कि राज्यों के स्वरूप में परिवर्तन एवं पुनर्गठन की आवश्यकता है अतः दिसम्बर 1953 में भारत सरकार द्वारा राज्य पुनर्गठन आयोग की श्री फजल अली की अध्यक्षता में स्थापना की गई, आयोग के अन्य दो सदस्य थे – श्री के. एम. पन्निकर एवं पं. ह्रदयनाथ कुंजरू। आयोग द्वारा 1955 में दिये गए प्रतिवेदन ने राज्यों को समान दर्जा देने तथा राजप्रमुख के पद को समाप्त करने का सुझाव दिया, तत्कालीन 27 राज्यों के स्थान पर 16 राज्यों व 3 केन्द्रशासित प्रदेशों की स्थापना का सुझाव दिया। जुलाई 1956 में आयोग के प्रतिवेदन में कतिपय संशोधन करके राज्य

पुनर्गठन अधिनियम भारतीय संसद द्वारा पारित किया गया, जिसके अन्तर्गत 14 राज्यों व 5 केन्द्रशासित प्रदेश बनाये गए। 1953 में आन्ध्र राज्य का गठन किया गया, जिसका नाम 1956 में आन्ध्रप्रदेश कर दिया गया,1956 में केरल और मैसूर राज्यों का गठन किया गया, मैसूर राज्य का नाम 1973 में बदलकर कर्नाटक किया गया। 1960 में बम्बई राज्य का विभाजन कर महाराष्ट्र व गुजरात राज्य स्थापित किए गये, 1966 में नागालैण्ड को अलग राज्य का दर्जा प्रदान किया गया, 1966 में ही पंजाब के पंजाबी व हिन्दी भाषा के आधार पर दो भाग किए गए– पंजाब व हरियाणा। हिमाचलप्रदेश को राज्य का दर्जा 1971 में दिया गया इसके साथ ही 1971 में मणिपुर व त्रिपुरा को भी राज्य का दर्जा दिया गया, 1987 में गोवा को भारत के 25 वें राज्य का गौरव प्राप्त हुआ। 1991 में संविधान के 69वें संशोधन के द्वारा दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का विशेष दर्जा प्रदान किया गया। नवम्बर 2000 में तीन नए राज्यों का निर्माण हुआ – छत्तीसगढ़, झारखण्ड व उत्तरांचल इस प्रकार भारत में वर्तमान में 28 राज्य व 6 केन्द्रशासित प्रदेश है।

स्वतन्त्र भारत में राजस्थान की अवस्थिति –

स्वतन्त्र भारत में राजस्थान को वर्तमान स्वरूप धारण करने में लम्बा समय लगा। राजस्थान में लम्बे कालखण्ड तक देशी राजाओं का राज्य रहा, ब्रिटिश भारत में भी यह राज्य अंग्रेजी सरकार से अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष करते रहे। स्वतन्त्र भारत में राजस्थान को वर्तमान स्वरूप में आने में अनेक चरणों की यात्रा करनी पड़ी, और अन्ततः सन् 1956 में राजस्थान ने वर्तमान स्वरूप धारण किया।

27 फरवरी, 1948 को अलवर, भरतपुर, धौलपुर व करौली का विलय किया गया जिसे कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की सलाह पर 'मत्स्य संघ' कहा गया। द्वितीय चरण 25 मार्च, 1948 को पूर्ण हुआ जिसके अन्तर्गत कोटा, बूंदी, झालावाड़, बांसवाड़ा, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, किशनगढ़, टोंक और शाहपुरा की रियासतों को मिलाकर 'राजस्थान संघ' निर्मित किया गया। तृतीय चरण में उदयपुर रियासत का विलय किया गया, जिसके फलस्वरूप 18 अप्रैल 1948 को 'संयुक्त राजस्थान' का निर्माण हुआ परन्तु जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर एवं सिरोही पांच रियासतें ऐसी थी जो अब तक भी अपना पृथक् अस्तित्व बनाये हुए थी। विलीनीकरण के अगले चरण में 'वृहद् राजस्थान' में जयपुर, बीकानेर, एवं जैसलमेर रियासतें शामिल की गयी, 30 मार्च, 1949 को जयपुर के ऐतिहासिक दरबार में आयोजित समरोह में सरदारपटेल ने राजस्थान राज्य का उद्घाटन किया। मत्स्य संघ अस्तित्व में तो आ चुका था परन्तु अब तक स्वतन्त्र था तथा वृहद् राजस्थान का अंग नही बना था। धौलपुर तथा भरतपुर के सामने अनिश्चितता की स्थिति थी कि वे उत्तर प्रदेश

तथा राजस्थान में से किसके साथ सम्मिलित हो। विलीनीकरण प्रक्रिया के पंचम चरण में अथक प्रयासों के पश्चात् 15 मई, 1949 को मत्स्य संघ राजस्थान का अंग बन गया। सिरोही के विलय के प्रश्न पर विवाद था, राजस्थानी एवं गुजराती नेतृत्व निर्णायक स्थिति में नहीं पहुंच पा रहे थे, अंततः सिरोही का विभाजन हो गया, आबू तथा दिलवाड़ा को बम्बई प्रान्त को सौंपा गया, शेष भाग का राजस्थान के साथ 7 फरवरी, 1950 को विलय कर दिया गया, इस निर्णय के विरूद्ध राजस्थान निवासियों में तीव्र प्रतिक्रिया हुई, फलतः 6 वर्ष पश्चात् 1956 में जब राज्यों का पुर्नगठन हुआ तथा ये भाग पुनः राजस्थान में विलय कर दिए गए, एकीकरण के अंतिम चरण में 1 नवम्बर, 1956 को अजमेर का जो उस समय तक ''सी'' श्रेणी का राज्य था, राजस्थान में विलय कर दिया गया तथा राजस्थान ने अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त किया। 19 देशी रियासतों व 3 चीफशिप के क्षेत्रों ने एकतंत्र से मुक्त होकर लोकतंत्र के स्वतंत्र वातावरण को प्राप्त किया, इस प्रकार राजस्थान भारत के संघ की अन्य इकाईयों के समान एक इकाई बन गया।

भारतीय संघ में राज्यों की स्थिति –

हमारे संविधान का अनुच्छेद 1(1) यह कहता है 'भारत अर्थात् इण्डिया' राज्यों का संघ होगा। प्रारूप संविधान प्रस्तुत करते हुए प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ0 अम्बेडकर ने यह कहा था ''यद्यपि संविधान की संरचना परिसंघात्मक है किन्तु समिति ने संघ शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि इसके कुछ लाभ है।'' संविधान सभा में इस तथ्य का निर्वचन करते हुए उन्होंने कहा कि यह लाभ दो दृष्टि से है अर्थात् (क) भारत का परिसंघ इकाईयों के बीच किसी करार के परिणामस्वरूप नहीं और (ख) संघटक इकाईयों को उससे अलग होने का अधिकार नहीं है।[2] इस प्रकार यह अमरीकी व्यवस्था से भिन्न है। संघ निर्माण का द्वितीय माध्यम केन्द्रीय सरकार द्वारा अपनी इकाईयों को अधिकतम स्वायत्ता प्रदान करना है, इस व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्यों में स्पष्ट शक्तियों का विभाजन होता है, संघ सूची के विषय संघ के अधिकार क्षेत्र में तथा राज्य सूची के विषय राज्य के अधिकार क्षेत्र में होते हैं, शेष विषय संघ के अधीन होते हैं। यह व्यवस्था कनाड़ा में है, भारतीय संघ में स्थिति कुछ इसी प्रकार की है, किन्तु जो व्यवस्था इसे विशिष्ट बनाती है वह है समवर्ती सूची की व्यवस्था, ये वे विषय हैं जिन पर संघ एवं इकाई दोनों ही विधि निर्माण कर सकते हैं। इसी विशिष्ट व्यवस्था के कारण कुछ विद्वान भारतीय व्यवस्था को संघात्मक व्यवस्था मानते हैं।

उपर्युक्त अवधारणा के विपरीत कुछ विद्वान इसे एकात्मक अथवा एकात्मक की ओर झुका हुआ संविधान मानते है। प्रो. पी.टी. चाको, प्रो.0 के.सी. व्हेयर एवं सर आईवर जेनिंग्स इसी प्रकार के विद्वान है।

जब तक एक ही राजनैतिक दल कांग्रेस का, केन्द्र एवं राज्यों मे वर्चस्व रहा, तब तक संघात्मक व्यवस्था की विकृतियों के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न नहीं हुआ था किन्तु 1967 के आम चुनाव के पश्चात् राजनीतिक व्यवस्था में एक दलीय आधिपत्य की समाप्ति के पश्चात् राज्यों को अधिक अधिकार प्रदान करने की मांग बल पकड़ने लगी। 1971 में कुछ मुख्यमंत्रियों ने राज्यों को और अधिक स्वायत्ता देने के लिए संविधान में संशोधन की मांग की, अन्यथा बांग्लादेश की घटना की पुरावृत्ति की आशंका तक व्यक्त की गयी।

भारतीय संविधान द्वारा अपनायी गयी संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत त्रिस्तरीय राजनीति है राष्ट्रीय राजनीति, राज्य राजनीति और स्थानीय राजनीति। राष्ट्रीय राजनीति आधुनिकतावादी तत्वों का प्रतिनिधित्व करती है और स्थानीय राजनीति परम्परावादी तत्वों का, परन्तु राज्य राजनीति में आधुनिकतावादी और परम्परागत दोनों ही प्रकार के तत्व देखे जा सकते हैं, यथार्थतः यह उपर्युक्त दोनों का समन्वय है। इस प्रकार भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य वे महत्वपूर्ण कड़ियां हैं जिनके द्वारा ग्राम, कस्बे एवं शहर की राजनीति को राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवस्था के साथ समन्वित करने का कार्य किया जाता है।

भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य राजनीति का विशेष महत्व है भारतीय लोकतंत्र की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि हम अपने विकास कार्यक्रमों जैसे सामाजिक और आर्थिक न्याय से सम्बद्ध कार्यक्रमों को किस गति से क्रियान्वित कर पाते हैं और संविधान द्वारा सभी प्रकार के विकास कार्यक्रमों से सम्बन्धित शक्तियां राज्यों को ही प्रदान की गयी हैं। भूमि सुधान कानून हो या शिक्षा में परिवर्तन लाने का कोई कार्यक्रम, परिवार नियोजन, महानिषेध, कुटीर उद्योगों में वृद्धि करना, व्यापक सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करना आदि व्यवहार में उपर्युक्त सभी कार्यों को राज्य सरकारों द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है, इसी कारण जनसाधारण की संसद और केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की अपेक्षा विधानसभा और मंत्रिमण्डल में अधिक रूचि होती है वस्तुतः राज्य राष्ट्रीय राजनीति की आधारशिलाएं हैं।

भारतीय इकाईयों के शासन के सम्बन्ध में भारतीय संघ की इकाईयों के अपने भिन्न–भिन्न संविधान नहीं हैं। यद्यपि कुछ राज्यों से सम्बन्धित विशेष प्रावधान किए गए हैं तथापि समस्त राज्यों को एक समान शक्ति प्रदत्त की गयी है। राज्यों की राजनीति को प्रभावित करने वाली भिन्न–भिन्न प्रवृत्तियों के कारण राज्य राजनीति का अध्ययन एक जटिल विषय है। राज्य राजनीति की प्रभावशीलता के ये वर्ष रहे हैं– 1964–70, 1977–79 तथा 1989–2002। राजनीति के अध्ययन को विशेष महत्व 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् प्राप्त हुआ, राज्य राजनीति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य अग्रांकित हैं[3] –

राज्य राष्ट्रीय राजनीति की आधारशिलाएं है, किन्तु एक ही सांविधानिक ढाँचे और समस्त भारत की राजनीति का भाग होते हुए भी विभिन्न राज्यों की प्रक्रिया समान नहीं है, क्योंकि राजनीतिक प्रक्रिया केवल कानूनी तथा सांविधानिक समस्याओं तक ही सीमित नहीं होती, औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही व्यवस्थाएं ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक आधारों के सन्दर्भ में एक दूसरे को प्रभावित करती है। इसलिए यद्यपि सभी राज्य एक ही संविधान के अनुसार शासित हैं फिर भी उनकी राजनीति परस्पर सम्बद्ध तथा उनके सामाजिक मूल्यों में भिन्नता है अतः राज्यों की राजनीति का अध्ययन आवश्यक किन्तु जटिल कार्य है।

भारत में राज्यों की शासन व्यवस्था एवं केन्द्रीय शासन व्यवस्था का एक समान रूप है, चतुर्थ आम चुनावों से पूर्व एक ही राजनीतिक दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का केन्द्र एवं राज्यों में प्रभुत्व था, विपक्षी दलों की निर्बल स्थिति के कारण केन्द्रीय एवं राज्यों के स्तर पर दलीय समानता की स्थिति थी। विभाजन के उपरान्त नवोद्भिद् राष्ट्र के अस्तित्व में आने के पश्चात् एक सशक्त केन्द्र की भूमिका को राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए स्वीकार्य किया गया। मजबूत केन्द्रीय शासन एवं नेतृत्व तथा राष्ट्रीय राजनीति के मुद्दों पर अधिक ध्यान दिया गया, राज्यों में विविधता एवं विभिन्नता की प्रवृत्तियां विद्यमान थीं, परन्तु देश की राजनीति का एक इकाई के रूप में अध्ययन किया गया। राज्यों के मुद्दों को केवल उसी स्तर तक समझने का प्रयास किया गया, जहां तक वे राष्ट्र की एकता और अखण्डता प्रभावित करते थे।

चतुर्थ आम चुनाव 1967 के पश्चात् राज्यों के स्तर पर अनेक गैर कांग्रेसी सरकारों का गठन हुआ, दलीय व्यवस्था का नवीन स्वरूप सामने आया, 60 के दशक में ही अब तक की अपनायी गयी विकास प्रक्रिया के अन्तर्विरोध प्रकट होने लगे थे। विकास प्रक्रिया में विविध वर्गों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक ढाँचें के अन्तर्गत राजनीतिक प्रक्रिया को समझना आवश्यक हो गया था अतः विविध राज्यों के स्तर पर होने वाले विकास एवं घटनाओं तथा विभिन्न राज्यों की तुलनाओं से उक्त प्रक्रियाओं को समझा जा सकता था।

राज्य राजनीति के निर्धारिक तत्व –

राज्यों की राजनीति को प्रभावित करने अथवा उनकी राजनीति को निर्धारित करने में अनेक महत्वपूर्ण तत्वों का योगदान होता है। भारत के राज्यों की राजनीति को निर्धारित करने वाले तत्वों में से प्रमुख तत्व निम्न है[4] –

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, भारत के एक राष्ट्रीय ढ़ाँचे का अस्तित्व 1947 में आया। इससे पूर्व एक संस्कृति एवं समाज के रूप में भारतीयों में एक होने की भावना थी, परन्तु एक

राज्य के नागरिक होने की भावना नहीं थी। ऐतिहासिक दृष्टि से आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल में देश के अलग–अलग क्षेत्रों की राजनीतिक चेतना, व्यवहार और मूल्य तथा इसमें भाग लेने की प्रक्रिया भिन्न–भिन्न थी, कहीं पर पूर्ण राजतन्त्र था तो कहीं गणतन्त्र, कहीं लोकतंत्र। मध्ययुग में मुस्लिम शसकों तथा ब्रिटिश शासन काल में भी अलग–अलग क्षेत्रों की आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक दृष्टि से वैचारिक मूल्य एवं सामाजिक परिस्थिति भिन्न–भिन्न थी। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के सभी क्षेत्रों को एक राष्ट्रीय राज्य में सम्मिलित कर उसे एकरूपता प्रदान की गयी, राज्यों को प्रशासनिक सुविधा के आधार पर गठित किया गया और क्षेत्रीय असमानताओं को दूर करने का प्रयास किया गया।

परन्तु सदियों से चली आ रही विभिन्नता को दूर करना संभव नहीं था, इस अनेकता से भौगोलिक विभाजन अधिक दृढ़ होता है अतः ऐतिहासिक पृष्ठभूमि राज्य राजनीति की निर्धारक रही है।

भौगोलिक तत्व, भारत देश में भागौलिक अवस्थिति, जनसंख्या एवं अन्य दृष्टियों से विविधता परिलक्षित होती है। उत्तर एवं दक्षिण भारत के व्यक्ति भाषा, संस्कृति एवं रंगरूप की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं। भौगोलिक दृष्टि से पूर्वोत्तर भारत भी सांस्कृतिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों से भिन्न रहा है, दूसरी ओर विशाल जनसंख्या वाले राज्य भी हैं। भौगोलिक विविधता के कारण ही विविध राज्यों की भौगोलिक स्थिति में विविधता का प्रभाव उस राज्य की आर्थिक स्थिति तथा अपरोक्ष रूप से राजनीतिक स्थिति को प्रभावित करती है।

संवैधानिक तत्व, संविधान द्वारा जिस प्रकार के संघात्मक शासन की व्यवस्था की गयी है इसमें केन्द्रीय सरकार को राज्यों की अपेक्षा उच्च और राज्यों पर नियंत्रण की स्थिति प्राप्त है अतः केन्द्रीय शासन से राज्य राजनीति प्रभावित रहती है। संविधान द्वारा केन्द्र को विभिन्न क्षेत्रों में सशक्त भूमिका प्रदान की गयी है जिसके आधार पर राज्य राजनीति को प्रभावित किया जा सकता है। केन्द्र की सशक्त स्थिति के कारण राज्यों से सम्बन्धित अनेक मुद्दों जैसे, राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करना, मुख्यमंत्री एवं अन्य मंत्रियों के विरूद्ध जांच आयोग की स्थापना, राज्यों में राज्यपाल की नियुक्ति आदि मामलों में राज्य राजनीति की भूमिका स्पष्ट होती है। भारतीय संघीय ढ़ाँचे के रूप को निर्धारित करने वाले संविधान के प्रावधान से नियत केन्द्र एवं राज्यों के मध्य विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तिय सम्बन्धों ने, इसके अतिरक्त अन्य प्रावधान जैसे, अनुच्छेद 370 के अन्तर्गत जम्मू कश्मीर राज्य को विशेष दर्जा, कुछ अन्य राज्यों के लिए विशेष प्रावधान, स्वतन्त्रता के

पश्चात् राज्यपाल की केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में उनकी भूमिका ने राज्यों की राजनीति को प्रभावित किया है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्व, सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के विभिन्न राज्यों में कुछ अगड़े हैं जबकि अन्य पिछड़े, उसके अतिरिक्त जाति के तत्व का भी विविध राज्यों में भिन्न–भिन्न प्रभाव रहा है। जातियां भारत की विशिष्ट संस्थाएं हैं, जो सामाजिक सम्बन्धों को, विशेषतः ग्रामीण स्तर पर स्थिर व्यवस्था प्रदान करने में सहायक रही हैं। देश के अनेक क्षेत्रों में जातियों ने जनसमुदाय को संगठित करने, जनचेतना के प्रसार तथा दबाव समूहों का कार्य किया है, किन्तु जाति व्यवस्था भारतीय राजनीति का महत्वपूर्ण तत्व होते हुए भी देश के सभी भागों में जाति व्यवस्था की भूमिका समान नहीं है, विविध राज्यों में जाति समूहों की भूमिका पृथक्–पृथक् है। उत्तर भारत के राज्यों में उच्च जातियों की भूमिका का प्रभाव रहा है। किन्तु 90 के दशक में पिछड़ी जातियों के प्रभाव में वृद्धि परिलक्षित हुई है। महाराष्ट्र एवं पंजाब में मध्यम कृषक जातियां अधिक प्रभावशाली रही है, दक्षिण भारत विशेषतः तमिलनाडु में उच्च जातियों की तुलना में निचली जातियों ने संख्यात्मक दृष्टि से अधिकता के कारण राज्य राजनीति को अधिक प्रभावित किया है। विविध राज्यों के जातिगत समीकरण भिन्न–भिन्न है, जो उस राज्य की चुनावी राजनीति को प्रभावित करते हैं, इस प्रकार विविध राज्यों में जाति की भूमिका एक समान नहीं है।

सांस्कृतिक दृष्टि से कुछ राज्य वर्तमान में भी परम्पराजन्य मूल्यों को जारी रखे हुए हैं, जबकि अन्य राज्यों ने आधुनिक प्रवृत्तियों को आत्मसात किया है। प्रत्येक राज्य की राजनीति वहां की सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में विशिष्ट स्वरूप लिए होती है।

आर्थिक तत्व, किसी राज्य के आर्थिक संसाधनों, विकास की प्रवृत्तियों एवं औद्योगीकरण की स्थिति ने उस राज्य की राजनीति को प्रभावित किया है, देश के विविध राज्यों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं संसाधनों की भिन्नता के कारण विकास की प्रक्रिया में विविधता रही है।

विविध राज्यों में कृषि एवं औद्योगीकरण की भिन्न स्थिति ने राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित किया है, कृषि व्यवस्था की पृष्ठभूमि के स्वामित्व की व्यवस्था और व्यापकता सम्पूर्ण राष्ट्र में एक समान नहीं रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय देश के राज्यों में कहीं जमीदारी की व्यवस्था थी, तो कहीं रैयतवाड़ी भूमि के स्वामित्व की, भिन्न व्यवस्थाओं के कारण उत्पादन सम्बन्धों में भी विभिन्नता थी। महाराष्ट्र, तमिलनाडु एवं केरल में कृषक आन्दोलन का इतिहास रहा है।

पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र एवं उत्तरप्रदेश में कृषक वर्गों ने दबाव समूह का कार्य किया है तथा अपने हितों के लिए संगठित होते रहे हैं, इससे इन राज्यों की राजनीति एवं दलीय व्यवस्था प्रभावित हुई है।

औद्योगिक विकास की प्रवृत्ति एवं व्यापकता ने भी विविध राज्यों की राजनीति को प्रभावित किया है, जो राज्य औद्योगिक रूप से विकसित है, वहां यातायात संचार के साधनों, शिक्षा एवं तकनीकी ज्ञान, सेवाओं की उपलब्धियों के अधिक अवसरों के परिणामस्वरूप सामान्य जन राजनीतिक चेतना में अग्रणी रहे हैं। महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु एवं कर्नाटक के जिन क्षेत्रों में औद्योगीकरण का विकास हुआ, वहां श्रमिक वर्ग एवं ट्रेड युनियन गतिविधियों का उदय हुआ। इन दोनों में जाति सम्प्रदाय एवं धर्म का महत्व न्यून है, इन राज्यों में राजनीति के शक्ति के केन्द्र संस्थागत रहे हैं, इसके विपरीत भारत के जिन राज्यों में औद्योगिक विस्तार शून्य अथवा नगण्य था, वहां शिक्षा, रोजगार एवं तकनीकी विकास के अवसर कम उपलब्ध हुए फलस्वरूप राजनीतिक चेतना भी अपेक्षाकृत न्यून थी।

औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े राज्यों जैसे पूर्वोत्तर भारत के राज्यों एवं उड़ीसा, राजस्थान आदि में ट्रेड युनियन जैसी गतिविधियां बहुत कम हैं, इस स्थिति का कारण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी है। औपनिवेशिक काल में व्यापार एवं वाणिज्य का संकेन्द्रण कुछ क्षेत्रों में ही हुआ।

भारत के अन्य क्षेत्र औद्योगिक विकास की दृष्टि से पिछड़े रहे। स्वतन्त्रता के पश्चात् अपनायी गयी आर्थिक विकास की नीति ने इन क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने में कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं की है[5]।

भारत में 90 के दशक में आर्थिक सुधार अपनाये जाने के पश्चात् भी देश के सभी राज्यों में आर्थिक सुधार के लाभों का समवितरण नहीं हो पाया है। आर्थिक सुधार का जो अभियान 1991 में चलाया गया, उससे देश के सभी राज्य समान रूप से लाभान्वित नहीं हुए हैं। वर्तमान में एक और ऐसे राज्यों का समूह है जहां उदारीकरण एवं आर्थिक सुधारों के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की उच्च स्थिति है, दूसरी ओर ऐसे राज्य हैं जहां प्रति व्यक्ति आय की निम्न स्थिति, धीमी आर्थिक प्रगति, गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों का बढ़ता प्रतिशत, जनसंख्या की तीव्र वृद्धि एवं बढ़ती बेरोजगारी विद्यमान है। विगत एक दशक में महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली को आर्थिक सुधारों का जो लाभ प्राप्त हुआ है वह बिहार, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, राजस्थान, मध्यप्रदेश तथा

पूर्वोत्तर के राज्यों को नहीं मिला। निर्धनता एंव वर्गीय असमानता से उत्पन्न आर्थिक विषमता की दृष्टि से देश के विविध राज्यों की स्थिति भिन्न–भिन्न है।

आर्थिक तत्वों की भिन्नता से राज्य की राजनीति प्रभावित हुई है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न राज्यों की राजनीति स्वतन्त्र एवं स्वस्थ रूप से विकसित हो पाती है।

राजनीतिक तत्व, राज्यों की राजनीति को प्रभावित करने वाला सबसे महत्वपूर्ण तत्व राजनीतिक प्रवृत्तियाँ हैं, इन राजनीति तत्वों में विविध राज्यों की भिन्न दलीय व्यवस्था, केन्द्र एवं राज्यों में सत्तारूढ़ राजनीतिक दलों की स्थिति, प्रधानमंत्री एवं मुख्यमंत्रियों का व्यक्तित्व तथा केन्द्रीय नेतृत्व सम्मिलित है।

स्वतन्त्रता के समय ही विविध राज्यों में दलीय व्यवस्था की विविधता विद्यमान थी। कालान्तर में 1967 तक एक दलीय व्यवस्था के रूप में कांग्रेस की प्रमुखता अथवा एक दलीय प्रमुख दलीय प्रणाली की धारणा का प्रतिपादन किया गया किन्तु कांग्रेस के देश में विस्तृत आधार के पश्चात् भी कुछ क्षेत्रों में पहुंच नहीं थी, मद्रास, पंजाब एवं बंगाल जैसे राज्यों में गैर कांग्रेसी दलों का अस्तित्व था। उड़ीसा एवं असम आदि क्षेत्रों में आदिवासी समूहों की उपस्थिति के कारण कांग्रेस का विशेष प्रभाव नहीं था। अनेक राज्यों में 1967 के पश्चात् गैर कांग्रेसी दलों में चुनावी राजनीति के कारण जाति एवं दलीय प्रणाली के नवीन समीकरण सामने आए हैं। क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की संख्या भूमिका एवं प्रभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि होने से राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर दलीय व्यवस्था में विविधता उत्पन्न हुई जिसने राज्य राजनीति को प्रभावित किया है। अनेक राज्यों में दलीय व्यवस्था में विचारधारा का महत्व भी बढ़ा जैसे केरल, पं. बंगाल एवं त्रिपुरा में वामपंथी राजनीतिक विचारधारा का प्रचार, तमिलनाडु, पंजाब एवं जम्मू कश्मीर में जाति, धर्म अथवा भाषा के प्रश्नों को लेकर राजनीतिक दलों का शक्तिशाली होना भी दलीय प्रणाली का एक पक्ष था। चुनावों में जाति की भूमिका कुछ राज्यों में अपेक्षाकृत अधिक थी।[6]

देश के उत्तरपूर्वी सीमान्त क्षेत्रों तथा अनेक राज्यों आन्ध्रप्रदेश, बिहार, गुजरात, नवगठित छत्तीसगढ़ राज्य में आदिवासियों की जनसंख्या ने भी राज्यों की राजनीति को प्रभावित किया है। अपनी सामाजिक पहचान एवं सांस्कृतिक स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए आदिवासियों ने देश की राजनीति को प्रभावित किया है। उत्तरपूर्व के आदिवासी राज्यों में आदिवासियों के पृथक्तावादी आन्दोलनों ने गम्भीर रूप ग्रहण किया, सत्ता में भागीदारी के लिए इस प्रकार के आन्दोलनों ने राज्य राजनीति को प्रभावित किया है।

केन्द्र एवं राज्यों में पदासीन राजनीतिक दलों की अवस्थिति ने भी राज्य राजनीति को प्रभावित किया है। यदि केन्द्र में किसी राजनीतिक दल को बहुमत प्राप्त न हुआ हो,

गठबन्धन सरकार अस्तित्व में हो तो केन्द्रीय सरकार की राज्य की राजनीति को प्रभावित करने की भूमिका सीमित हो जाती है। संघीय स्तर पर 1978–79 में एवं 1990 के उपरान्त निर्मित गठबन्धित सरकारों के कालखण्ड में केन्द्र सरकार की राज्य सरकारों को निर्देशित करने की भूमिका सीमित थी। इस दौरान केन्द्र में सत्तारूढ़ सरकारों को समर्थन देने वाले अथवा सहभागी क्षेत्रीय दलों द्वारा अपने–अपने राज्यों के लिए सौदेबाजी की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है।

राज्य राजनीति को प्रभावित करने वाला प्रमुख वैयक्तिक तत्व भी है। प्रधानमंत्री के रूप में पं. जवाहरलाल नेहरू के करिश्मावादी तथा शक्तिशाली नेतृत्व एवं प्रभावशाली प्रधानमंत्रियों के व्यक्तित्वों के कारण राज्यों की राजनीति केन्द्र की अनुगामिनी रही है। स्वतंत्रता के पश्चात् जिन राज्यों के मुख्यमंत्रियों का व्यक्तित्व शक्तिशाली रहा तो उन्होंने राज्य राजनीति के शक्ति पुंज के रूप में भूमिका का निर्वाह किया था जैसे – बी.सी.राय, गोविन्द वल्लभ, कामराज, प्रताप सिंह कैरो, संजीव रेड्डी, मोहनलाल सुखाड़िया, ज्योतिबसु, फारूख अब्दुल्ला, चन्दबाबू नायडू, एम. करूणानिधि, मुलायम सिंह यादव, लालूप्रसाद यादव आदि।

उक्त तत्वों के अतिरिक्त विविध राज्यों में संसदीय संस्थाओं के कार्यकरण, दबाव समूहों की भूमिका, सरकारों की कार्यक्षमता तथा जनता की विकास प्रक्रिया में भागीदारी ने राज्य राजनीति को प्रभावित किया है।

राज्य राजनीति के विभिन्न रूप एवं काल –

स्वतन्त्रता के पश्चात् से वर्तमान समय तक राज्य राजनीति के विविध स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित हुए हैं, अतः कालखण्ड की दृष्टि से राज्य राजनीति के विभिन्न स्वरूप निम्न हैं –

प्रभाव शून्य काल (1947 से 1964), स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अपवाद स्वरूप केरल जैसे कुछ राज्यों को छोड़कर इस कालखण्ड में राज्यों में एवं केन्द्र में दोनों ही स्थानों पर कांग्रेस दल का प्रभूत्व तथा नेहरू के करिश्मावादी नेतृत्व ने राज्य राजनीति को निष्प्रभावी बना दिया। इस काल में केन्द्रीय नेतृत्व में मतभेद एंव राज्य स्तर पर गुटबन्दियां थी, परन्तु नेहरू के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण वे उजागर नहीं हुई। राज्य राजनीति में प्रभावशाली मुख्यमंत्री जैसे गोविन्द वल्लभ, बी.सी.रॉय, एस.के. पाटिल, कामराज, मोहनलाल सुखाड़िया आदि ने राज्य राजनीति को प्रभावित किया।

राज्य राजनीति के इस कालखण्ड में एक रचनात्मक कार्य सम्पन्न हुआ, वह भाषावार राज्यों का निर्माण था। सन् 1953 में भाषा के आधार पर आन्ध्रप्रदेश का गठन

किया गया और राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति की गयी, 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम लागू किया गया।

राज्य राजनीति की प्रभावशीलता का कालखण्ड (मई 1964 से जनवरी 1967), नेहरू के जीवनकाल के अन्तिम दिनों में भारत ने राज्य आधारित राजनीति में प्रवेश किया था। 1963 में कामराज योजना द्वारा केन्द्र ने राज्यों की राजनीति को पूर्णतः निर्देशित करने का असफल प्रयास किया। 1964 से 1967 तक की तीन वर्ष की अवधि में चीन के आक्रमण में भारत का पराजित होना, नेहरू के पश्चात् नेतृत्व चयन में राज्य राजनीति के नेताओं की भूमिका, कांग्रेस में तीव्र गुटबन्दी के कारण फूट एवं कांग्रेस से विभक्त होकर अन्य दलों का निर्माण, विरोधी राजनीतिक दलों का निर्माण, तमिलनाडु, पंजाब एवं असम राज्यों में क्षेत्रीयवाद की भावना के कारण राज्य राजनीति अधिक प्रभावशाली हुई। 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों का निर्माण हुआ।

राजनीतिक अस्थिरता का कालखण्ड (1967–1970), चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् लगभग आधे राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों का गठन हुआ, इस प्रकार की सरकारें मिली–जुली सरकारें थी। इस कालखण्ड में कांग्रेस का एकाधिकार समाप्त हुआ तथा मिली जुली अवसरवादी सरकारों में वैचारिक साम्यता होने के कारण जोड़–तोड़ एवं गुटबन्दी जारी रही। 1967 से फरवरी 1969 के चुनावों में दल बदल की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला तथा इस प्रवृत्ति के कारण पंजाब, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश एवं हरियाणा में राजनीति का विकृत स्वरूप उपस्थित हुआ। एक महत्वपूर्ण घटनाक्रम 1969 में हुआ जबकि प्रमुख राष्ट्रीय दल कांग्रेस दो भागों, सत्ता कांग्रेस एवं संगठन कांग्रेस में विभक्त हो गया।

केन्द्र एवं राज्य सरकारों के मध्य राज्यपाल की नियुक्ति, राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने, वित्तीय साधनों के विभाजन औद्योगिक विवादों के सम्बन्ध में राज्यों का दृष्टिकोण आदि मुद्दों पर तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई।

केन्द्र निर्देशित राजनीति (1971से 1976 तक), इस कालखण्ड में केन्द्र का प्रभावशाली प्रभुत्व रहा, 1972 के विधानसभा चुनावों में तमिलनाडु एवं केरल को छोड़कर कांग्रेस सभी राज्यों में सत्तारूढ़ हुई। राज्यों में प्रधानमंत्री की इच्छानुसार मुख्यमंत्री मनोनीत किए गए, राजस्थान में सुखाड़िया और आन्ध्रप्रदेश में ब्रह्मानन्द रेड्डी को ठोस बहुमत प्राप्त करने के पश्चात् भी त्यागपत्र देने के लिए विवश कर क्रमशः बरकतुल्ला खां और पी.वी. नरसिम्हाराव को मुख्यमंत्री पद पर आसीन किया गया। राज्य राजनीति में दल बदल एवं आन्तरिक गुटबन्दी जारी रही।

घटकवादी राजनीति का कालखण्ड, केन्द्र में प्रथम समय गैर कांग्रेसी दल की सरकार का गठन मोरारजी देसाई के नेतृत्व में हुआ। राज्य स्तर पर भिन्न–भिन्न राजनीतिक दलों की सरकार का प्रभुत्व था परन्तु तनाव जैसी स्थिति नहीं थी। अनेक राज्यों जैसे पंजाब, तमिलनाडु, पश्चिमी बंगाल, केरल, जम्मू कश्मीर द्वारा अधिक स्वायत्ता की मांग की गयी।

पुनः केन्द्र निर्देशित राजनीति का कालखण्ड (जनवरी 1980 से 1988 तक), जनवरी 1980 में पुनः केन्द्र में इन्दिरा कांग्रेस सरकार का गठन हुआ, सर्वप्रथम दल बदल के आधार पर हरियाणा और कर्नाटक राज्य में इन्दिरा सरकार को पदासीन किया इसके पश्चात् फरवरी 1980 में 9 राज्यों की विधानसभाएं भंग कर पुनः चुनाव करवाए गए, इन चुनावों में तमिलनाडु को छोड़कर सभी राज्यों में इन्दिरा कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ और केन्द्रीय नेतृत्व ने स्वेच्छा से मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति की।

असम एवं पंजाब में पृथकतावादी आन्दोलन से केन्द्रीय राजनीति प्रभावित हुई किन्तु इसके साथ ही इस दशक के उत्तरार्द्ध में अनेक क्षेत्रीय दल अपनी प्रभावशाली भूमिका में उभरे उदाहरण स्वरूप कर्नाटक में जनता पार्टी, आन्ध्रप्रदेश में तेलगुदेशम, जम्मू कश्मीर में नेशनल कांफ्रेन्स, असम, मिजोरम एवं हरियाणा में भी क्षेत्रीय दलों ने अपनी भूमिका में वृद्धि की।

राज्य स्तरीय दलों का युग (1989–2004), इस कालखण्ड में क्षेत्रीय दलों के प्रभाव में वृद्धि हुई, असम, मिजोरम एवं हरियाणा के चुनावों में स्थानीय दलों को सफलता प्राप्त हुई। 1989 में नवीं, 1996 में ग्यारहवी, 1998 में बारहवीं, 1999 में तेरहवीं तथा 2004 में सम्पन्न चौदहवीं लोकसभा के चुनावों में क्षेत्रीय दलों और उनके नेताओं के महत्व में वृद्धि हुई। इन चुनावों में संघीय स्तर पर किसी एक राष्ट्रीय दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त न होने के कारण क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के समर्थन से गठबन्धित सरकारों का निर्माण हुआ और 1989 से भारतीय राजनीति में गठबंधन सरकारों का दौर प्रारम्भ हुआ। क्षेत्रीय नेता चन्द्रबाबू नायडू, जे.के. मूपनार, मुलायमसिंह यादव, शरद यादव, मायवती, बाल ठाकरे आदि ने केन्द्र की राजनीति में प्रमुख भूमिका प्रस्तुत की। वर्तमान में भारतीय संघ के अनेक राज्यों उत्तरप्रदेश, बिहार, जम्मु कश्मीर, महाराष्ट्र, हरियाणा, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, पं. बंगाल तथा असम में राज्य स्तरीय दलों की सरकारें निर्मित हो रही है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् वर्तमान समय तक भारत अर्द्ध शताब्दी की यात्रा तय कर 21वीं सदीं में प्रवेश कर चुका है। आज भारत देश एक जीवन्त उन्नति की ओर निरन्तर अग्रसर राष्ट्र के रूप में गतिमान है, अनेक अन्तर्विरोधों, तनावों, अवरोधों एवं विविधताओं के

बावजूद भारत का लोकतांत्रिक ढ़ाँचा अविचल रहा, यद्यपि पिछले 5 दशकों के कालखण्ड में भारत की राजनीतिक व्यवस्था के समक्ष अनेक संकट उत्पन्न हुए हैं, इन संकटों की पृष्ठभूमि में यदा–कदा भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की पुनर्रचना एवं अन्वेषण की मांग के स्वर उठते रहे। एक दशक से समसामयिक भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के क्षितिज पर उभरे नवीन प्रश्नों के सन्दर्भ में राजनीतिक संस्थाओं को प्राणवान बनाने की आवश्यकता अनुभूत की जा रही है। इसी संदर्भ में 'राज्यों की राजनीति' महत्वपूर्ण प्रसंग बनकर उभरी है अतः प्रस्तुत शोध को हम निम्नांकित परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करने का प्रयास करेंगे।

भारत में राज्यों की राजनीति, ऐतिहासिक एवं अवधारणात्मक परिप्रेक्ष्य, अंग्रेजों के शासन के अन्तर्गत भारत दो भागों में विभाजित था, ब्रिटिश भारत एवं देशी रियासतें, ब्रिटिश भारत पर अंग्रेजों का प्रत्यक्षतः पूर्ण नियंत्रण था, किन्तु देशी रियासतों के सम्बन्ध में उनकी नीति समय–समय पर परिवर्तित होती रही। अंग्रेजों के अनुसार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देशी रियासत एक सम्प्रभू राजनीतिक इकाई का स्वरूप धारण कर लेगी तथा अपने राजनीतिक भविष्य के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय लेगी, वही निश्चित करेगी कि भारत में सम्मिलित हुआ जाए अथवा पाकिस्तान में या स्वतन्त्र रहा जाए।

सरदार वल्लभ भाई पटेल के अथक प्रयासों के फलस्वरूप देशी रियासतों ने भारतीय संविधान को लागू करना और शासन सम्बन्धी संदर्भो में दूसरी रियासतों से मिलकर विस्तृत इकाईयां बनाना स्वीकार किया। सरदार पटेल ने भारत स्थित 552 देशी रियासतों के भविष्य का निर्णय तीन प्रकार से किया –

छोटी रियासतों का विलय, सरदार पटेल ने अनेक छोटी–छोटी रियासतों का विलय कर दिया जैसे 1947 में उड़ीसा एवं छत्तीसगढ़ की 39 रियासतों के विलय पर वार्ता की, जून, 1948 में गुजरात की 289 रियासतें बम्बई में सम्मिलित की गई।

रियासतों का केन्द्रशासित प्रदेशों में संगठन, हिमाचल प्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, कच्छ, विलासपुर, त्रिपुरा, मणिपुर तथा दूसरे अनेक क्षेत्रों को एकीकृत करके इन्हें केन्द्रशासित क्षेत्रों का स्वरूप देने की रणनीति अपनाई।

राज्यों के संघ, अनेक रियासतों को मिलाकर उनके संघ निर्मित किए गए, उदाहरणार्थ 28 फरवरी, 1948 को अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली रियासतों के सम्मिलन से मत्स्य संघ बनाया गया। 275 विभिन्न प्रकार की रियासतों को संघ में संगठित किया गया, सौराष्ट्र, मध्यभारत, पटियाला, पूर्व पंजाब राज्यों का संघ, राजस्थान तथा ट्रावनकोर कोचीन।

राज्य पुनर्गठन आयोग – स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में भाषा के आधार पर प्रान्त निर्मित करने की मांग पर्याप्त बलवती हो गयी थी। सन् 1948 में भाषाई प्रान्त समिति या दर समिति नियुक्त की गयी, इसके पश्चात् जेवीपी समिति बनायी गयी, इस समिति के सदस्य पं. जवाहरलाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल,और डॉ0 पट्टाभिसीता रमैया थे। आयोग की सिफारिशों के आधार पर तत्कालीन 28 राज्यों के स्थान पर 16 राज्य गठित करने की व्यवस्था की गयी। 29 दिसम्बर, 1953 को राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की गयी और आयोग की रिपोर्ट के आधार पर राज्य पुनर्गठन अधिनियम 1956 लागू किया गया।

केन्द्र राज्य सम्बन्ध – संघात्मक संविधान का एक प्रमुख अनुलक्षण केन्द एवं राज्यों के मध्य शक्तियों का वितरण है। संघात्मक संविधान के अनुसार संघ एवं राज्यों में शक्तियों का वितरण ऐसी रीति से किया गया है जिससे दोनों अपने–अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र हों, इसके साथ एक दूसरे के सहयोगी भी हों। भारतीय संविधान में देश के शासन के आधारभूत ढाँचे के रूप में परिसंघीय प्रणाली को स्वीकृत किया गया है तथा संघ एवं राज्य दोनों ही संविधान से प्राधिकार प्राप्त करते हैं, दोनों समान रूप से संविधान द्वारा अधिरोपित मर्यादाओं के अधीन है।[7]

डॉ0 अम्बेडकर ने भारतीय संघवाद को स्पष्ट किया है कि ''यह केन्द्र में केन्द्रीय तथा राज्य में राज्य सरकार की स्थापना कर शासन के दो स्तर स्थापित करता है। जिनमें से प्रत्येक अपने क्षेत्र में संविधान द्वारा नियत सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करते हैं।''[8]

भारतीय संविधान के भाग–XI में केन्द्र राज्य सम्बन्धों का विस्तृत और स्पष्टता के साथ वर्णन है केन्द्र राज्य सम्बन्धों को 3 भागों में विभाजित किया है –

विधायी सम्बन्ध – अनु. 245 से 255

प्रशासनिक सम्बन्ध – अनु. 256 से 263

वित्तीय सम्बन्ध – अनु. 264 से 282

केन्द्र और राजस्थान राज्य की व्यावहारिक राजनीतिक पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि 1977 तक केन्द्र व राजस्थान में कांग्रेस दल की सरकार रही, 1977 से 1980 दोनों ही स्थानों पर जनता पार्टी की सरकार रही, 1980 से 1989 पुनः केन्द्र व राजस्थान में कांग्रेस दल का शासन रहा किन्तु 1990 के पश्चात् 2008 तक दोनों स्थानों पर विपरीत दलों की सरकार रहीं अर्थात् जब केन्द्र में कांग्रेस का शासन रहा तब राजस्थान में भाजपा का तथा जब केन्द्र में भाजपा का शासन रहा तब राजस्थान में कांग्रेस का शासन रहा। राजस्थान में वर्तमान समय तक चार बार 1967, 1977, 1980, 1992 में राष्ट्रपति शासन लग चुका है।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल एवं गठजोड़ रचना

भारतीय राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत विकसित दलीय प्रणाली और गठजोड़ रचना का यह अध्ययन एक पार्टी के वर्चस्व वाली प्रणाली से लेकर गठजोड़ सरकारों के युग तक फैला हुआ है। सिद्धान्ततः तीन मुख्य तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं –

प्रथम, लोकतन्त्र का सार तत्व मुख्यतः गठजोड़ रचना है, चाहे वह किसी एक पार्टी की सरकार के भीतर कार्य कर रहा विभिन्न समुदायों, हितों राजनीतिक प्रवृत्तियों और विचारधाराओं का गठजोड़ हो या दो या दो से अधिक दलों का आपसी गठजोड़ हो। लोकतन्त्र में राजनीति गठजोड़ रचना से संचालित होती है और दलीय प्रणाली उसी के अनुसार बनती बिगड़ती रहती है। द्वितीय, भारत में दलीय प्रणाली पश्चिमी शैली में हित आधारित समूहों के राजनीतिक दावों के रूप में विकसित नहीं हुई है। तृतीय, दलीय प्रणाली का विकास तीन चरणों से गुजरता है, पहले चरण में साठ के दशक के आखिर तक कांग्रेस एक वर्चस्व वाली पार्टी के तौर पर हावी रही, दूसरे चरण में एक पार्टी के वर्चस्व के स्थान पर वर्चस्व के लिए बहुदलीय प्रतिस्पर्धा होने लगी, तीसरे चरण में बहुदलीय प्रतियोगिता राज्य व्यवस्था को उत्तरोत्तर खुली गठजोड़ राजनीति और परिणामस्वरूप गठजोड़ राजनीति की ओर धकेलती चली गई।[9]

दलीय प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं –

राजनीतिक दल प्रणाली से सम्बन्धित सामान्य संदर्भ से भारत की विशिष्ट दलीय प्रणाली विकसित हुई जिससे सहमति एवं असहमति की संरचनाएं निर्मित हुई।

भारत में स्वतंत्रता से पूर्व एक राजनीतिक केन्द्र था, जो कि स्वतन्त्रता के दशकों पूर्व उभरा था। इस केन्द्र की अभिव्यक्ति भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में होती है। एक सामाजिक संरचना के रूप में इसमें मुख्यतः उच्च जातियों से आए शिक्षित लोग थे। कांग्रेस से ही अनेक विपक्षी दल निकले, स्वतन्त्रता से पूर्व कांग्रेस में गुटबाजी थी। जैस, नरमदल, गरमदल। स्वतन्त्रता के पश्चात् कांग्रेस के अन्दर निहित गुट मुखर एवं सुदृढ़ हुए जिससे कि विपक्ष की रचना हुई।

राजनीतिक असहमति, राजनीतिक केन्द्र में होने वाले बिखराव की अभिव्यक्ति थी ना कि सामाजिक व आर्थिक परिधि में सक्रिय हितों की अभिव्यक्ति। यह असहमति संसदीय लोकतन्त्र में वयस्क मताधिकार के द्वारा व्यक्त होती थी।

असहमति की प्रक्रिया का यह विश्लेषण भारतीय राजनीति की एक अन्य विशेषता पर प्रकाश डालता था, सरकार, सरकारी पार्टी के होडरत धड़ों, विपक्षी दलों, और उनके भी सक्रिय धड़ों का अस्पष्ट और परस्पर व्यापी विभेद। प्राधिकार और विपक्षी दोनों की

संरचनाएं बिखराव और टूटन के अंदेशे से ग्रस्त रहती थीं। सरकार और विपक्ष में कोई विभाजक रेखा नहीं थी, शासक वर्ग की रचना दोनों मिलकर करते थे। इसी प्रकार सरकार और पार्टी के मध्य भी कोई विभाजक रेखा खींचना कठिन कार्य था।

अभिजनों की इस ढीली निरन्तरता को सरकारी सत्ता और सरकारी पार्टी का बहुस्तरीय अधिकार,सुशासन और संरचना प्रदान करता था। एक जैसी पृष्ठभूमि से आने के कारण ये अभिजन एक से नजरिये और एक से विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य से ग्रस्त रहते थे। तत्कालीन सरकारी ढाँचे के सम्पर्क में रहना एक मजबूरी थी। राजनीतिक प्रणाली का अंग बने रहने के लिए आवश्यक था कि धड़ों और पार्टियों की पहचान बनी रहे अन्यथा एक समय विशेष में असरदार रही ताकतें निष्प्रभावी हो जाती थी, यही कारण था कि पार्टियां अपनी संरचना में कमजोर होने के बावजूद किसी न किसी प्रकार अपना अस्तित्व बनाए रखती थी। इसी तथ्य से यह विरोधाभास समझा जा सकता है कि अपने मध्य नेताओं की आवाजाही बने रहने के बाद भी भारतीय राजनीतिक दल अमेरिकी दलों की अपेक्षा अधिक सुशासित क्यों लगते थे। चूंकि सरकार प्रत्येक राजनीतिक आयाम के केन्द्र में रहती थी, इसलिए चाहे पक्ष में हो या विपक्ष में उसके सम्पर्क में रहने वाली शक्तियां ही टिक पाती थी।[10]

उपर्युक्त कारणों से भारत में खुली राजनीतिक प्रणाली अस्तित्व में आयी, जिससे नवीन राजनीतिक दलों का निर्माण हुआ वरन् नेतागण एक राजनीतिक दल से दूसरे राजनीतिक दल में आते जाते रहे। सरकारी दल व विपक्षी दलों के अंसतुष्ट समुहों के मध्य अन्योन्यक्रिया होती रहती थी। विपक्षी दलों ने ना केवल सरकारी दलों का विकल्प प्रस्तुत किया वरन् वे निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने लगे, सरकारी दल की विधानमण्डल में अलोचना कर जनता को जाग्रत करने का कार्य करने लगे। 1967 तक विपक्षी दल के अभाव के कारण कांग्रेस के अन्दर स्थित असंतुष्ट समुह ही विपक्षी की भूमिका निभाने लगे।

दलीय प्रणाली का खुलापन पार्टियों की गतिविधियों से परे जाता था, इस खुलेपन के कारण सहभागिता की विचारधारा के विभिन्न पहलुओं को बढ़ावा मिलना स्वाभाविक ही था। जिन्हें संस्थागत माध्यमों से अपनी आवाज उठाने का अवसर नहीं मिलता था, वे गैर संवैधानिक तरीकों से अपना–अपना असंतोष व्यक्त करते थे। इस प्रकार विरोध प्रदर्शन की राजनीतिक संस्कृति विकसित होती थी, जिसे एक तरह की वैधता भी प्राप्त थी। राष्ट्रीय आन्दोलन से प्राप्त हुई विरोध प्रदर्शन की विरासत का असर भी था, उसके बाद से विरोध प्रदर्शन की राजनीतिक संस्कृति में नए–नए तरीके और जुड़ गए थे। लोकतन्त्र की अवधारणा कुछ–कुछ अस्पष्ट होती है, इसलिए जनता के नाम पर किए जाने वाले विरोध

प्रदर्शन को न्याय संगत ठहराना आसान होता है। विरोध प्रदर्शनों का अपना महत्व था और सरकार इनके प्रति संवेदनशील थी, जहां सरकार इनके प्रति सख्त रवैया अपनाती थी वहां उसकी वैधता का क्षय होने लगता था।[11]

राजनीतिक दलों में अवसरवादिता की प्रवृत्ति पाई जाती है, एक दल की प्रान्तीय और राष्ट्रीय शाखा एक दूसरे के विरूद्ध कार्य करती है, विभिन्न क्षेत्रों की सामाजिक परिस्थितियां और समस्याएं भिन्न–भिन्न होने के कारण उन्हें स्वायत्ता प्रदान करनी पड़ती थी। एक ही दल एकस्तर पर तो शासक दल एवं दूसरे स्तर पर विपक्षी दल के रूप में परिलक्षित होता था। एकमात्र कांग्रेस पार्टी ही राष्ट्रीय पृष्ठभूमि व विशाल जनाधार के कारण एकीकृत छवि रखती थी।

भारतीय राजनीति दलों में करिश्माई व्यक्तित्वों की भूमिका भी प्रभावी रही है, स्वतन्त्रता के पश्चात् पं. जवाहरलाल नेहरू, इंदिरा गांधी तथा 1989 के पश्चात् अटल बिहारी वाजपेयी, सोनिया गांधी आदि।

कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य दलों में बिखराव की समस्या थी किन्तु 1967 के पश्चात् कांग्रेस के घटते हुए वर्चस्व से उनकी शक्ति का संचार हुआ। कांग्रेस भी अब पूर्व की तरह अपराजेय शक्ति नहीं थी, उसके वर्चस्व को संगठित विपक्ष द्वारा चुनौती दी जाने लगी।

अन्य पार्टियों के लिए इसके दो महत्वपूर्ण परिणाम उभरकर समाने आए, एक ओर तो उनके भीतर राजनीतिक प्रणाली में बेहतर भागीदारी का अहसास उत्पन्न हुआ, उन्हें लगा कि इस व्यवस्था में उनका भी कुछ दाँव पर लगा है, और इससे विपक्षियों के अतिवादी रवैये और मतभेद का भी काफी हद तक शमन हुआ। दूसरी ओर तरह–तरह की हित आधारित पृष्ठभूमियों और विचारधाराओं की पार्टियों के उभरने से भारतीय राजनीति में मुद्दा आधारित टकराव की संभावनाएँ बढ़ गई।कुछ विशिष्ट नीतिगत आयामों पर राजनीतिक विवाद बढ़ने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई और कुल मिलाकर राजनीति की शैली अधिक समस्या उन्मुख हो गई, परिणामस्वरूप व्यवस्था में जोर सरकार की कार्य प्रणाली को कसौटी पर कसने का होने लगा।[12]

राजस्थान के राजनीतिक दलों को व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखें तो ज्ञात होगा कि 1952 के प्रथम आमचुनाव से ही राजस्थान में अनेक दल थे, उदाहरण स्वरूप कांग्रेस, जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद् आदि। स्वतन्त्रता के पश्चात् 1977 से 1979 के जनता शासन को छोड़कर राजस्थान में 1990 तक कांग्रेस का वर्चस्व रहा है, 1984 तथा 1985 के क्रमशः लोकसभा एवं विधानसभा चुनावों में कांग्रेस को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि यह चुनाव इंदिरा गांधी की हत्या की पृष्ठभूमि में लड़े गए।

1989 के लोकसभा चुनाव में सम्पूर्ण परिदृश्य ही परिवर्तित हो गया। बोफोर्स काण्ड के कारण प्रदेश कांग्रेस को लोकसभा चुनाव में एक सीट भी प्राप्त नहीं हुई, उत्तरोत्तर क्रम में कांग्रेसजनों में व्याप्त गुटबन्दी, फूट, भ्रष्टाचार, लालफीताशाही, पक्षपात, भेदभाव तथा अकुशल शासन से कांग्रेस को बहुत नुकसान हुआ और इसका दिग्दर्शन विरोधी दलों की बढ़ती शक्ति तथा 1990 व 1993 के विधानसभा चुनाव परिणामों से होता है। 1990 से राजस्थान में गठबन्धन सरकार का दौर आरम्भ हुआ परन्तु भारत की तरह यह लम्बे समय तक नहीं रहा और राजस्थान की राजनीति शनैः–शनैः द्विदलीय (कांग्रेस व भाजपा) राजनीति की ओर अग्रसर हुई।

मुख्यमंत्री

भारतीय शासनिक ढ़ाँचे में राज्य स्तर पर संसदीय शासन व्यवस्था अपनायी गयी है, शासन व्यवस्था का यह ढाँचा संघीय सरकार के अनुरूप है। 'जिस प्रकार केन्द्र में राष्ट्रपति को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और प्रधानमंत्री को वास्तविक प्रधान, उसी भांति राज्य में राज्यपाल को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और मुख्यमंत्री को वास्तविक प्रधान।'[13]

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 164 के अन्तर्गत मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्य के सांविधानिक अध्यक्ष राज्यपाल के द्वारा की जाएगी तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल करेगा तथा ये मंत्री राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपना पद धारण करेंगे।[14]

राज्य राजनीति में मुख्यमंत्री की वास्तविक स्थिति अनेक तत्वों से प्रभावित होती है उदाहरण स्वरूप मुख्यमंत्री का व्यक्तित्व गुटीय राजनीति में इनके गुट की सक्रियता राज्य विधानसभा में मुख्यमंत्री की अवस्थिति और राज्य के विकासात्मक कार्यों को क्रियान्वित करने में रूचि, संघ में समान राजनीतिक दल की सरकार है अथवा नहीं, प्रधानमंत्री के साथ सम्बन्धों का स्वरूप राज्य की विधानसभा में स्वयं के दल को बहुमत है या गठबन्धित सरकार।

राजनीतिक परिस्थितियों के साथ मुख्यमंत्री के स्वयं के व्यक्तित्व में मुख्यमंत्री पद की स्थिति को प्रभावित किया है, इस सम्बन्ध में प्रमुख तथ्य निम्न है,

सुदृढ़ प्रभावशाली नेता जब मुख्यमंत्री पद पर आसीन हुए, तब मुख्यमंत्री की स्थिति प्रभावशाली रही। शक्तिशाली मुख्यमंत्रियों में पंजाब के प्रताप सिंह कैरों, हिमाचलप्रदेश के यशवन्त सिंह, जम्मू कश्मीर के शेख अब्दुल्ला, राजस्थान के मोहनलाल सुखाड़िया एवं भैरोसिंह शेखावत, तमिलनाडु के अन्नादुरई, एम.जी. रामचन्द्रन, पश्चिम बंगाल मे विपिनचन्द्र

रॉय एवं ज्योति बसु, केरल के ई.एस. नम्बूदरीपाद, आन्ध्रप्रदेश के एन.टी. रामाराव आदि ने राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया है।

दुर्बल मुख्यमंत्रियों में ऐसे व्यक्ति आते हैं जिनकी नियुक्ति प्रधानमंत्री या शीर्ष नेतृत्व द्वारा हुई है, ऐसे मुख्यमंत्रियों के निर्णय पर शीर्ष नेतृत्व का नियंत्रण रहता है।

1967 के पश्चात् से भारतीय राजनीति में परिवर्तन आया है। अल्पमत एवं गठबन्धन सरकारों के मुख्यमंत्री को अनेक प्रकार के दबावों का सामना करना पड़ा है।

राजस्थान में 1989 के पश्चात् भैरोसिंह शेखावत, अशोक गहलोत एवं वसुन्धरा राजे सिन्धिया मुख्यमंत्री पद पर आरूढ़ हुए और तीनों ने ही मुख्यमंत्री के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए अपना वर्चस्व स्थापित किया।

जाति

जाति और लोकतांत्रिक राजनीति की अन्योन्यक्रिया को आमतौर पर 'राजनीति में 'जातिवाद' की संज्ञा दी गई है, परन्तु वास्तव में यह जातियों का राजनीतिकरण है। यह समझना आवश्यक है कि राजनीतिक और वैकासिक संस्थाएं कहीं भी शून्य में सक्रिय नहीं रहती, उन्हें भी समाज में अपना आधार तलाशना पड़ता है। इसके लिए वे या तो मौजूदा सांगठनिक रूपों का प्रयोग करती हैं, या इन रूपों को मिला–जुला कर किसी नयी संरचना का आह्वान करती हैं और इस प्रकार सामाजिक आधार ग्रहण कर लेती हैं। जाति और आधुनिक संस्थाओं के मध्य हुई वास्तविक अन्योन्यक्रिया अनिवार्यतः चयनात्मक थी अर्थात् उसने जाति के कुछ पहलुओं का कुछ अन्य पहलुओं की अपेक्षा अधिक अतिक्रमण किया। उसने सर्वप्रथम जाति प्रथा की सत्तामूलक संरचना को आधुनिकीकरण की धारा में खींचा तत्पश्चात् आर्थिक लाभों के वितरण का समय आया, दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध था। आर्थिक लाभों के वितरण और जातिप्रथा की सत्ता सम्बन्धी संरचना में एक आंतरिक सूत्र था। इन दोनों के साथ तीसरा पहलू जुड़ा जातिगत चेतना और बोध का। जाति प्रथा के ये सभी परम्परागत घटक परिवर्तन की नयी प्रक्रिया के अंग बन गए, भारतीय जाति प्रथा और आधुनिक संसदीय राजनीति की अन्योन्यक्रिया ने समाज परिवर्तन की प्रक्रिया को जन्म दिया। जाति और राजनीति के इस मेल के कारण बिना किसी भारी उथल–पुथल के लोकतंत्र में आम जनता सक्रिय हुई और इस राज्य व्यवस्था को उसकी विशिष्ट पहचान प्राप्त हुई।[15]

संविधान में भारत को संघ राज्य ना कहकर 'राज्यों का संघ' कहा गया है। भारतीय संविधान व्यवस्था में राज्यों का विशेष महत्व उभकर सामने आ रहा है, क्योंकि वर्तमान युग विशेष रूप से 1989 के पश्चात् गठबन्धन राजनीति का युग है, भारतीय

परिदृश्य में अनेक छोटे–छोटे क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ जो कि राष्ट्रीय स्तर पर सरकार निर्माण में सहभागी रहे हैं, उदाहरणार्थ बसपा, सपा, शिवसेना, द्रमुक, अन्नाद्रमुक आदि। राज्यों में प्रभावशाली नेतृत्व उदित हुआ और मुख्यमंत्रियों ने केन्द्र को प्रभावित किया जैसे मायावती, जयललिता, नरेन्द्र मोदी इत्यादि। 1989 के पश्चात् मण्डल आयोग की रिपोर्ट लागू होने से भारतीय राजनीति में जातिवाद की प्रभावशीलता में पूर्वापेक्ष वृद्धि हुई, इन परिवर्तित परिस्थितियों में राज्य राजनीति का अध्ययन महत्वपूर्ण होगा।

शोध का उद्देश्य :–

प्रत्येक शोध कार्य कुछ उद्देश्य लेकर प्रारम्भ किया जाता है। शोधकर्ता अपने सम्पूर्ण शोध समय में अपने द्वारा विषय–वस्तु में चुने उद्देश्यों की सार्थकता सिद्ध करने के उद्देश्यों को आधार बनाते हुए शोध कार्य पूर्ण करता है। यहां शोधकर्ता ने निम्नलिखित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए शोध कार्य प्रारम्भ किया है –

1. राज्य राजनीति के विभिन्न आयामों का अध्ययन।
2. राज्य राजनीति के निर्धारक तत्वों का अवलोकन।
3. राज्य राजनीति के महत्व का परीक्षण करना।
4. राजनीतिक दलों की उत्पत्ति व विकास की समीक्षा करना।
5. विभिन्न राजनीतिक दलों का तुलनात्मक विश्लेषण करना।

प्रस्तावित शोध कार्य का महत्व –

भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य राजनीति का विशेष महत्व है भारत के लोकतांत्रिक ढ़ाँचे की सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि हम अपने विकास कार्यक्रमों को किस गति से क्रियान्वित कर पाते हैं, जनकल्याण एवं आधारभूत ढ़ाँचे से सम्बन्धित विविध कार्यक्रम जैसे :– निर्धनता उन्मूलन, शिक्षा में परिवर्तन, बाल विकास एवं स्वास्थ्य, समाज कल्याणकारी योजनाओं का निष्पादन, कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना, सिंचाई सुविधाओं की व्यवस्था करना, आदि कार्यों को राज्य सरकार द्वारा किया जाता है। वस्तुतः राज्य राष्ट्रीय राजनीति की आधारशिलाएं हैं। यद्यपि सभी राज्य एक ही संविधान द्वारा शासित हैं फिर भी उनकी राजनीति परस्पर सम्बद्ध तथा उसके सामाजिक मूल्यों में भिन्नता है। अतः भविष्य में यह राजनीति शास्त्र के अनुसंधानकर्ताओं के लिए महत्व का सिद्ध होगा, जो कि निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट है –

1. राज्य राजनीति की अवधारणा को समझा जाएगा।
2. राज्य राजनीति की उभरती हुई प्रवृत्तियों से विद्यार्थी लाभान्वित हो सकेंगे।
3. राज्यों के राजनीतिक मुद्दों, उनके विवाद एवं समाधान को विद्यार्थी जान पाएंगे।

4. सामान्यतः राज्य राजनीति से सम्बन्धित साहित्य का अभाव पाया जाता है अतः यह शोध राजनीति विज्ञान के छात्रों के लिए विशेष महत्वपूर्ण होगा।
5. संभवतः यह शोध राज्य राजनीति को एक स्वायत्त विषय स्थापित करने में एक चरण साबित होगा।

परिकल्पना :–

वर्तमान शोध में शोधकर्ताओं की जिन परिकल्पनाओं को आधार मानते हुए यह शोध कार्य किया जा रहा है। इनके आधार पर यह अपनी परिकल्पनाओं को स्थापित कर सकेगा या नहीं, इसका उत्तर भविष्य के गर्भ में विद्यमान है, शोधकर्ता की निम्न **परिकल्पनाएं है :–**

1. वर्तमान समय में राज्य राजनीति बहुत महत्वपूर्ण हो गई है, राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए राज्य राजनीति का अध्ययन आवश्यक है क्योंकि क्षेत्रीय दल एवं क्षेत्रीय नेता अखिल भारत की राजनीति को प्रभावित कर रहे हैं। तब संभवतः भविष्य में राज्य राजनीति एक स्वायत्त विषय के रूप में विकसित हो सकता है या नहीं।
2. भारत में राज्य राजनीति का कोई एक प्रारूप नहीं है, अपितु राज्य राजनीति के अनेक प्रारूप उभरे हैं। ऐसी विविधतापूर्ण स्थिति में किसी एक विशिष्ट सैद्धान्तिक आमुख का विकास एक बड़ी चुनौती है।

शोध पद्धति :–

प्रत्येक राज्य एक बड़ी व्यवस्था अर्थात् भारत का एक भाग है, किन्तु फिर भी प्रत्येक राज्य का अपना भिन्न अस्तित्व है। अतः यह शोध कार्य सम्पूर्ण कार्य चिन्तन एवं विचार को केन्द्र बिन्दु मानकर किया जाएगा। इस अध्ययन में ऐतिहासिक, वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक एवं सेफोलोजी पद्वति के द्वारा घटनाओं को समग्र एवं वास्तविक रूप में जानने का प्रयास किया जाएगा। सेफोलोजी पद्धति योगेन्द्र यादव द्वारा बतायी गई पद्धति है जिसके अन्तर्गत मतदान व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।

प्रस्तुत शोध कार्य में प्राथमिक एवं द्वितीयक श्रेणी, दोनों ही प्रकार की शोध सामग्री का परीक्षण किया जाएगा। प्राथमिक सामग्री के लिए सम्बन्धित विचारकों के लेखन का अध्ययन किया जाएगा। द्वितीयक सामग्री की श्रेणी में राज्य राजनीति पर हुए विभिन्न अध्ययन कार्यों की समीक्षा की जाएगी।

संदर्भ ग्रन्थ –

1. कोठारी, रजनी सं. दुबे, अभय कुमार – भारत में राजनीति कल और आज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ0 21
2. डॉ0 बसु, डी.डी. – भारत का संविधान, एक परिचय, वाधवा एण्ड कम्पनी, नागपुर 2001, पृ0 50
3. डॉ0 मंगलानी, रूपा – भारतीय शसन एवं राजनीति, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2005, पृ0 361, 362, 363
4. डॉ0 मंगलानी, रूपा – पूर्वोक्त, पृ0 364
5. देसाई, मेघानन्द – इण्डिया इमरजिंग कान्ट्राडक्शन ऑफ स्लो कैपीटेलिस्ट डवलपमेन्ट, रॉबिन ब्लैकबर्न (सम्पादित), एक्सप्लोजन इन सब कान्टिनेन्ट पैगविन बुक्स, 1975 पृ0 30 व 31
6. कौशिक, सुशीला – भारतीय शासन एवं राजनीति, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली, 1984 पृ0 800
7. डॉ0 बसु, डी.डी. – पूर्वोक्त, पृ0 321
8. पायली, एम.वी. – इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन, न्यूयार्क एशिया पब्लिशिंग हाउस, न्यूयार्क, 1962 पृ0 303
9. कोठारी, रजनी – पूर्वोक्त, पृ0 184
10. कोठारी, रजनी – पूर्वोक्त, पृ0 185
11. कोठारी, रजनी – पूर्वोक्त, पृ0 186
12. कोठारी, रजनी – पूर्वोक्त, पृ0 188
13. डॉ0 जौहरी, जे.सी. – इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स, विशाल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1974, पृ0 385
14. डॉ0 बसु, डी.डी. – पूर्वोक्त, पृ0 229
15. डॉ0 कोठारी, रजनी – पूर्वोक्त, पृ0 25

द्वितीय अध्याय
ऐतिहासिक एवम् अवधारणात्मक परिप्रेक्ष्य

भारत पर पश्चिम के प्रभाव को तीन चरणों में परिलक्षित किया जा सकता है, प्रथम चरण वह था जबकि 15वीं, 16वीं एवं 17वीं शताब्दी में पुर्तगालियों, डचों, फ्रांसीसियों एवं अंग्रेजों ने अधिकार के लिए चौकियाँ स्थापित की, द्वितीय चरण में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने वर्चस्व की स्थापना की दृष्टि से कभी संधियों तथा कभी युद्धों की राजनीतियों का प्रयोग कर कमजोर मुगल साम्राज्य को, पश्चिम में पेशवाओं और मराठाओं को, दक्षिण में मैसूर के सुल्तान को, हैदराबाद में निजाम को और उत्तर में सिखों को अपने अधीन किया। तृतीय चरण में 1857 के संघर्ष के पश्चात् ब्रिटेन ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत का शासन हस्तगत कर प्रतीकात्मक रूप से ब्रिटेन की महारानी को भारत की साम्राज्ञी बनाया।

अंग्रेजों के शासनकाल में भारत राजनीतिक दृष्टिकोण से दो भागों में विभाजित था–

ब्रिटिश भारत जिसका नियंत्रण ब्रिटिश क्राउन तथा उसके प्रतिनिधि गवर्नर एवं गवर्नर जनरल द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता था।

देशी रियासतें जो देशी नरेशों द्वारा नियंत्रित एवं प्रशासित होती थी और जो आन्तरिक प्रशासन की दृष्टि से स्वतन्त्र थी।

यद्यपि 1857 का स्वाधीनता संग्राम असफल रहा किन्तु इस क्रान्ति से जनता में स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रबल अभिलाषा जागृत हो चुकी थी, अतः इसी क्रम में संवैधानिक सुधारों को प्राप्त करने के उद्देश्य से 1885 में ए.ओ. ह्यूम द्वारा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गयी।

अंग्रेजों की नीति के विरूद्ध धीरे–धीरे कांग्रेस एक सशक्त जन आन्दोलन बनकर उभरी तथा राजस्थान का भारतीय आन्दोलन से सक्रिय सम्पर्क फरवरी 1920 से प्रारम्भ हुआ, जबकि जमनालाल बजाज द्वारा राजपूताना–मध्य भारत सभा के अजमेर अधिवेशन का सभापतित्व किया गया। यह एक ऐतिहासिक घटना थी और इस प्रकार राजस्थान की प्रतिष्ठा राजनीति में स्थापित होने लगी जो कि सामन्ती वातावरण में अत्यन्त दुष्कर कृत्य था। महात्मा गाँधी एवं पंडित जवाहरलाल नेहरू की प्रेरणा से राजस्थान के लगभग सभी राज्यों में सामाजिक एवं राजनैतिक संगठनों का निर्माण होने लगा, अब उन संस्थाओं के सदस्य राजनैतिक दलों के सदृश्य कार्य करने लगे थे। प्रत्येक राज्य में उन्होनें प्रजामण्डल नामक संस्था को संगठित किया। सभी प्रजामण्डलों का एक ही ध्येय था जो ब्रिटिश भारत

की कांग्रेस का था और साधन भी वही था, जिसका उपयोग गाँधी जी करते थे अर्थात् सत्याग्रह।

इस प्रकार 1924–1939 का कालखण्ड जन राजनैतिक आन्दोलन तथा संस्थाओं की स्थापना का था, जिसका प्रमुख उद्देश्य राजस्थान के विभिन्न राज्यों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना था।

प्रमुख प्रजामण्डल एवं उनके द्वारा किए गए स्वतन्त्रता के प्रयास निम्न है :–

मेवाड़ प्रजामण्डल – 1937–38 के वर्षों में मेवाड़ में माणिक्यलाल वर्मा के प्रभावी नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, राज्य प्रशासन के विरोध के पश्चात् भी माणिक्यलाल वर्मा तथा इनके सहयोगियों ने अप्रैल 1938 में मेवाड़ प्रजामण्डल की स्थापना की जिसे राज्य ने शीघ्र ही गैर कानूनी घोषित कर दिया। प्रजामण्डल ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ किया तथा उत्तरदायी शासन, विधानसभा की स्थापना, नागरिक अधिकार आदि मुद्दों की मांग उठायी गयी।

जोधपुर प्रजामण्डल – जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सिद्धान्ततः यह स्वीकार कर लिया था कि देशी राज्यों की समस्याएं भी देश की महत्वपूर्ण समस्याएं हैं तो स्थानीय नेताओं को इससे बल मिला, उन्होंने 1934 में प्रजामण्डल की स्थापना की, जिसके संस्थापक मानमल, अभयलाल मेहता और छगनलाल चौपासनी थे। इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य जोधपुर रियासत में उत्तरदायी शासन की स्थापना एवं जनता के मौलिक अधिकारों का संरक्षण करना था। प्रशासन द्वारा भाषण देने तथा सभा करने पर पाबन्दी लगायी गयी, जयनारायण व्यास को देश से निष्कासित कर दिया गया तथा प्रजामण्डल को अवैध घोषित कर दिया गया। आन्दोलन समाप्त होने के स्थान पर तीव्रतर होता गया, अतः 1940 में सरकार ने समझौता कर लिया, इसके अनुसार लोक परिषद् को मान्यता दे दी गयी एवं राजनैतिक बन्दियों को कैद मुक्त किया गया।

जयपुर प्रजामण्डल – सरकार के दमनकारी कार्यों का विरोध करने तथा राजनैतिक जन–जागृति को बढ़ावा देने के उद्देश्य से 1931 में जमनालाल बजाज, कपूरचन्द पाटनी आदि ने जयपुर प्रजामण्डल को स्थापित किया। 13 नवम्बर 1938 को प्रजामण्डल की जनरल कमेटी ने राजनैतिक सुधार से सम्बन्धित निम्न प्रस्ताव पारित किए :–

वाक् अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता।

सरकार जनता के साथ सहयोग करे।

स्वास्थ्य सुविधाएं प्राप्त हो।

कृषि सुधार लागू किए जाएं।

बालकों को प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने हेतु विद्यालय स्थापित किए जाएं।
मृत्यु भोज, विवाह आदि पर होने वाले व्यय को कानून द्वारा कम किया जाए।

बीकानेर प्रजामण्डल – अन्य राज्यों के समान उत्तरदायी शासन की मांग एवं प्रजा के अधिकारों की प्राप्ति के लिए 1936 में मुक्ता प्रसाद, रघुवरदयाल गोयल तथा मेघाराम आदि के प्रयत्नों द्वारा बीकानेर में प्रजामण्डल की स्थापना की गयी। सरकार ने मण्डल के कार्यों में अडचन डालने के लिए बीकानेर सीक्योरिटी एक्ट में अनेक ऐसे नियम सम्मलित किए जिनके अनुसार किसी भी संस्था की वर्दी पहनना, किसी जुलुस या प्रदर्शन में सम्मिलित होना अपराध था। जनता में जन जागृति उत्पन्न करने के लिए राष्ट्रीय पत्र और पत्रिकाएं वितरित की गयी, परन्तु सरकार ने इस प्रकार के कार्यों को दबाने का प्रयास किया, अखिल भारतीय चारण सभा द्वारा संचालित खादी भण्डार को बन्द करवा कर उसके कर्मचारियों का राज्य निष्कासन कर दिया।

कोटा प्रजामण्डल – राष्ट्रीय आन्दोलन को गति प्रदान करने के उद्देश्य से पंडित नयनूराम शर्मा और प्रभूलाल विजय ने 1930 में मिश्र मण्डल स्थापित किया तथा 2 सितम्बर, 1931 को इसे हाड़ौती प्रजामण्डल में परिवर्तित कर दिया गया। अंग्रेजी सरकार के, हरिजनों को हिन्दुओं से पृथक् रखने के निर्णय के विरूद्ध गाँधीजी ने अनशन किया, कोटा में भी इसका प्रभाव परिलक्षित हुआ, जिसका हाड़ौती प्रजामण्डल ने आन्दोलन कर समर्थन किया। 1937 से 1940 तक बारां, मांगरोल व कोटा में प्रजामण्डल के अधिवेशन हुए जिसमें अनेक जनोपयोगी प्रस्ताव पारित हुए।

झालावाड़ में जन जागृति एवं प्रजामण्डल, महात्मा गाँधी के द्वारा प्रारम्भ किए गए असहयोग आन्दोलन (1921–31) का प्रभाव झालावाड़ पर भी हुआ, इसी संदर्भ में 1921 में पंडित रामनिवास शर्मा ने जन जागरण के उद्देश्य से 'सौरभ' नामक मासिक समाचार पत्र जारी किया। विभिन्न राज्यों के राजनैतिक आन्दोलन का प्रकाशन करके झालावाड़ की जनता को प्रेरित करने का प्रत्यन किया गया, इस जागृति के फलस्वरूप झालावाड़ की जनता वैधानिक सुधार हेतु आन्दोलन करने लगी। 1930 तक झालावाड़ में राजनैतिक हलचल नहीं हुई किन्तु 1931 में हाड़ौती प्रजामण्डल का झालावाड़ पर प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। पं. नयनूराम और गोपाललाल कोटिया के प्रयत्नों से झालावाड़ में जनजागृति होने लगी, इसके साथ ही यहां के नवयवकों ने 'मित्र मण्डल' नामक राजनैतिक संगठन की स्थापना की, 1940 में इस संस्था का रूपान्तरण प्रजामण्डल में हो गया। इस संस्था का उद्देश्य उत्तरदायी शासन की स्थापना था, इस कारण इसके सदस्यों ने गाँव–गाँव घूमकर

जनता में जनजागृति उत्पन्न की, हरिजन शिक्षा, खादी का प्रचार किया एवं बेगार और जागीरदार प्रथा का विरोध किया।

भरतपुर प्रजामण्डल – राजकीय अत्याचार के विरूद्ध निष्ठावान कार्यकर्त्ताओं ने 6 मार्च 1938 को प्रजामण्डल की स्थापना की। 21 अप्रैल 1939 को मण्डल ने सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया, 22 दिसम्बर 1940 को प्रजामण्डल व सरकार के मध्य समझौता हुआ। सरकार ने प्रजामण्डल का नाम परिवर्तित कर प्रजा परिषद् कर दिया। प्रजा परिषद् के तत्वावधान में भरतपुर में एक बड़ी सभा का आयोजन किया गया जिसमें मुख्य प्रस्ताव रखा गया कि राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना कर भ्रष्टाचार का अन्त किया जाए एवं निरक्षरता का निवारण किया जाए। परिषद् ने शनैः–शनैः अपने आन्दोलन को अधिक वृहद् एवं तीव्र बनाया तथा राजद्रोहात्मक भाषण दिए, इसके विरूद्ध राज्य सरकार ने अनेक नेताओं को गिरफ्तार कर लिया परन्तु प्रजा परिषद् की मांग पूर्ण उत्तरदायी शासन की बनी रही।

सिरोही प्रजामण्डल – सिरोही राज्य गुजरात के निकट होने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन से अधिक प्रभावित हुआ, 1938 में प्रजामण्डल की स्थापना हुई। राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं द्वारा प्रशासन में सुधार लाने, जागीरदारों की मनमानी पर अंकुश लगाने, भाषण की स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायी शासन की मांग की गयी।

उपरोक्त स्थानों के अतिरिक्त धौलपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, कुशलगढ़, प्रतापगढ़, शाहपुरा, जैसलमेर में भी जनजागृति उत्पन्न करने के लिए अनेक संगठनों की स्थापना की गयी।

राजस्थान में एक मात्र अजमेर ही केन्द्रशासित प्रदेश था यहां भी जनजागरण के प्रयास किए जो निम्न है –

अजमेर और जन आन्दोलन – ब्रिटिश सरकार के सीधे शासन के अन्तर्गत होने से अजमेर स्वतन्त्रता आन्दोलन के निकट सम्पर्क में रहा। देशी रियासतों की तुलना में जनोपयोगी संस्थानों को संचालित करने की यहां अधिक स्वतन्त्रता थी अतः जब सम्पूर्ण भारत में क्रान्ति की लहर उत्पन्न हुई तो विजयसिंह पथिक, रावगोपाल सिंह खरवा, रामनारायण चौधरी, रामचन्द्र नरहरि बापट, ज्वालाप्रसाद शर्मा आदि अजमेर के कर्मठ व कुशल कार्यकर्त्ताओं ने अपना संगठन निर्मित किया और क्रान्तिकारी कार्यों के द्वारा भारत के स्वातंत्र्य आन्दोलन के इतिहास में अपने लिए तथा अपने प्रमुख सहयोगियों के लिए स्थान प्राप्त कर लिया।

1920 में अजमेर में राष्ट्रीय गतिविधियां प्रारम्भ हो गई, मार्च 1920 को राजस्थान राजनैतिक परिषद् का द्वितीय अधिवेशन श्री मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ, इसमें

विदेशी वस्तुओं, वस्त्रों तथा मदिरा के बहिष्कार सम्बन्धी प्रस्ताव पारित हुए। यहीं से अजमेर में असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

1919 में वर्धा में स्थापित राजस्थान सेवा संघ को 1920 में अजमेर लाया गया जिसका उद्देश्य प्रजा की असुविधाओं का निवारण तथा उनके अधिकारों की नरेशों एवं जागीरदारों से मान्यता प्राप्त करवाना था। इसके प्रमुख कार्यकर्त्ता विजयसिंह पथिक, माणिक्यलाल वर्मा, रामनारायण चौधरी थे, जिन्होनें बिजौलिया आन्दोलन, बरड़ एवं नीमूचाणा काण्ड में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्रिटिश सत्ता संघ की गतिविधियों को खतरनाक समझती थी अतः सरकार ने अनेक कार्यकर्त्ताओं को देशद्रोह के आरोप में गिरफ्तार कर लिया। 1926 में हरिभाऊ उपाध्याय के नेतृत्व में अजमेर में सस्ता साहित्य मण्डल, खादी ग्रामोद्योग, हरिजन सेवा संघ, मजदूर संगठन, गाँधी आश्रम और गाँधी सेवा संघ की स्थापना की गयी।

रचनात्मक प्रवृत्तियों का कार्यक्रम संचालित हो ही रहा था कि 12 मार्च, 1930 को महात्मा गाँधी ने अपने प्रसिद्ध 'डाण्डी मार्च' का प्रारम्भ कर असहयोग आन्दोलन को पुनः आरम्भ किया, जिससे अजमेर में सभाओं का आयोजन, विदेशी वस्त्रों व मदिरा का बहिष्कार किया गया। सरकार ने आन्दोलन को गिरफ्तारियों एवं कारावास की कठोर यातनाओं से कुचलने का प्रयत्न किया, सैंकड़ों व्यक्ति सहर्ष कारावास गए, आन्दोलन बढ़ता ही गया, 1931 में गाँधी–इरविन समझौते के कारण आन्दोलन स्थगित कर दिया गया।

स्पष्ट है कि प्रजामण्डल स्थापना क्रम 1930 से प्रारम्भ हुआ एवं 1941 तक राजस्थान की प्रत्येक रियासत में प्रजामण्डल की स्थापना हो गयी।

इस अवधि में प्रजामण्डलों ने अनेक प्रकार से राजनैतिक आन्दोलन किए, कहीं सत्याग्रह हुआ, कहीं सत्याग्रहियों पर सरकार के द्वारा गोलियां चलाई गई क्योंकि कोई भी नरेश प्रशासन की शक्ति जनता को सौंपना नहीं चाहता था किन्तु प्रजामण्डलों द्वारा किए जाने वाले आन्दोलनों तथा जनता के कोलाहल से तंग आकर नरेशों ने उत्तरदायी शासन की चर्चा प्रारम्भ की। उसके पश्चात् भी राज्यों में प्रतिनिधिक, उत्तरदायी अथवा संसदीय शासन प्रणाली के स्वरूप के लिए कोई मजबूत प्रयास नहीं किए वस्तुतः शासन पर राज्यों का नियंत्रण बना रहा तथा प्रशासन पूर्णतया सरकार के प्रति उत्तरदायी रहा।

सभी रियासतों में प्रजामण्डल की स्थापना के पश्चात् भी वहां कोई वैधानिक सुधार नहीं हुआ वरन् 1930 से 1947 के मध्य रियासतें दुर्बल हो गयीं।

ब्रिटिश सरकार ने रियासतों में उत्तरोत्तर हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया, नरेश भी निश्चिन्त एवं अकर्मण्य हो गए। शासन व्यवस्था जर्जर होती जा रही थी, जनता का

अन्दोलन तीव्र होता जा रहा था तथा उत्तरदायी शासन की मांग बलवती होती गयी। भारत सरकार भी अनुभव करने लगी थी कि रियासतों में शनैः–शनैः कुछ प्रगति होना आवश्यक है, परन्तु सरकार यह भी जानती थी कि यदि शीघ्र ही शासन के स्वरूप में परिवर्तन किया जाएगा तो रियासत के लोग अधिक अधिकार की मांग करेगें, विवश होकर यदि कोई नरेश कुछ सुधार करने के लिए तत्पर हो तो सरकार भी देखती थी कि उसके पड़ौसी राज्य की स्थिति कैसी है। सरकार को इस तथ्य का भी अवलोकन करना था कि एक राज्य में सुधार हो और एक में नहीं तो एक राज्य उन्नत और एक पिछड़ा हुआ माना जाएगा एवं राजनैतिक विडम्बना की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। यही महत्वपूर्ण कारण था कि राजस्थान के राज्यों में वैधानिक सुधार नहीं हो पाया और ना ही जनता की उत्तरदायी शासन की मांग पूर्ण हो सकी। द्वितीय कारण यह था कि रियासतों के अधिकांश राजनीतिक एजेन्ट लोकतन्त्र के विरोधी थे, उनकी सहानुभूति नरेशों के साथ थी एवं वे राजतन्त्र को यथा स्थिति में रखना चाहते थे।

जब भोपाल के नवाब नरेन्द्र मण्डल के चांसलर बने तो उन्होनें राजनीतिक विभाग पर दबाव बनाया कि नरेशों के अधिकारों को सुरक्षित रखा जाना चाहिए, क्योंकि उन्हें भय था कि इंग्लैण्ड की सरकार कांग्रेस की शक्ति के आगे झुककर देशी राज्यों के अधिकारों को क्षति पहुंचा सकती है।[1]

ऐसा ही हुआ 26 जुलाई, 1946 को लार्ड एटली की घोषणा के अनुसार ब्रिटिश और देशी राज्यों को मिलकर यह सोचना होगा कि भारत को स्वतन्त्रता की दिशा में किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है, माउण्ट बैटन भारत आए और उन्होंने देखा कि कांग्रेस संयुक्त भारत और मुस्लिम लीग विभाजित भारत चाहती थी, अन्ततोगत्वा भारत को विभाजित कर पाकिस्तान बनाने का निर्णय लिया गया। 3 जून 1947 को भारत विभाजन की योजना की घोषणा की गयी, जिसमें 15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्रता देने तथा भारत के देशी राज्यों को सर्वोच्च अधिकारों को लौटा देना सम्मिलित था।

जब भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो देशी राज्यों को लौटाई गई सर्वोच्च सत्ता भारत की एकता एवं अखण्डता के लिए गम्भीर चुनौती बन गयी। अंग्रेजों का मानना था कि भारत से लौटते समय सर्वोच्च सत्ता भारत और पाकिस्तान को नहीं वरन् देशी राज्यों को ही लौटाएगें परन्तु इससे प्रत्येक देशी रियासत स्वतन्त्र सम्प्रभू इकाई बन जाएगी। रियासतों के पास 3 प्रकार के विकल्प थे, भारत में सम्मिलित हो जाएं या पाकिस्तान में अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व बनाएं रखें। इस कूटनीति के माध्यम से अंग्रेजी सरकार ने भारत देश के

ना केवल दो टूकड़े किए वरन् अनेक छोटे–छोटे भागों में विभक्त कर दिया। देशी रियासतों की संख्या 552 थी।

भारत विभाजन होने से लड़ाई दंगें तथा बंटवारे से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का निपटारा तो हुआ ही नहीं था कि देशी राज्यों की समस्या भी बड़ी विकट हो गई।

देशी रियासतों का एकीकरण, अन्तरिम विभाग ने 25 जून 1947 को देशी राज्यों का अलग विभाग स्थापित करने का निर्णय लिया, इसके अनुसार 5 जुलाई को सरदार पटेल को इस का अध्यक्ष और वी.पी.मेनन को मंत्री पद प्रदान किया। यह अत्यन्त ही जटिल कार्य था क्योंकि इसके साथ भारत देश की एकता एवं अखण्डता जुड़े हुए थे अन्यथा सम्पूर्ण राष्ट्र को बड़ी हानि उठानी पड़ सकती थी। स्थिति को स्पष्ट करने के लिए पटेल ने 5 जुलाई को एक वक्तव्य निकाला जिसमें नरेशों को संघ में सम्मिलित होने तथा सुरक्षा, विदेश नीति के विषय तथा यातायात हस्तान्तरित करने पर बल दिया गया था। पटेल ने साथ ही साथ उन्हें चेतावनी दी कि यदि कोई राजा सर्वोपरिता स्थापित करना चाहता है तो यह उसकी त्रुटि है, जिस सर्वोपरिता को ब्रिटिश सरकार त्याग रही है उसको नरेश ग्रहण नहीं कर सकते, सर्वोपरिता तो जनता में निहित है। वल्लभ भाई पटेल के इस वक्तव्य के पश्चात् भी हैदराबाद, कश्मीर, जूनागढ़, भोपाल, त्रावणकोर एवं जोधपुर ने सर्वोपरिता पर हस्ताक्षर नहीं किए।

राजस्थान की प्रमुख रियासत उदयपुर, जयपुर और बीकानेर उन रियासतों में थी जो सर्वप्रथम भारतीय संघ में सम्मिलित हुई, उदयपुर एवं बीकानेर ने बिना किसी हिचकिचाहट के अपने प्रतिनिधि संविधान सभा के लिए भेजे। उदयपुर से माणिक्यलाल वर्मा व बीकानेर से के.एम. पन्निकर संविधान परिषद् में गए, बीकानेर ने 7 अगस्त, 1947 को इन्स्ट्रूमेन्ट ऑफ एक्सेशन पर हस्ताक्षर किए इसके पश्चात् 15 अगस्त तक अनेक रियासतें भारत संघ में सम्मिलित हुई। इस कार्य के लिए पटेल ने बीकानेर की प्रशंसा की।

उपरोक्त रियासतों के अतिरिक्त राजस्थान में ऐसी रियासतें भी थी जो भारत के स्थान पर पाकिस्तान में मिलना चाहती थी, जैसे– जोधपुर, जैसलमेर एवं धौलपुर।

इसी प्रसंग में जोधपुर के महाराजा ने मि. जिन्हा से वार्ता की, मि. जिन्हा ने उन्हें कोरा कागज देकर कहा कि जो भी शर्त हो वे लिख दें, उस पर स्वीकृति दे दी जाएगी। इसी कारण वे भारत से सम्बन्ध जोड़ने में दुविधा में थे किन्तु सरदार पटेल, वी.पी.मेनन व माउन्ट बेटन के प्रयत्नों द्वारा जोधपुर महाराजा ने इन्स्ट्रूमेन्ट ऑफ एक्सेशन पर हस्ताक्षर कर दिए एवं भारतीय संघ में सम्मिलित हो गए।

पुनर्गठन का आधार, जब रियासतें भारतीय संघ में सम्मिलित होने के लिए तैयार थी तो प्रथम कार्य यह था कि उनको भारतीय विधान में किस प्रकार से समायोजित किया जाए तथा द्वितीय कार्य यह था कि छोटी–छोटी रियासतों की एक विशाल इकाई निर्मित की जाए और प्रत्येक इकाई में जनतंत्रीय शासन प्रणाली प्रारम्भ की जाए। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने पुनर्गठन का कार्य आरम्भ किया (A) कुछ राज्यों को उसने जुड़ी हुई सीमाओं वाले प्रान्तों में सम्मिलित कर दिया गया, (B) कुछ राज्यों को संघ सरकार ने अपने अधीन कर लिया, (C) कुछ राज्यों के संघ निर्मित कर दिए गए। राजस्थान में संघ विधि का अनुसरण किया गया।

राजस्थान के एकीकरण की प्रक्रिया – राजस्थान में 19 देशी रियासतें, 3 ठिकाने एवं अजमेर मेरवाड़ा का ब्रिटिश प्रान्त था, इन राज्यों का एकीकरण 5 चरणों में पूर्ण हुआ। प्रथम स्वरूप मत्स्य संघ था, जिसमें अलवर, भरतपुर, धौलपुर तथा करौली 4 राज्य सम्मिलित हुए, द्वितीय स्वरूप प्रथम राजस्थान संघ था, जो बांसवाड़ा, बूंदी, डूंगरपुर, झालावाड़, किशनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा व टोंक थे, तृतीय उदयपुर का प्रथम राजस्थान संघ में सम्मिलित होना था, चतुर्थ चरण वृहत्तर राजस्थान था जिसमें राजपूत राज्य जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर को सम्मिलित किया, पंचम चरण में मत्स्य संघ को वृहत्तर राजस्थान में समायोजित कर दिया।[2]

मत्स्य संघ, स्टेट मिनिस्ट्री इस तथ्य से अवगत थी कि धौलपुर, करौली, अलवर और भरतपुर आर्थिक दृष्टि से मिले हुए थे और इन चारों राज्यों को सम्मिलित कर इनका संघ निर्मित किया जा सकता था। इस सम्मिलन पर वार्ता करने के लिए चारों राज्य के राजाओं को आमंत्रित किया गया, उनके समक्ष संघ निर्माण का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया, अन्ततः चारों नरेश इस प्रस्ताव पर सहमत हो गए।

कन्हैयालाल मुंशी ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि इस क्षेत्र का नाम मत्स्य संघ रखा जाना चाहिए, शासकों ने तुरन्त स्वीकृति प्रदान की। इन राज्यों में अलवर महाराजा या भरतपुर महाराजा को राजप्रमुख होना चाहिए था किन्तु दोनों ही महाराजाओं के विरूद्ध जांच चल रही थी। अतः धौलपुर के महाराजा को जो इन राज्यों के शासकों में वरिष्ठ थे को राजप्रमुख बनाया। भरतपुर के महाराजा इससे सहमत थे परन्तु अलवर के महाराजा ने कठिनाई से स्वीकृति प्रदान की। 18 मार्च, 1948 को एन.वी. गॉडगिल जो तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री थे ने संघ का उद्घाटन किया, नए संघ का क्षेत्रफल 7589 वर्गमील तथा जनसंख्या 18,37,994 थी।

मत्स्य संघ के सम्मिलन के दौरान ही राजपूताना के छोटे राज्यों जैसे बांसवाड़ा, बूंदी, डूंगरपुर, झालावाड़, किशनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा एवं टोंक में अपने भविष्य को लेकर वार्ताओं का दौर प्रारम्भ हो चुका था। इन रियासतों के सम्मिलन से संयुक्त राजस्थान निर्मित हुआ। इसका सुझाव स्टेट मिनिस्ट्री द्वारा नहीं वरन् झालावाड़, डूंगरपुर और कोटा के नरेशों ने किया था, कोटा, झालावाड़ एवं डूंगरपुर के नरेश 3 मार्च, 1948 को दिल्ली में वी.पी. मेनन से मिले और इस प्रकार का प्रस्ताव उनके समक्ष प्रस्तुत किया और सरकार ने भी यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इन सभी रियासतों की जनसंख्या 23 लाख 34 हजार 220 थी, औसत आय 1 करोड़ 90 लाख एवं क्षेत्रफल 16,807 वर्गमील था। संघ का उद्घाटन 25 मार्च 1948 को तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री एन.वी गाडगिल ने कोटा दरबार हॉल में किया एवं राजप्रमुख कोटा के महाराव भीमसिंह को बनाया गया।

यद्यपि भारत सरकार ने निर्णय लिया था कि स्वतन्त्र होने पर भारत में वे ही रियासतें पृथक् अस्तित्व धारण कर सकती है, जिनकी वार्षिक आय 1 करोड़ रूपये तथा जनसंख्या 10 लाख या अधिक हो। इस दृष्टि से राजस्थान की 4 रियासतें थी, उदयपुर, जयपुर जोधपुर व बीकानेर परन्तु भारत सरकार उदयपुर को संयुक्त राजस्थान में मिलाना चाहती थी।

उदयपुर के दीवान एस.वी. रामामूर्ति से वी.पी. मेनन ने वार्ता की, रामामूर्ति ने सलाह दी कि सभी राज्य उदयपुर में सम्मिलित होने चाहिए, यह सुझाव शासकों द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। संयुक्त राजस्थान के उद्घाटन समारोह के 3 दिन के पश्चात् उदयपुर के महाराणा ने संघ में सम्मिलन होने का एक पत्र वी.पी. मेनन को भेजा। कोटा, डूंगरपुर और झालावाड़ राज्य उदयपुर के सम्मिलन पर सहमत हो गए। 11 अप्रैल, 1948 को सभी नरेशों ने विलय पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए, राजनीति महत्ता के कारण पण्डित नेहरू ने 18 अप्रैल 1948 को संघ का उद्घाटन किया।

द्वितीय राजस्थान संघ में चार विशाल राज्य सम्मिलित नहीं थे, सरदार पटेल ने उदयपुर की एक सभा में घोषणा की कि चार राज्य जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर नरेश राजस्थान संघ में मिलना चाहते है, इस प्रकार वृहद् राजस्थान का स्वरूप परिलक्षित होगा। जयपुर को राजधानी तथा महाराजा को राजप्रमुख चुना गया, उदयपुर के महाराणा को आजीवन महाराज प्रमुख चुना गया। 30 मार्च 1949 को वृहद् राजस्थान संघ का सरदार वल्लभ भाई पटेल द्वारा उद्घाटन किया गया।

30 मार्च, 1949 – राजस्थान के उद्घाटन के अवसर पर सरदार वल्लभभाई पटेल तथा मणिबेन पटेल के साथ राजस्थान के चार बड़े नेता – गोकुलभाई भट्ट, हीरालाल शास्त्री, जयनारायण व्यास तथा मणिबेन के पीछे सफेद टोपी में माणिक्यलाल वर्मा, सरदार पटेल और गोकुलभाई के बीच पटेल के सचिव वी.शंकर, आई.सी.एस.।

3

अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली को मिलाकर जो मत्स्य संघ का निर्माण किया गया था, अब वहां की जनता असन्तुष्ट होने लगी, क्योंकि राज्य का कार्यभार जनता की अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरा। कांग्रेस के कार्यकर्त्ता मत्स्य संघ को उत्तरप्रदेश या दिल्ली में मिलाना चाहते थे, जागीरदार लोग जयपुर में, अलवर व भरतपुर के मेव लोग एक मेवोस्थान बनाना चाहते थे, मत्स्य संघ आर्थिक दृष्टि से भी आत्मनिर्भर नहीं था। सरकार को भी भय था कि उपरोक्त कारणों से कहीं मत्स्य संघ भंग ना हो जाए तथा जब सभी राज्य राजस्थान में मिल चुके थे तो मत्स्य संघ का कोई औचित्य भी नहीं था। वी.पी.मेनन ने 13 फरवरी को मत्स्य संघ के चारों राज्यों को वार्ता के लिए दिल्ली बुलाया, मत्स्य संघ के मंत्रिमण्डल से भी मेनन ने वार्ता की, करौली एवं अलवर राजस्थान में मिलने को तत्पर थे, किन्तु भरतपुर व धौलपुर दोनों राज्य मिलने के लिए तैयार नहीं हुए। 23 मार्च को मेनन ने पुनः चारों राज्यों के राजाओं से वार्ता की, वार्ता के पश्चात् भरतपुर राज्य को सूचना दी की अधिकांश प्रजा राजस्थान संघ में सम्मिलित होना चाहती है। कुछ दिनों पश्चात् धौलपुर के महाराज भी सम्मिलित होने पर सहमत हो गए। चारों राज्यों का सम्मेलन 10 मई को दिल्ली में आयोजित किया गया, चारों ने विलय पत्र पर हस्ताक्षर किए एवं मत्स्य संघ को

राजस्थान में मिलाने पर सहमति व्यक्त की, 15 मई 1949 को मत्स्य संघ का प्रशासन राजस्थान को सौंप दिया गया।

अब सिरोही राज्य के भविष्य का निर्णय शेष था, नवम्बर 1947 के अन्त में सरदार पटेल को सुझाव दिया कि राजपूताना एजेन्सी के कुछ भागों को पश्चिमी भारत और गुजरात को सौंप दिया जाना चाहिए क्योंकि अधिकांश जनसंख्या गुजराती भाषा बोलती है। इस प्रकार के राज्य सिरोही, पालनपुर, दान्ता, ईडर, विजयनगर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और झाबुआ थे, इस प्रश्न पर स्थानीय नेताओं और राजपूताना के क्षेत्रीय कमिश्नर से वार्ता कर यह निर्णय लिया गया कि पालनपुर, दान्ता, ईडर एवं विजयनगर को पश्चिमी भारत और गुजरात में मिला दिया जाना चाहिए। यह कार्य 1 फरवरी 1948 को किया, सिरोही को पश्चिमी भारत और गुजरात स्टेट एजेन्सी को सौंप दिया जबकि डूंगरपुर, बांसवाड़ा तथा झाबुआ मेवाड़ के भाग थे अतः इनको राजपूताना स्टेट एजेन्सी में यथावत् रखा।

19 मार्च 1948 को गुजरात राज्य के शासक उनकी रियासतों को बम्बई प्रान्त में सम्मिलित करने पर सहमत हो गए परन्तु उस समय सिरोही पर वार्ता नहीं की गयी क्योंकि सिरोही का शासक नाबालिग था, पश्चिमी भारत के व गुजरात स्टेट एजेन्सी के राज्य बम्बई में मिला दिए गए तब सिरोही पृथक् नहीं रह सकता था। सिरोही के लिए विकल्प था कि या तो इसे राजस्थान में मिलाया जाए या बम्बई में सरदार पटेल के कथानुसार मेनन सिरोही गए और परिस्थिति का अध्ययन किया। यहां गुजराती जनता मानती थी कि माउन्ट आबू परम्परागत व एतिहासिक रूप से गुजरात के साथ जुड़ा हुआ है। राजस्थानी मानते थे कि यह राज्य राजपूताना का अनेक वर्षों से एक भाग है तथा यहां की अधिकांश जनसंख्या गुजराती भाषा नहीं बोलती, सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह राजस्थान एकमात्र पर्वतीय स्थल है। सिरोही के नेताओं की राय भी भिन्न थी अतः सरदार पटेल ने सिरोही के विभाजन का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, गोकुल भाई भट्ट को दिल्ली बुलाकर वार्ता की परन्तु वे विभाजन नहीं चाहते थे, किसी प्रकार से वे सहमत हुए। यह निर्णय हुआ कि आबू रोड़ और देलवाड़ा तहसील बम्बई में मिला दी जाए एवं शेष सिरोही को राजस्थान में सम्मिलित कर दें। भारत सरकार अधिनियम 1935 के तहत धारा 290–ए के अधीन यह आदेश प्रभावी हो गया। अन्त में पुनर्गठन आयोग की सिफारिश पर नवम्बर 1956 को आबूरोड़ व देलवाड़ा तहसील भी राजस्थान में सम्मिलित हो गए।

जब राजस्थान के अनेक भाग विलीनीकरण के कालक्रम से निकल रहे थे तो अजमेर जो केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत था, वहां भी जनता का मत था कि अजमेर को राजस्थान में सम्मिलित कर दिया जाए। राजस्थान सरकार ने भी अजमेर पर अपना दावा

प्रस्तुत किया, इसके अनेक आधार भी थे जैसे कि अजमेर एक टापू बन जाने से तथा छोटी सी राज्य की श्रेणी में आने से पंगु हो गया था, इसके साधन बहुत न्यून थे, अनेक शासकीय बाधाएं भी थी, भाषा, आचार, व्यवहार की दृष्टि से यहां की जनता राजस्थान के अत्यधिक निकट थी। स्टेट रिआरगेनाइजेशन कमिशन ने इस प्रकार के प्रतिवेदन पर विचार विमर्श किया, वी.पी. मेनन के भी विचार थे कि जब सभी राज्य राजस्थान में सम्मिलित हो चुके हैं तो अजमेर को भिन्न रखने का कोई औचित्य नहीं है, अन्ततः कमिश्नर ने अजमेर को राजस्थान में मिलाने की सिफारिश की और 1 नवम्बर 1956 को अजमेर संभाग राजस्थान का अभिन्न अंग बन गया और वर्तमान राजस्थान स्वरूप में आया।

भाषावार पुनर्गठन – विभाजन और देशी रियासतों के विलीनीकरण के पश्चात् राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया समाप्त नहीं हुई थी वरन् भारत के प्रान्तों की आन्तरिक सीमाओं के निर्धारण का प्रश्न यथावत् था। प्रान्तों की सीमाओं को इस प्रकार से निश्चित करना था कि भारत देश की भाषाई और सांस्कृतिक विभिन्नता की झलक स्पष्ट दृष्टिगोचर हो तथा राष्ट्रीय एकता व अखण्डता भी बनी रहे। विदेशी शासन के कालक्रम में प्रान्तों की सीमाएं प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से इस प्रकार निश्चित की गयी थी कि प्रथम ब्रिटिश सरकार ने जितने क्षेत्र को जीत लिया है उतना क्षेत्र एक भिन्न प्रान्त मान लिया जाता था, द्वितीय किसी देशी रियासत के अन्तर्गत कितने क्षेत्र सम्मिलित है।

हमारी राष्ट्रीय सरकार ने ऐसे सीमांकन को कृत्रिम मानकर निरस्त कर दिया और भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन का वचन दिया। सन् 1920 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन के पश्चात् ही इस सिद्धान्त को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने मान लिया था कि राज्यों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर होगा, अनेक कांग्रेस कार्य समितियां भाषाई क्षेत्र के आधार पर ही निर्मित की गई और ये समितियां अंग्रेजों द्वारा किए प्रशासनिक विभाजन को अपने कार्य में उपयोगी नहीं मानती थी।

स्वतन्त्रता एवं विभाजन के पश्चात् परिस्थितियां परिवर्तित हुई तथा यह चिन्ता व्यक्त की जाने लगी कि अगर भाषा के आधार पर प्रान्त गठित किए गए तो अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है और राष्ट्र की एकता व अखण्डता विघटित हो सकती है। देशी रियासतों की समस्या अभी हल भी नहीं हुई थी, भारत पाकिस्तान विभाजन की कटु स्मृतियां भी शेष थी अतः केन्द्रीय नेतृत्व ने इस मुद्दे को स्थगित कर दिया, इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप स्थानीय नेता तथा जनता उग्र हो गयी। पुराने मद्रास प्रान्त में वर्तमान समय के तमिलनाडु एवं आन्ध्रप्रदेश सम्मिलित हो वहां के तेलगु भाषी क्षेत्रों में विरोध के स्वर उभरने लगे। विशाल आन्ध्र आन्दोलन ने मांग की कि मद्रास प्रान्त के तेलगु भाषी

राज्यों को पृथक् करके एक नवीन आन्ध्रप्रदेश राज्य का गठन किया जाए, इस प्रकार की स्थिति से केन्द्र सरकार असमंजस की स्थिति में थी। प्रमुख गांधीवादी तथा कांग्रेस के बडे नेता पोट्टी श्री रामुलु ने अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल प्रारम्भ कर दी, 56 दिनों की भूख हड़ताल के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई, इसके परिणामस्वरूप आन्ध्रप्रदेश में हिंसक घटनाएं हुई, पुलिस फायरिंग में अनेक व्यक्ति हताहत हुए, मद्रास के अनेक विधायकों ने अपनी सीट से त्यागपत्र दे दिया अन्ततः दिसम्बर 1952 में प्रधानमंत्री ने आन्ध्रप्रदेश के नाम से पृथक् राज्य के गठन की घोषणा की।

आन्ध्रप्रदेश के गठन के पश्चात् ही देश के अन्य भागों में भी भाषायी आधार पर राज्यों के गठन के लिए संघर्ष प्रारम्भ हो गया, इन संघर्षों से बाध्य होकर केन्द्र सरकार ने 1953 में राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की, जिसका कार्य राज्यों के सीमांकन पर विचार विमर्श करना था, आयोग ने रिपोर्ट प्रस्तुत की कि सीमाओं का निर्धारण भाषा के आधार पर होना चाहिए इसी के आधार पर 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम पास हुआ। इस अधिनियम के आधार पर 14 राज्य और 6 केन्द्रशासित प्रदेश गठित किए गए।

स्वतन्त्रता के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में एक गम्भीर चिन्ता का विषय था कि पृथक् राज्य गठन की मांग से देशी की एकता के लिए खतरा उपस्थित होगा, भाषायी राज्यों में अलगाववाद की भावना रहेगी एवं नवीन भारतीय राष्ट्र पर दबाव बढ़ेगा भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन से यह अपेक्षा की गयी कि यदि हर क्षेत्र के क्षेत्रीय एवं भाषाई दावे को मान लिया जाए तो विभाजन और अलगाववाद की समस्या में कमी आएगी, इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय मांगों को स्वीकृत करना एक जनतांत्रिक कदम के रूप में देखा गया।

भाषावार राज्यों के पुनर्गठन की घटना को 50 वर्ष से अधिक हो गए हैं और यह कहा जा सकता है कि भाषायी राज्य तथा इन राज्यों के गठन के लिए किए गए आन्दोलन ने लोकतांत्रिक राजनीति तथा नेतृत्व की प्रकृति को बुनियादी स्वरूप में परिवर्तित किया है। राजनीति और सत्ता की भागीदारी अब मात्र एक अंग्रेजी भाषी वर्ग के लिए ही नहीं, अन्यों के लिए भी खुल चुका था और भाषावार पुनर्गठन से राज्यों के सीमांकन के लिए एक समरूप आधार भी प्राप्त हुआ, बहुतों की आशंका के विपरीत इससे देश विखण्डित नहीं हुआ वरन् इसके विपरीत देश की एकता और अखण्डता अधिक मजबूत हुई। सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इससे भाषावार राज्यों के पुनर्गठन से विभिन्नता के सिद्धान्त को स्वीकृति प्राप्त हुई। भारत में लोकतंत्र अपनाया गया है तो इसका सीधा–सा अर्थ इतना ही नहीं होता कि भारत लोकतांत्रिक संविधान पर अमल होता है अथवा भारत में चुनाव करवाए जाते हैं वरन् इसका वृहत्तर अर्थ है। लोकतंत्र को स्वीकृत करने का अर्थ है विभिन्नताओं

को पहचानना और स्वीकार करना, साथ ही यह मानकर चलना कि विभिन्नताओं में अन्तर्विरोध भी हो सकते हैं, दूसरे शब्दों में भारत में लोकतंत्र की धारणा विचारों और जीवन पद्धतियों की बहुलता की अवधारणा से जुड़ी हुई है।

भाषायी आधार पर पुनर्गठन के सिद्धान्त को मानने का तात्पर्य यह नहीं था कि समस्त राज्य तत्काल भाषायी राज्यों में परिवर्तित हो जाए। एक प्रयोग द्विभाषी राज्य बम्बई के रूप में किया गया, जिसमें गुजराती और मराठी भाषा बोलने वाले लोग थे, एक जन आन्दोलन के पश्चात् सन् 1960 में महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों का गठन किया गया, 1966 में पंजाबी भाषी इलाके को पंजाब राज्य का दर्जा प्रदान किया और वृहत्तर पंजाब से अलग करके हरियाणा और हिमाचल प्रदेश नाम के राज्य बनाए गए। 1972 में एक बार पुनः राज्यों के पुर्नगठन का प्रयास पूर्वोत्तर में हुआ, असम से पृथक् करके 1972 में मेघालय का गठन किया, इसी वर्ष मणिपुर और त्रिपुरा भी अलग राज्य के रूप में अस्तित्व में आए, अरूणाचल प्रदेश और मिजोरम 1987 में अस्तित्व में आए।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि में राजनीतिक दलों का उद्भव हुआ, औपनिवेशिक शासन में विदेशी शासकों से मुक्ति तथा देश में सामाजिक सुधार करना राजनीतिक दलों का सर्वप्रमुख उद्देश्य था। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रकृति एक ऐसे संगठन की थी जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन को नेतृत्व एवं गति प्रदान की। भारत के बहुभाषायी, बहु सांस्कृतिक एवं बहुजातीय स्वरूप में विचारधारा की विभिन्नता के आधार पर अनेक राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय दलों की उत्पत्ति हुई।

किसी भी जनतंत्र में विचारधारा, नीतियों और कार्यक्रमों के आधार पर समर्थन जुटाना राजनैतिक दलों का एक मुख्य कार्य है एक स्वस्थ लोकतांत्रिक प्रणाली में यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि राजनैतिक दल चुनाव में तो सत्ता प्राप्ति के लिए अन्य दलों से प्रतियोगिता करें, किन्तु सामान्य व विशिष्ट प्रश्नों, विचारों, कार्यक्रमों व नीतिगत विकल्पों के सम्बन्ध में जनमत को विकसित करने के लिए नियमित रूप से सक्रिय नहीं रहे, इस प्रकार लोक शिक्षण राजनैतिक दलों की भूमिका का एक महत्वपूर्ण और सहज भाग है, लोक शिक्षण की प्रक्रिया में राजनैतिक दल जनता को राजनैतिक सहभागिता के विभिन्न अवयवों में सम्मिलित करने का प्रयास तो करते ही है, वे इसी प्रक्रिया के माध्यम से स्वयं के लिए समर्थन भी जुटाते हैं। यह कहा जा सकता है कि राजनैतिक सहभागिता के संस्तर में वृद्धि के प्रति जागरूक होने पर राजनैतिक दल दलीय समर्थन जुटाने का प्रयास करते हैं तथा चुनावों के अवसर पर इसी दलीय समर्थन को अपने दल के पक्ष में मत के संव्यवहार के रूप में परिणत करने की अपेक्षा करते हैं, जबकि इससे भिन्न स्थिति में

राजनैतिक दल जनता की राजनैतिक सहभागिता के प्रति सजग न रह कर व्यक्तियों से चुनावों के अवसर पर केवल अपने पक्ष में मत व्यवहार की अपेक्षा करते हैं तथा इस प्रक्रिया में तत्कालिक मुद्दों तथा नीतियों व कार्यक्रमों की उद्घोषणाओं का आश्रय लेते हैं। उपर्युक्त दोनों भूमिकाओं में से किसी राजनैतिक दल या दलों द्वारा किसी एक निर्वहन भिन्न स्थितियों को उत्पन्न करता है। सहभागिता के संस्तर में अभिवृद्धि के लिए नियमित व निरन्तर प्रयासों के माध्यम से राजनैतिक दल दलीय समर्थक बनाते है, वहीं चुनाव के समय सक्रिय होकर नीतियों, कार्यक्रमों और समस्याओं को उठा कर वे अपने पक्ष में मतदाता बनते है। विभिन्न राजनैतिक समस्याओं, दृष्टिकोणों, विचारधाराओं और अन्य सम्बद्ध पक्षों से जनता को अवगत कराना तथा नीतियों, विचारों और कार्यक्रमों के विभिन्न उपलब्ध विकल्पों में से कसी विशिष्ट के प्रति जनता को उत्प्रेरित करना भी राजनैतिक दलों का कार्य होता है। यह भी दृष्टव्य है कि लोकतंत्रों में राजनैतिक दल अपनी उपर्युक्त भूमिकाओं का निर्वाह भले ही लोक शिक्षण के निरपेक्ष उद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं अपितु स्वयं के प्रति समर्थन जुटाने के हित केन्द्रित मंतव्य के अधीन करें, किन्तु इसका परिणाम प्रभावी सहभागिता को सुनिश्चित करने वाले लोक शिक्षण के रूप में घटित होता है। राजनैतिक दलों द्वारा जन समर्थन जुटाने के लिए अपनायी गयी कार्यनीति और प्रयासों के इतिवृत्ति का सर्वेक्षण और आकलन करने की आवश्यकता स्पष्ट है कि राजनैतिक दल वास्तव में अपने समर्थन के सामान्य आधार की खोज और उसे व्यापक बनाने के लिए अनवरत प्रयास करते रहते हैं अथवा वे समर्थन की आवश्यकता को निर्वाचनिक सफलता तक सीमित कर लेते हैं। उपर्युक्त में से द्वितीय स्थिति में राजनैतिक दल अपनी विचारधारा, कार्यक्रमों, नीतियों और व्यवस्था के लिए निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपने सामान्य आग्रहों के आधार पर समर्थकों को एकत्रित करने की अपेक्षा, एक निर्वाचन विशेष में अपने लिये अधिकाधिक मतदाताओं का निर्वाचन विशिष्ट समर्थन प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हो जाते हैं। यह भी स्पष्ट है कि उपर्युक्त स्थिति में राजनैतिक दलों की भूमिका, जनता की सहभागिता के संस्तर में वृद्वि की दृष्टि से सहायक नहीं होती। यह आकलन का विषय है कि भारत में राजनैतिक दलों के अब तक के कार्यकरण में सामान्य समर्थन के आधार को सुदृढ़ करने और उसका विस्तार करने की आकांक्षा परिलक्षित हुई है अथवा उनकी दृष्टि केवल निर्वाचनिक सफलता पर केन्द्रित रही है।

संदर्भ गन्थ सूची –

1. मेनन, वी.पी. : दि स्टोरी ऑफ इन्टिग्रेशन ऑफ इंडियन स्टेट्स, ऑरिएन्ट लांगमैन, नई दिल्ली, 1956, पृ0 52
2. मेनन, वी.पी. : उपर्युक्त, पृ0 25
3. भण्डारी, विजय, राजस्थान की राजनीति, सामंतवाद से जातिवाद के भंवर में, वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2007

तृतीय अध्याय
केन्द्र–राज्य सम्बन्ध

केन्द्र–राज्य सम्बन्ध किसी भी देश की संघात्मक व्यवस्था की ओर इंगित करता है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 1(1) यह कहता है कि 'भारत अर्थात् इण्डिया राज्यों का संघ होगा।' प्रारूप संविधान प्रस्तुत करते हुए प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ0 अम्बेडकर ने यह कहा था ''यद्यपि संविधान की संरचना परिसंघात्मक है किन्तु समिति ने 'संघ' शब्द का प्रयोग किया है क्योंकि इससे कुछ लाभ है, संविधान सभा में इस बात का निर्वचन करते हुए उन्होंने कहा कि यह लाभ दो दृष्टि से है अर्थात् –

(क) भारत का परिसंघ इकाईयों के बीच किसी करार के परिणाम स्वरूप नहीं है।

(ख) संघटक इकाईयों को उससे विलग होने का अधिकार नहीं है।[1]

भारतीय संघात्मक व्यवस्था अनेक प्रकार के समझौतों एवं सुविधाओं की देन है, देश के इतिहास, परिस्थितियों एवं विभिन्न समस्याओं ने मिलकर संघात्मक व्यवस्था को अपनाने के लिए प्रेरित किया। अनेक कारणों से भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था को स्वीकृत किया गया।

ऐतिहासिक कारण, प्रथम गोलमेज सम्मेलन (1930) में सभी प्रमुख राजनैतिक दलों व वर्गों के प्रतिनिधियों ने संघात्मक शासन का समर्थन किया, यद्यपि इसमें कांग्रेस सम्मिलित नहीं थी, किन्तु द्वितीय सम्मेलन में कांग्रेस ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए। मान्टेग्यू –चेम्सफोर्ड सुधार (1919) के अन्तर्गत आंशिक प्रान्तीय स्वायत्ता की स्थापना की गयी, 1935 में भारत शासन अधिनियम द्वारा देश में संघात्मक व्यवस्था की योजना प्रस्तुत की।

भारत में अनेक प्रकार की आर्थिक, समाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक विभिन्नताएं हैं यह देश अनेक प्रकार की भाषाओं, धर्म, जातियों और समुदायों से परिपूरित है, इस प्रकार की अनेकताओं के कारण यहां एकात्मक व्यवस्था अव्यवहारिक रहती।

देशी रियासतें, स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत दो भागों में विभक्त था, ब्रिटिश प्रान्त और देशी रियासतें। 1947 के अधिनियम के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार ने सम्प्रभु शक्ति देशी रियासतों को ही प्रदान कर दी जिससे ये रियासतें सिद्धान्तः सम्प्रभु व स्वतन्त्र हो गयी। सरदार वल्लभ भाई पटेल व वी.पी. मेनन द्वारा देशी रियासतों का भारतीय संघ में सम्मिलन किया गया परन्तु तत्पश्चात् एक विकट स्थिति उत्पन्न हुई कि भारत की सांविधानिक रचना में देशी रियासतों को किस प्रकार समायोजित किया जाए। रियासतों का

आर्थिक विकास, सामाजिक स्तर, रीति रिवाजों में पर्याप्त भिन्नता थी, अतः एकात्मक व्यवस्था के स्थान पर संघात्मक व्यवस्था अधिक व्यावहारिक व उपयुक्त थी।

उपर्युक्त कारणों को दृष्टिगत रखते हुए भारत में संघात्मक व्यवस्था को स्वीकृत किया गया, यद्यपि हमारे संविधान में परिसंघ के आवश्यक लक्षण है किन्तु वह विश्व की आदर्श परिसंघीय प्रणालियों में कुछ मूलभूत तत्वों में भिन्नता रखती है। भारतीय परिसंघीयता की विशेषताओं को निम्न प्रकार परिलक्षित किया जा सकता है –

रचना का ढंग, अमेरिका जैसा परिसंघ, प्रभुत्व सम्पन्न एवं स्वतन्त्र राज्यों के मध्य सामान्य महत्व के कुछ विषयों के प्रशासन के लिए किए गए स्वैच्छिक करार के परिणामस्वरूप जन्म लेता है किन्तु कनाड़ा के नमूने वाला एक आनुकल्पिक ढंग भी है अर्थात् ऐकिक राज्य के प्रान्तों को परिसंघ में ढालकर उन्हें स्वायत्ता प्रदान की जाती है। 1935 के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश संसद ने वैसी ही परिसंघ प्रणाली स्थापित की जैसी कनाडा में की गयी अर्थात् स्वायत्त इकाईयों का सृजन किया गया और उसी अधिनियम द्वारा उन्हें संयोजित करते हुए परिसंघ की रचना की गयी। भारत में अभी तक जिन शक्तियों का प्रयोग किया जा रहा था वे सम्राट ने पुनः अपने पास लेकर परिसंघ और राज्यों में विभक्त कर दी। इस प्रणाली के अधीन प्रान्तों को प्राधिकार सीधे सम्राट से प्राप्त हुआ था और वे केन्द्रीय नियंत्रण से मोटे तौर से स्वतन्त्र रहते हुए अपनी सीमाओं के भीतर विधायी और कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करते थे। तत्पश्चात् भी गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व और उसकी कुछ विषयों में अपने व्यक्तिगत निर्णय का और विवेकाधिकार का प्रयोग करने की बाध्यता तथा केन्द्र की प्रान्तों को निर्देश देने की शक्ति के माध्यम से केन्द्र ने अपना नियंत्रण बनाए रखा।[2]

समझौते का परिणाम नहीं, भारत इकाईयों के मध्य किसी समझौते का परिणाम नहीं है, इकाईयों की प्रगति ऐकिक से परिसंघीय संगठन की ओर हुई है परन्तु यह इसलिए नहीं हुआ कि प्रान्त एक संघात्मक ढांचे के अधीन स्वशासी बनने के इच्छुक थे जैसा कि कनाड़ा में था। प्रान्तों को एक मर्यादा के अधीन स्वशासी बनाया गया।

भारतीय संघ के किसी भी राज्य को भारत से पृथक् होने का अधिकार नहीं है। यहां यह ध्यातव्य है कि 1963 में संविधान के 16 वें संशोधन से यह सुस्पष्ट किया जा चुका है कि पृथक् होने के पक्ष में विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को संरक्षण प्रदान नहीं किया जाएगा।[3]

अमेरिका के संविधान का लक्षण है कि राष्ट्रीय सरकार का संविधान लिखित है, राज्यों को पृथक् संविधान निर्मित करने की छूट दी गई है। भारत का संविधान विश्व का

सबसे विशाल लिखित संविधान है जिसमें राज्यों से सम्बन्धित सभी प्रावधान सुस्पष्ट रूप से दिए गए हैं, किन्तु जम्मू कश्मीर एकमात्र ऐसा राज्य है जिसे पृथक् से संविधान निर्माण का अधिकार दिया गया है।

संसद को सीमा परिवर्तन में राज्य से सहमति की आवश्यकता नहीं, भारतीय संविधान संघ की संसद को यह शक्ति प्रदान करता है कि वो राज्यों के पुनर्गठन या उनकी सीमाओं में परिवर्तन कर सकती है, यह कार्य साधारण बहुमत द्वारा ही किया जा सकता है।

अनुच्छेद 4 (2) के द्वारा संविधान में यह अपेक्षा नहीं है कि संसद को ऐसी विधि बनाने के लिए राज्य के विधानमण्डल की सम्मति प्राप्त करना आवश्यक है, मात्र संसद को विधेयक की सिफारिश करने के प्रयोजन के लिए राष्ट्रपति के लिए आवश्यक है कि वे प्रभावित राज्य के विधानमण्डल के विचार ज्ञात कर लें। जिस सरलता से संघ की संसद सामान्य विधान द्वारा परिसंघ के गठन को नया रूप दे सकती है उसका उदाहरण राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1956 के अधिनियम से मिलता है। इस अधिनियम के द्वारा संविधान के प्रारम्भ के 6 वर्ष के भीतर ही राज्यों की संख्या 27 से घट कर 14 हो गयी।[4]

राज्य प्रतिनिधित्व में असमानता, भारतीय संविधान में राज्यसभा में राज्यों के प्रतिनिधित्व में असमानता है। संविधान की चतुर्थ अनुसूची के अनुसार भिन्न–भिन्न इकाइयों में सदस्यों की संख्या एक से चौंतीस के मध्य हो सकती है। सदस्यों की इस भिन्नता से छोटे राज्यों के हितों को विशाल राज्यों के हितों से किसी प्रकार सुरक्षित रखा जाए, ऐसा संविधान में कोई नियम निर्दिष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त 250 सदस्यों के उच्च सदन में 12 सदस्य संगीत, कला, खेल आदि क्षेत्रों के प्रसिद्ध व्यक्तियों को राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता है।

अनुच्छेद 371 च में सिक्किम, अनु. 371 छ में मिजोरम, 371 ज में अरूणाचल प्रदेश, 371 झ में गोवा राज्य के लिए विशेष उपबन्ध किए गए हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत की संघात्मक व्यवस्था विश्व के अन्य संघीय शासन प्रणालियों से भिन्न कुछ अनूठी विशेषताएं रखता है।

संघात्मक शासन व्यवस्था वह है जहां संविधान के द्वारा केन्द्र व इकाईयों के मध्य शक्ति का विभाजन किया जाता है, संघात्मक शासन में लिखित संविधान का होना अति आवश्यक है, जिससे कि दोनों सरकारें अपनी सीमा का उल्लंघन ना करें। भारतीय संविधान में संघात्मक व्यवस्था के सभी प्रमुख लक्षण विद्यमान हैं।

लिखित संविधान, केन्द्र एवं इकाईयों की प्रत्येक विशेषता चाहे वह कार्यपालिका हो, विधायी हो या न्यायिक, संविधान के द्वारा नियमित एवं निर्धारित होती है। इसके उपबन्ध सभी सरकारों पर बाध्यकारी हैं और किसी भी सरकार द्वारा इसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। भारत में कोई भी शक्ति संविधान के ऊपर नहीं है, और यह विश्व का सर्वाधिक बड़ा एवं लिखित संविधान है।

भारत में केन्द्र व इकाईयों के मध्य शक्ति के विभाजन के अन्तर्गत 3 सूचियां, संघ सूची, राज्य सूची व समवर्ती सूची का निर्माण किया है। यद्यपि शक्तियों के वितरण की प्रक्रिया कनाड़ा के संविधान से प्रेरित है तथापि समवर्ती सूची आस्ट्रेलिया के संविधान से प्रभावित होकर जोड़ी गयी है किन्तु कनाड़ा के संविधान के अनुसार अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र को प्रदान की गयी है।

स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका, संविधान के द्वारा देश में एक सर्वोच्च न्यायालय एवं राज्यों के अपने उच्च न्यायालय होते हैं। सर्वोच्च न्यायालय नागरिकों के मौलिक अधिकारों के संरक्षण के साथ–साथ संविधान की व्याख्या, केन्द्र व इकाईयों के मध्य शक्ति विभाजन की रक्षा करता है तथा केन्द्र व इकाईयों के द्वारा किये गए ऐसे किसी भी कार्य को जो संविधान के विरूद्ध है उसे अवैध घोषित कर सकता है।

संसद का उच्च सदन राज्यसभा राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन है, किन्तु राज्यसभा में यह प्रतिनिधित्व समानता पर आधारित ना होकर जनसंख्या पर आधारित है।

संवैधानिक संशोधन प्रणाली भी संघात्मक ढाँचे के अनुरूप है। भारतीय संविधान में संघात्मक ढाँचे से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण संशोधन विधेयकों को राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए प्रस्तुत करने से पूर्व कम से कम आधे राज्यों के विधानमण्डलों के संकल्प द्वारा स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है।

उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट होता है कि भारत में परिसंघीय शासन प्रणाली के सभी आवश्यक तत्व विद्यमान हैं।

यद्यपि भारतीय संविधान में संघात्मक शासन प्रणाली अपनायी गयी है तथापि इसमें एकात्मक शासन के लक्षण विद्यमान है। प्रोफेसर के.सी. व्हीयर ने कहा है कि भारत का संविधान एक ऐसी शासन प्रणाली की व्यवस्था करता है जो परिसंघकल्प है, यह ऐकिक राज्य है जिसमें कुछ अनुषंगी परिसंघीय लक्षण है....यह अनुषंगी ऐकिक लक्षण वाला परिसंघीय राज्य नहीं है।[5]

भारत के संविधान निर्माता इस तथ्य से पूर्ण रूप से परिचित थे कि भारत में जब केन्द्र कमजोर स्थिति में होता है तो भारत की राष्ट्रीय एकता और अखण्डता नष्ट हो जाती

है। इतिहास की पुनरावृत्ति ना हो इसके लिए संविधान निर्माता केन्द्रीय सत्ता को अधिक शक्तिशाली बनाना चाहते थे, अतः भारतीय संविधान में अनेक एकात्मक तत्वों का समावेश किया जो अग्रांकित है –

संघ सरकार अधिक शक्तिशाली, संविधान द्वारा शक्तियों का विभाजन केन्द्र के पक्ष में किया गया है। महत्वपूर्ण विषय केन्द्र सरकार को प्रदान किए गए हैं और संघ सूची में 97 विषय हैं, इसके अतिरिक्त केन्द्र सरकार विशिष्ट परिस्थितियों में राज्य सूची के विषयों पर भी विधि निर्माण कर सकती है, अवशिष्ट विषय केन्द्र के पास है। समवर्ती सूची के विषयों पर केन्द्र और राज्यों के विधान में अन्तर्विरोध होने पर केन्द्र का विधान ही मान्य होता है। आपातकाल के दौरान संसद राज्य सूची के किसी भी विषय पर विधि निर्माण कर सकती है, अतः स्पष्ट है कि शक्तियों के वितरण में केन्द्र सरकार को अधिक सशक्त बनाया गया है।

संघात्मक शासन व्यवस्था में संघ और इकाईयों के संविधान पृथक्–पृथक् होते हैं। किन्तु भारत में समस्त राज्यों व केन्द्र के लिए एक समान संविधान है। यद्यपि अनुच्छेद 370 के अन्तर्गत जम्मू कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा प्राप्त होने के कारण पृथक् संविधान निर्माण का उल्लेख है, किन्तु यह भारतीय संविधान के मुख्य ढाँचे के विपरीत नहीं है।

संघात्मक राज्यों में नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, एक संघ की एवं एक राज्य की, अमीरका में दोहरी नागरिकता का प्रावधान है, किन्तु भारत में नागरिकों को संघ की नागरिकता प्राप्त होती है, राज्यों की नहीं। यह सिद्धान्त संघात्मकता के प्रतिकूल है परन्तु भारत की राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को बनाए रखने के उद्देश्य से इकहरी नागरिकता का प्रावधान किया है।

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को अनुच्छेद 352, 356 एवं 360 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा का अधिकार है। राष्ट्रीय आपातकाल के समय संसद को राज्यसूची में वर्णित सभी विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार है। अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत राष्ट्रपति वित्तीय आपातकाल की घोषणा कर सकता है।

वित्तीय आपातकाल के दौरान राष्ट्रपति राज्यों के धन विधेयक को भी अपनी स्वीकृति के लिए मंगवा सकते हैं। राज्य में संवैधानिक संकट के समय राज्यपाल केन्द्र के एजेण्ट के रूप में राज्य की शासन व्यवस्था को संभालते हैं, उस दौरान संसद इस राज्य के लिए विधि निर्माण का अधिकार रखती है।

हमारे संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि किसी राज्य से उसका कोई अंग पृथक् कर दे, या दो या दो से अधिक राज्यों को मिलाकर एक

नवीन राज्य निर्मित कर दे, राज्य की सीमाओं और उनके नाम परिवर्तित कर दे। इस प्रकार राज्यों का अस्तित्व संघ की इच्छा पर निर्भर है।

विश्व की अन्य संघात्मक व्यवस्थाओं में उच्च सदन में छोटे–बड़े सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है किन्तु भारत में राज्यसभा में राज्यों का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के अनुपात में है, बडे राज्यों को अधिक व छोटे राज्यों को कम।

भारतीय संघ में अमेरिका के समान दोहरी न्याय व्यवस्था के स्थान पर एकीकृत न्याय व्यवस्था को अपनाया है, सम्पूर्ण देश के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय है, इसके पश्चात् न्यायालयों का गठन एक पिरामिड के रूप में होता है।

भारतीय संविधान द्वारा इन महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में एकरूपता बनाए रखी है जो राष्ट्र की एकता व अखण्डता के लिए आवश्यक है। अखिल भारतीय प्रशासनिक तथा पुलिस सेवाओं की व्यवस्था की गई है और इन सेवाओं के सदस्य राज्यों के प्रमुख पदों पर आसीन होते हैं। भारत में नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक केन्द्र के साथ–साथ राज्यों के व्यय का लेखा रखती है। निर्वाचन आयोग की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है जो कि संसद के साथ–साथ राज्य विधानमण्डलों का निर्वाचन भी सम्पन्न करवाता है। साथ ही वित्त आयोग, क्षेत्रीय परिषदों के माध्यम से केन्द्र का नियंत्रण, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों, पिछड़े वर्गों का कल्याण राष्ट्रपति के क्षेत्राधिकार में रखा गया है। दीवानी एवं दण्ड सम्बन्धी कानून संहिताबद्ध है जो सम्पूर्ण भारत देश पर लागू होते हैं।

संविधान के अतिरिक्त व्यवहार में भी भारतीय शासन व्यवस्था में ऐसे तत्वों का विकास हुआ है जिससे एकात्मकता में वृद्धि हुई है :–

भारत में प्रभावशाली प्रधानमंत्री के कारण भी एकात्मकता की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व के कारण भारत को राजनीतिक स्थिरता प्राप्त हुई। जब–जब केन्द्रीय स्तर पर करिश्माई प्रधानमंत्री रहे हैं और केन्द्र व राज्यों मे एक ही राजनीतिक दल की सरकार रही, तब–तक राज्य राजनीति में मुख्यमंत्रियों की भूमिका बहुत सीमित हो गई। नेहरूजी के पश्चात् इन्दिरा गांधी एवं राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन में प्रधामंत्री रहे अटल बिहारी वाजपेयी का व्यक्तित्व भी प्रभावशाली रहा।

देश के आर्थिक मामलों पर सिफारिश प्रस्तुत करने के संदर्भ में 15 मार्च 1950 को योजना आयोग का गठन किया गया। प्रधानमंत्री योजना आयोग के अध्यक्ष होते हैं तथा उसके कार्यों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए केन्द्रीय मंत्रीमण्डल के कुछ वरिष्ठ मंत्री भी आयोग से सम्बन्धित होते हैं।

योजना आयोग मुख्य रूप से एक परामर्शदात्री संस्था है किन्तु व्यवहार में योजना आयोग ने शासन को बहुत प्रभावित किया है। जैसा कि ग्रेनविल ऑस्टिन ने कहा है कि संविधान के निर्माण के समक्ष इस प्रकार का कोई स्पष्ट विचार नहीं था कि नियोजन संघीय व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करेगा। इस बात की तो कल्पना ही नहीं की गई थी। कि योजना आयोग वित्त आयोग से अधिक महत्वपूर्ण हो जाएगा। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि संविधान निर्मात्री सभा के सदस्यों ने इस बात का अनुमान लगाया था कि योजना व्यवस्था संघीय पद्धति को कोई मोड़ दे देगी, फिर भी समय ने यह बतला दिया कि भारतीय संघवाद के अन्तर्गत नियोजन का केन्द्रीकृत प्रभाव रहा है।[6]

योजनाओं का समर्थन करने के लिए 1952 में राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्थापना की गई, योजना आयोग के समान ही इसका भी भारतीय संविधान में कोई उल्लेख नहीं है। इसका प्रमुख कार्य योजना आयोग,राज्य सरकार व केन्द्रीय सरकार के मध्य सामंजस्य की स्थापना करना है। इस संस्था में राज्यों के मुख्यमंत्री भी सम्मिलित हैं किन्तु इनके द्वारा लिए गए निर्णयों में केन्द्रीय सरकार का वर्चस्व रहता है और राज्यों की भूमिका मात्र एजेण्ट के रूप में रह जाती है, अतः नियेाजन के केन्द्रीकृत प्रभाव ने एकात्मकता में वृद्धि की है।

एकदलीय प्रभुत्व के कारण भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। अनेक वर्षों तक भारतीय राजनीति कांग्रेस के इर्द–गिर्द ही घूमती रही इसका प्रमुख कारण स्वतन्त्रता संग्राम की पार्टी होना तथा प्रभावशाली नेतृत्व रहा है। 1997 से 1967 तक कुछ अपवादों को छोड़कर केन्द्र में एवं राज्य में कांग्रेस की ही सरकार थी। 1977 में प्रथम बार केन्द्र में गैर कांग्रेसी सरकार बनी। जनता दल के नेतृत्व में मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री बने।

सारतः भारत की संघात्मक व्यवस्था ना तो पूर्ण रूप से संघात्मक है ना एकात्मक वरन् यह सहयोगी संघवाद है। 1989 के पश्चात् गठबन्धन सरकारों के युग का प्रारम्भ हुआ है, एक दलीय प्रधान व्यवस्था का अन्त हुआ है और राज्यों में सत्ता क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के पास आ गयी। अनेक क्षेत्रीय नेताओं एवं दलों की राष्ट्रीय राजनीति में महत्ता में वृद्धि हुई है। अतः सांविधानिक एवं संविधानेत्तर दृष्टि से एकात्मक प्रवृत्तियों के पश्चात् परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप केन्द्र राज्य संबंधों में नवीन आयाम स्थापित हुए।

संविधान के अनुसार संघ तथा उसकी इकाईयों के मध्य तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय।

विधायी सम्बन्ध :–

संविधान के ग्यारहवें भाग में प्रथम अध्याय में अनुच्छेद 245 से 255 तक संघ व केन्द्र के विधायी सम्बन्धों का वर्णन किया गया है।[7] विधायी सम्बन्धों का संचालन तीन

सूचियों के आधार पर होता है जिन्हें संघ सूची, राज्य सूची एवं समवर्ती सूची कहा गया है। ये सूचियां सातवीं अनुसूची में हैं।

संघ सूची, इस सूची के विषय राष्ट्रीय महत्व के हैं एवं जिन पर विधि निर्माण का अधिकार संसद को है इस सूची में रक्षा, युद्ध, सन्धि, वैदेशिक मामले, अणुशक्ति, नागरिकता, जनगणना, बैंकिंग, रेल, बन्दरगाह, डाक, तार, टेलिफोन, बैंक, बीमा, खान आदि 97 विषय हैं।

राज्य सूची, इस सूची में वे विषय रखे हैं जो स्थानीय महत्व के होते हैं इस सूची के विषयों पर विधि निर्माण का अधिकार साधारणतया राज्य विधानमण्डल को है किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में संसद भी राज्य सूची के विषयों पर कानून निर्मित कर सकती है। मूल संविधान में इस सूची में 66 विषय थे, परन्तु 42वें संविधान संशोधन 1976 द्वारा इस सूची के चार विषय शिक्षा, वन, जंगली जानवर, पक्षियों की रक्षा तथा नाप–तौल, राज्य सूची से निकालकर समवर्ती सूची में कर दिए गए हैं। इस सूची के प्रमुख विषय हैं :– न्याय, पुलिस, जेल, लोकसेवा, कृषि, वन, कारागार, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई एवं सड़कें।

समवर्ती सूची, इस सूची में वे विषय हैं जिनका महत्व संघीय व स्थानीय दोनों ही दृष्टि से है इस सूची के विषयों पर केन्द्र व राज्य दोनों को ही विधि निर्माण का अधिकार है किन्तु दोनों सरकारों द्वारा निर्मित विधि में विरोध होने पर केन्द्र का कानून ही मान्य होगा। मूल संविधान में इस सूची में 47 विषय थे परन्तु 42वें संविधान संशोधन द्वारा कुछ विषय और जोड़े गए जिससे 52 विषय हो गए।

राज्य सूची के विषयों पर संसद को विधान निर्माण की शक्ति, राष्ट्रीय हित, देश की एकता एवं अखण्डता को दृष्टिगत रखते हुए संसद राज्य सूची के विषयों पर भी कानूनों का निर्माण कर सकती है। इस प्रकार के विशेष प्रावधान निम्न हैं :–

अनुच्छेद 249 के अनुसार संसद को यह प्रतीत हो कि राज्य सूची में निहित कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, और वह अपने 2/3 बहुमत से इस प्रकार का प्रस्ताव पारित कर देती है तो संसद उस विषय पर कानून का निर्माण कर सकती है। इस प्रकार के कानून की मान्यता 1 वर्ष की अवधि तक रहती है किन्तु राज्यसभा द्वारा प्रस्ताव पुनः स्वीकृत करने पर इसकी अवधि में एक वर्ष की वृद्धि और हो जाएगी। राज्यसभा ने इस शक्ति का प्रयोग अब तक मात्र एक बार 1950 में किया जब संसद द्वारा व्यापार–वाणिज्य से सम्बन्धित कानून का निर्माण किया गया।

अनुच्छेद 252 के अन्तर्गत यदि दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल संसद से यह अनुरोध करें कि राज्य सूची के किन्हीं विषयों पर संसद द्वारा विधान निर्माण किया जाए, तो उन राज्यों के लिए उन विषयों पर अधिनियम बनाने का अधिकार संसद को प्राप्त हो जाता है।

अनुच्छेद 250 के तहत् राष्ट्रीय आपातकाल घोषित किए जाने की स्थिति में राज्य की समस्त कानून निर्माण की शक्ति पर संसद का अधिकार हो जाता है, इस प्रकार का कानून आपातकाल समाप्ति के 6 माह के पश्चात् अप्रवर्तनीय हो जाता है।

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत यदि किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र विफल हो जाए तो राष्ट्रपति राज्य विधानमण्डल के समस्त अधिकार भारतीय संसद को प्रदान कर सकता है।

अनुच्छेद 253 के तहत अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों एवं समझौतों को लागू करने के लिए संसद किसी भी विषय पर विधि निर्माण कर सकती है, चाहे वे विषय राज्य सूची के हों।

उपर्युक्त परिस्थितियों के अतिरिक्त राज्य विधायी मामलों पर संघीय नियंत्रण के लिए संविधान में अन्य प्रावधान भी हैं जैसे अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्यपाल किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है, नए राज्यों के निर्माण एवं सीमा में परिवर्तन (अनु.–3), व्यापार की स्वतन्त्रता को निषिद्ध करने वाला राज्य का कोई विधेयक (अनु. 304) आदि।

केन्द्र राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध :–

भारतीय संविधान के ग्यारहवें भाग के द्वितीय अध्याय में (अनुच्छेद 256 से अनुच्छेद 263 तक) केन्द्र एवं राज्यों के मध्य प्रशासनिक सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है।

प्रशासनिक अथवा कार्यपालिका सम्बन्ध इस प्रकार है[8] –

संविधान में इस सिद्धान्त को मान्यता दी गयी है कि कार्यपालिका विधानपालिका की सह विस्तारी है अर्थात् जिस विषय पर संसद कानून बना सकती है उस विषय पर केन्द्रीय पालिका का नियंत्रण होगा और जिस विषय पर विधानमण्डल कानून बना सकता है, उस विषय पर राज्य की कार्यपालिका का नियंत्रण रहता है। इस प्रकार संघ सूची के विषयों पर केन्द्र सरकार को तथा राज्य सूची के विषयों पर राज्य सरकार को प्रशासन करने की अधिकारिता है। संविधान की 7वीं अनुसूची में सम्मिलित समवर्ती सूची के विषयों पर कार्यपालिका शक्ति राज्यों के पास है लेकिन इसके कुछ अपवाद भी हैं, जैसे जब संविधान ऐसे विषयों से सम्बन्धित किसी कार्यपालिका शक्ति को केन्द्र सरकार में निहित करता है,

जैसे भूमि अर्जन अधिनियम 1894 तथा औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के अधीन इन अधिनियमों में अन्तर्विष्ट प्रावधानों को कार्यान्वित करने की शक्ति केन्द्र के पास है।

प्रशासन के सम्बन्ध में राज्यों को निर्देश देने की शक्ति :– संविधान में केन्द्र सरकार को यह अधिकार दिया है कि वह प्रशासन के सम्बन्ध में राज्यों को निर्देश दे सकता है –

(क) राज्य में प्रवर्तित केन्द्रीय विधि तथा विद्यमान विधियों के अनुपालन को सुनिश्चित करने के लिए।

(ख) यह सुनिश्चित करने के लिए केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में राज्य की कार्यपालिका शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती है।

(ग) राज्य द्वारा राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के संचार साधनों के निर्माण तथा उन्हें बनाये रखे जाने को सुनिश्चित करने के लिए।

(घ) राज्य के सीमा क्षेत्र के अन्तर्गत रेलों के संरक्षण को सुनिश्चित करने के लिए।

(ड.) अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के कल्याण के लिए योजना बनाना तथा उसका कार्यान्वयन।

(च) भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएं सुनिश्चित करने।

(छ) हिन्दी भाषा का विकास सुनिश्चित करने के लिए।

(ज) यह सुनिश्चित कराने के लिए कि राज्य की सरकार संविधान अनुसार संचालित की जाए।

आपातकालीन स्थिति में :–

(क) किसी विषय के सम्बन्ध में कार्यपालिका शक्ति का किस प्रकार प्रयोग किया जाये।

(ख) राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने की स्थिति में राज्य की समस्त कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करने के लिए।

वित्तीय आपातकालीन स्थिति में :–

(क) ऐसे वित्तीय सिद्धान्तों का पालन करने के लिए जो निर्देशों के अनुसार विनिर्दिष्ट किये जाये।

(ख) राज्य में सेवारत सभी या किसी वर्ग के व्यक्तियों, जिनके अन्तर्गत उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी हैं के वेतन तथा भत्ते में कमी करने के लिए।

(ग) धन विधेयकों या ऐसे अन्य विधेयकों को राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित किये जाने के बाद राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करने के लिए।

वित्तीय सम्बन्ध इस प्रकार है[9] :–

किसी भी संघात्मक प्रणाली की सफलता के लिए आवश्यक है कि केन्द्र और राज्यों के वित्तीय साधन पर्याप्त हों जिससे संविधान द्वारा आरोपित अपने–अपने उत्तरदायित्वों का सुचारू रूप से संचालन किया जा सके। राज्यों के प्रशासनिक एवं वित्तीय प्राधिकार को कायम रखने के लिए उसकी वित्तीय स्वतन्त्रता आवश्यक है।

भारतीय संविधान में केन्द्र और राज्यों में राजस्वों का वितरण भारत सरकार अधिनियम 1935 की पद्धति के आधार पर किया गया है। संविधान निर्माताओं का यह विचार था कि केन्द्र एवं राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध लचीले हों और बदलती हुई परिस्थितियों तथा आवश्कताओं के अनुकूल रहे। इस प्रयोजन के लिए वित्त आयोग की स्थापना का उपबन्ध किया गया है जो समय–समय पर वित्त की स्थिति पर पुनर्विचार करे तथा परिस्थितियों के अनुकुल संशोधन एवं परिवर्तन का सुझाव दें। संविधान में यह प्रावधान है कि संसद संघ सूची में वर्णित विषयों पर कर अधिरोपित कर सकती है, जबकि राज्य विधानमण्डल राज्य सूची में वर्णित विषयों पर कर अधिरोपित कर सकता है।

संविधान का अनुच्छेद 265 यह उपबन्धित करता है कि विधि के प्राधिकार के बिना कोई कर अधिरोपित या संग्रहित नहीं किया जाएगा। किसी कार्यपालिका आदेश द्वारा कोई कर अधिरोपित नहीं किया जा सकेगा। कर अधिरोपित करने वाली विधि वैध होनी चाहिए अन्यथा कर भी अवैध हो जायेंगे। संविधान के किसी उपबन्ध द्वारा यदि कर लगाने का निषेध है तो वह कर विधि अवैध होगी जैसे :– वह कर विधि शून्य होगी जो संविधान के अनुच्छेद 14 में निहित समता के मूल अधिकार का अतिक्रमण करती हो। संघ एवं राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों से सम्बन्धित प्रमुख तथ्य अग्रांकित हैं :–

अनुच्छेद 268 संघ और राज्यों में राजस्वों के वितरण की व्यवस्था करता है राज्य सूची में वर्णित विषयों पर राज्यों को कर लगाने का आत्यन्तिक अधिकार है, संघ सूची में वर्णित विषयों पर केन्द्रीय सरकार को कर लगाने का आत्यन्तिक अधिकार है, समवर्ती सूची में केवल कुछ ही करों का उल्लेख हैं राज्य सूची में वर्णित विषयों पर लगाए गए करों को राज्य वसूल कर अपने पास रखते हैं जबकि संघ सूची में वर्णित विषयों पर लगे कुछ कर पूर्णतः या अंशतः राज्यों में वितरित कर दिये जाते हैं। संविधान ऐसे चार प्रकार के करों का उल्लेख करता है जो पूर्णतः या अंशतः राज्यों को सौंप दिये जाते हैं :–

(1) संघ द्वारा उद्‌गृहीत, किन्तु राज्यों द्वारा संगृहीत तथा विनियोजित किये जाने वाले शुल्कः– अनुच्छेद 268 के अनुसार संघ सूची में वर्णित स्टाम्प शुल्क तथा औषधीय

और प्रसाधनीय सामग्री पर उत्पादन शुल्क भारत सरकार द्वारा लगाये जाएंगे, किन्तु ये शुल्क राज्य सरकार द्वारा संग्रहीत किये जाएंगे और राज्यों को सौंप दिये जाएंगे।

(2) संघ द्वारा उद्‌गृहीत और संग्रहीत किन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले कर अनुच्छेद 269(1) के अनुसार निम्नलिखित शुल्क और कर भारत सरकार द्वारा उद्‌गृहीत और संगृहीत किये जाएंगे, किन्तु खण्ड (2) में निहित रीति से राज्यों को सौंप दिये जाएंगे, ऐसे कर अग्रांकित है :–

(क) कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में शुल्क।

(ख) कृषि भूमि से भिन्न सम्पत्ति के सम्बन्ध में सम्पत्ति शुल्क।

(ग) रेल, समुद्र या वायु से वाहित वस्तु या यात्रियों पर सीमा कर।

(घ) रेल भाड़ों और अन्य वस्तुओं पर कर।

(ड.) समाचार पत्रों के क्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर।

(च) स्टाक एक्सचेन्जों और वायदा बाजारों के संव्यवहारों पर स्टाम्प शुल्क से भिन्न अन्य कर।

(छ) समाचार पत्रों से भिन्न वस्तुओं पर क्रय या विक्रय पर इस सूरत में जिसमें कि ऐसा क्रय या विक्रय अन्तर्राज्यीय व्यापार एवं वाणिज्य की सूची में हो।

(3) संघ द्वारा उद्‌गृहीत और संग्रहीत तथा संघ और राज्यों के बीच वितरित कर :– अनुच्छेद 270 के अनुसार कृषि आय से भिन्न अन्य आय पर कर भारत सरकार लगायेगी और वसूल करेगी, किन्तु खण्ड (2) में उपबन्धित रीति से वे कर संघ और राज्यों के मध्य वितरित कर दिये जायेंगे।

(4) संघ उत्पादन शुल्कों का वितरण :–अनुच्छेद 272 के अनुसार संघ सूची में वर्णित औषधीय, त्वचा तथा प्रसाधन सामग्री पर उत्पादन शुल्क से अन्य संघ उत्पादन शुल्क भारत सरकार द्वारा उद्‌ग्रहीत और संगृहीत किये जाएंगे, किन्तु उन शुल्क आगमों को संघ और राज्यों में उस तरीके से वितरित कर दिया जायेगा जैसा कि संसद विधि द्वारा निर्धारित करे।

(5) संघ के प्रयोजन के लिए कर :– अनुच्छेद 271 यह उपबन्धित करता है कि यदि संसद अनुच्छेद 269 तथा अनुच्छेद 270 के अधीन करने और शुल्कों में अधिभार लगाकर बढ़ा देती है तो वह पूरी आय भारत की संचित निधि का भाग होगी।

राज्यों को संघ से अनुदान :–

भारतीय संविधान में केन्द्र सरकार द्वारा इकाईयों को निम्नांकित प्रकार से अनुदान देने की व्यवस्था है।

अनुच्छेद 273 के अधीन पटसन से निर्मित वस्तुओं पर निर्यात शुल्क से आने वाली कुल राशि से किसी भाग को असम, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, और बिहार राज्यों को सहायता अनुदान के रूप में दिया जायेगा। इस प्रकार केन्द्रीय अनुदान की राशि राष्ट्रपति वित्त आयोग के परामर्श से नियत करता है।

अनुच्छेद 275 के अधीन संसद उन राज्यों को, जिन्हें उसके अनुसार सहायता की आवश्यकता है, ऐसी राशि सहायक अनुदान के रूप में प्रदान करेगी, जैसा कि संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। भिन्न–भिन्न राज्यों के लिए भिन्न–भिन्न राशि नियत की जाती है। ऐसे राज्य जो अनुसूचित और आदिम जातियों के कल्याण या अनुसूचित क्षेत्रों में प्रशासन स्तर की उन्नति के प्रयोजन के लिए भारत सरकार के अनुमोदन से हाथ में ली गई योजनाओं को कार्यान्वित कर रहे हों, इस प्रयोजन के लिए असम राज्य को विशेष अनुदान दिया जाता है।

अनुच्छेद 282 के अन्तर्गत संघ या राज्य दोनों किसी सार्वजनिक प्रयोजन हेतु कोई भी अनुदान दे सकते हैं, भले ही उस प्रयोजन पर संसद या राज्य विधानमण्डल को विधि निर्माण की शक्ति न हो। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार राज्य क्षेत्र के अस्पतालों या शिक्षण संस्थाओं को अनुदान प्रदान कर सकती है।

स्पष्ट है कि वित्तीय मामलों में राज्य सरकारों को बड़े स्तर तक केन्द्रीय सरकार के अनुदान पर निर्भर रहना पड़ता है।

केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर गठित समितियाँ :–

केन्द्र तथा राज्य में विरोधी दल की सरकार होने के कारण अनेक मतभेद उभरते रहे हैं तथा तनाव में वृद्धि हुई है। अतः संघ व राज्यों के मध्य सामन्जस्य स्थापित करने व सम्बन्धों का पुनरीक्षण करने के लिए चार मुख्य आयोगों का गठन किया गया जो कि निम्न है :–

प्रशासनिक सुधार आयोग :–

1966 में भारत सरकार ने भारतीय प्रशासन में सुधार हेतु सुझाव प्रदान करने हेतु प्रशासनिक सुधार आयोग की स्थापना की, इस आयोग के अध्यक्ष मोरारजी देसाई थे परन्तु जब उन्हें संघीय मंत्रिमण्डल में उपप्रधानमंत्री बनाया गया तत्पश्चात् के. हनुमन्तैया की अध्यक्षता में आयोग ने सरकार के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। प्रशासनिक सुधार आयोग ने अन्य विषयों के साथ केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर भी अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जो निम्न हैः–

सन् 1967 तक संघ राज्य सम्बन्ध खुले रूप से चर्चा का विषय नहीं बने परन्तु उसके पश्चात् भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने वाली प्रमुखतम समस्याओं में

केन्द्र राज्य सम्बन्ध ही प्रधान रहे। समय–समय पर इस प्रकार की मांग की जाती रही है कि राज्यों के कार्यभार में वृद्धि हो रही है अतः संविधान में परिवर्तन करके राज्यों को अधिकतम वित्तीय और प्रशासनिक अधिकार प्रदान किए जाने चाहिए। आयोग का विचार था कि केन्द्र–राज्य मतभेदों का कारण संविधान द्वारा शक्तियों का दोषपूर्ण या असन्तुलित विवरण नहीं है अपितु सांविधानिक प्रावधानों के क्रियान्वयन की त्रुटिपूर्ण पद्धति है। जब केन्द्र में सुदृढ़ करिश्माई नेतृत्व था तब ऐसे मतभेदों का उपचार सरल था, परन्तु अब परिदृश्य परिवर्तित हुआ है तथा केन्द्र व राज्यों में प्रतिद्वन्दी दलों की सरकारें होने के कारण केन्द्र राज्य सम्बन्ध बहुत जटिल बनते जा रहे हैं। अतः सभी राजनीतिक दल सहयोग एवं समन्वय की भावना से कार्य करें तो सामंजस्यपूर्ण केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का विकास संभव है।

राज्य सूची के विषयों पर संघ की भूमिका :–

संघ सरकार संघ सूची व समवर्ती सूची के विषयों पर ही कानून नहीं बनाती वरन् राज्य सूची के विषयों पर भी हस्तक्षेप करने लगी है। प्रशासनिक सुधार आयोग का विचार है कि राज्य सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों में केन्द्र सरकार की निम्न प्रकार की भूमिका होनी चाहिए :–

1. राज्यों के सहयोग से राष्ट्रीय विकास की योजनाएँ बनाना।
2. राज्यों को देश के अन्य भागों में किए जाने वाले कार्यक्रमों एवं कार्यपद्धतियों की सूचनाएँ प्रेषित करना, राज्यों को अच्छे कार्यक्रम बनाने के लिए प्रेरित करना।
3. राष्ट्रीय स्तर पर उन विषयों के सम्बन्ध में अनुसंधान कार्य करना जिन्हें राज्यों द्वारा पूर्ण करना असंभव है।
4. भिन्न–भिन्न विषयों पर विचार–विमर्श करने के लिए राज्यों के प्रतिनिधियों को एकत्रित करना।
5. बुनियादी स्वरूप के प्रशिक्षण कार्यों को करना उदाहरणार्थ नियोजन एवं प्रशासकों को प्रशिक्षण देना आदि।

योजना अनुदान सिद्धान्त :–

संविधान के अनुच्छेद 282के अनुसार राज्यों की योजना के लिए केन्द्रीय वित्तीय सहायता की व्यवस्था की गयी है। आयोग का विचार है कि वित्त आयोग को वे सिद्धान्त निश्चित किए जाने चाहिए जिनके तहत् राज्यों को वित्तीय अनुदान प्रदान किये जाते हैं।

राज्य कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि और केन्द्र :–

आयोग का मानना है कि केन्द्रीय सरकार की नीति के कारण ही मुद्रा प्रसार में वृद्धि होती है, अतः राज्यों के इस प्रकार से बढ़ती हुई वृद्धि का भार केन्द्रीय सरकार को ही वहन करना चाहिए।

अन्तर्राज्यीय परिषद् :–

संविधान के अनुच्छेद 263 के अन्तर्गत एक अन्तर्राज्यीय परिषद् स्थापित किये जाने का प्रावधान है। 1967 के बाद राज्यों के मध्य मतभेदों के निवारण के लिए इस प्रकार की परिषद् स्थापित करने की मांग की गई है। आयोग ने अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना की सिफारिश की। अन्तर्राज्यीय परिषद् का गठन प्रधानमंत्री, वित्तीय मंत्री, गृहमंत्री, लोकसभा में विपक्ष के नेता, प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् से एक प्रतिनिधि (कुल पाँच) एवं सम्बन्धित मामले के केन्द्रीय मंत्री अथवा मुख्यमंत्री से मिलकर होता है।

राज्यपाल :–

प्रशासनिक सुधार आयोग ने अनुच्छेद 194 के अन्तर्गत राज्यपाल के अधिकारों में वृद्धि करने की सिफारिश की है जिससे सांविधानिक संकट के समय यह पर्याप्त शक्ति सम्पन्न हो।

राजमन्नार समिति प्रतिवेदन :–

22 सितम्बर, 1969 को तमिलनाडु सरकार ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर सुझाव प्रस्तुत करने के लिए राजमन्नार समिति गठित की। चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् केन्द्र राज्य सम्बन्ध सर्वाधिक विवादास्पद प्रश्न था तथा तमिलनाडु की द्रविड मुनेत्र कडगम पार्टी राज्य स्वायत्ता की मांग कर राजनीतिक लाभ अर्जित करना चाहती थी।

राजमन्नार समिति की महत्वपूर्ण सिफारिशें निम्न है (1971) :–

1. अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना की जाए, जिसके अध्यक्ष प्रधानमंत्री हो और राज्यों के मुख्यमंत्री या उनके नामित व्यक्ति इसके सदस्य हों। संसद में ऐसा कोई विधेयक जिससे एक या अधिक राज्य प्रभावित होते हैं, परिषद् से परामर्श किए बिना प्रस्तुत नहीं किया जाएगा।
2. वित्त आयोग को स्थायी आधार पर स्थापित किया जाए।
3. योजना आयोग के स्थान पर एक सांविधानिक आयोग नियुक्त किया जाए जिसमें राज्यों को सलाह देने के लिए कृषि, विज्ञान, तकनीकी विशेषज्ञ हों।
4. समिति का सुझाव था कि संघ व समवर्ती सूची से अनेक विषय निकाल कर राज्य सूची में रख दिये जाने चाहिए, इसके अतिरिक्त संविधान के अनुच्छेद 248 तथा

संघ सूची की 97वीं मद के अन्तर्गत प्रदान की गयी अवशिष्ट शक्तियां राज्यों को प्रेषित करनी चाहिए।

5. राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति राज्य के मंत्रिमण्डल अथवा इस उद्देश्य से निर्मित किसी उच्चाधिकार निकाय के परामर्श से की जाए तथा एक बार राज्यपाल पद पर आसीन होने के पश्चात् अन्य किसी सरकारी पद पर नियुक्त ना किया जाए। अनुच्छेद 164 का परन्तुक कि मंत्रियों का अपने पद पर बने रहना राज्यपाल की इच्छा पर निर्भर होगा संविधान में से निकाल दिया जाना चाहिए।
6. आपातकाल से सम्बन्धित प्रावधान 352,356 व 360 संविधान से निकाल दिए जाने चाहिए।
7. राज्यों को वित्तीय क्षेत्र में स्वायत्ता दी जाए व राज्य सभा में सभी राज्यों का समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए आदि।

राजमन्नार समिति प्रतिवेदन को निष्पक्ष नहीं कहा गया तथा अनेक विद्वानों ने इसे प्रान्तीयता की संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक कहा तथा राष्ट्र की एकता के लिए खतरनाक माना।

सरकारिया आयोग प्रतिवेदन :–

केन्द्र–राज्य सम्बन्धों पर विचार करने के दृष्टिकोण से संघीय सरकार द्वारा मार्च 1983 में तीन सदस्यीय सरकारिया आयोग की नियुक्ति की, आयोग ने 1600 पृष्ठों की एवं दो खण्डों की अपनी रिपोर्ट नवम्बर, 1987 में सर्वसम्मति से प्रस्तुत की। सरकारिया आयोग की प्रमुख सिफारिशें निम्न है : –

1. सुदृढ़ केन्द्र की अपरिहार्यता, आयोग ने स्पष्ट रूप से कहा कि देश की एकता व अखण्डता के लिए सशक्त केन्द्र आवश्यक है तथा संविधान के मूल स्वरूप में किसी भी प्रकार का प्रबल परिवर्तन न तो उचित है ना अपरिहार्य।
2. राष्ट्रपति शासन अन्तिम विकल्प के रूप में लागू हो, अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन तभी लागू किया जाना चाहिए जबकि राज्य का कार्य संविधान में निर्देशित व्यवस्था के अनुरूप चलाना असम्भव हो जाए तथा जब कोई अन्य मार्ग ना हो।
3. केन्द्र–राज्यों में करों का विभाजन, आयोग का दृष्टिकोण है कि निगम कर के उचित विभाजन के लिए संविधान में संशोधन किया जाए तथा संघ सरकार को आयकर पर अधिभार नहीं लगाना चाहिए। राज्यों की इस मांग को अस्वीकृत कर दिया कि उन्हें उत्पादन की एवज में बिक्रीकर में अधिक हिस्सा दिया जाए।

4. समवर्ती सूची के मामलों पर केन्द्र व राज्य सरकार के मध्य विचार–विमर्श होना आवश्यक है।
5. राज्यों में रक्षा बलों की तैनातगी के मामले में केन्द्र सरकार को निर्णय लेने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।
6. राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ भेजे गए विधेयक का निपटारा राष्ट्रपति द्वारा उस दिनांक से 4 माह की अवधि के अन्दर किया जाना चाहिए, जिस तारीख को यह संघ सरकार को प्राप्त होता है।
7. योजना आयोग को स्वायत्त संस्था नहीं बनाया जाना चाहिए तथा इस पर केन्द्र सरकार का नियंत्रण होना चाहिए। योजना आयोग को राज्यों से पूर्ण और प्रभावी विचार–विमर्श करना चाहिए ताकि राज्य महसूस करें कि उनकी भूमिका पूरक नहीं वरन् बराबर के भागीदार की है।
8. राष्ट्रीय विकास परिषद् को और अधिक प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है जिससे वह संघ और राज्य सरकारों के मध्य राजनीतिक स्तर की सर्वोच्च संस्था हो सके।
9. अनुच्छेद 263 में वर्णित अन्तर्राज्यीय परिषद् की स्थापना पर बल दिया गया है।
10. राज्यपाल को पद से निवृत्ति के पश्चात् किसी व्यक्ति को लाभ का कोई पद प्रदान नहीं करना चाहिए, वह राष्ट्रपति का चुनाव लड़ सकता है, परन्तु दलगत राजनीति में सक्रिय नहीं हो सकता। अनु.155 में संशोधन कर राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से विचार–विमर्श किया जाना चाहिए।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सरकारिया आयोग ने संघ व राज्यों में संघात्मक एकता की दृष्टि से विचार नहीं किया। आयोग राज्यों को नवीन कोई अधिकार सौंपने के पक्ष के स्थान पर मजबूत व सशक्त केन्द्र की स्थापना करना चाहता है।

सरकारिया आयोग की रिपोर्ट में कुल 247 सिफारिशें है जो कि 19 अध्यायों में है, अन्तर्राज्यीय परिषद् द्वारा 195 सिफारिशों को स्वीकृति प्रदान की गयी है। सिफारिशों के कार्यान्वयन का कार्य अन्तर्राज्यीय परिषद् सचिवालय द्वारा किया जा रहा है।

भारत में संघवाद के प्रतिमान :–

केन्द्र एवं इकाईयों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर भारत की संघात्मक व्यवस्था को राजनीतिक तत्वों के परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में चार प्रकार से समझा जा सकता है:–

(अ) केन्द्रीकृत संघवाद (ब) सहयोगी संघवाद (स) एकात्मक संघवाद (द) सौदेबाजी युक्त संघवाद

केन्द्रीकृत संघवाद का प्रतिमान, 1950–67 तक का कालखण्ड केन्द्रीय संघवाद का युग कहा जा सकता है, क्योंकि स्वतन्त्रता संग्राम की मुख्य राजनीतिक पार्टी होने के कारण केन्द्र एवं राज्य (कुछ अपवादों को छोड़कर) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का एकछत्र शासन रहा इसके साथ प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू का करिश्माई व्यक्तित्व भी रहा। उनकी नेतृत्व शक्ति का कोई राज्य विरोध करने का साहस भी नहीं कर सकता था। प्रथम तीन आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी को 3/4 सीटें प्राप्त हुई तथा अन्य विपक्षी दलों को इसका दशांश भी प्राप्त नहीं हो सका। विधानसभा के चुनावों में कुछ स्थानों पर कांग्रेस को बहुमत नहीं मिल सका, इसका महत्वपूर्ण उदाहरण केरल राज्य का है, 1957 में केरल में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में एक गठबंधन सरकार का निर्माण हुआ। इस कालखण्ड में केन्द्रीकरण की सशक्त प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप भारतीय संघवाद राजनीतिक समन्वय और आर्थिक विकास के दोहरे उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना।

सहयोगी संघवाद का प्रतिमान, चतुर्थ आम चुनाव (1967) के पश्चात् संघवाद के प्रतिमान में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा, कांग्रेस पार्टी का एकाधिकार समाप्त होने लगा, साथ ही राज्यों की शक्ति में भी वृद्धि होने लगी, राज्यों के मुख्यमंत्री केन्द्र को प्रभावित करने लगे। कांग्रेस पार्टी में भी 1969 में विभाजन हो गया, लोकसभा में शासक दल अल्पमत में आ गया तथा केन्द्रीय नेतृत्व को राज्यों की मांगों के समक्ष झुकना पड़ा।

1967 के चतुर्थ आम चुनाव के पश्चात् केन्द्र व राज्यों में अनेक संवैधानिक व व्यवहारिक प्रश्नों पर मतभेद उभरे, अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी दलों की सरकारें निर्मित हुई और ये सरकारें पहले के समान केन्द्र के नियंत्रण में रहना उचित नहीं मानती थी। भाषा, केन्द्रीय रिजर्व पुलिस, राज्यपालों की नियुक्ति के प्रश्न पर विवाद उत्पन्न हुए।

उपरोक्त विवादों के पश्चात् भी केन्द्र व राज्यों की एक दूसरे पर निर्भरता के कारण सहयोगी संघवाद का सूत्रपात हुआ। इस व्यवस्था में केन्द्र व राज्य दोनों सरकारें अपने–अपने क्षेत्रों में मजबूत थी। 1967 के आम चुनाव के पश्चात् प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी को मद्रास के अन्नादुराई, उड़ीसा के आर.एन.सिंहदेव, उत्तरप्रदेश के चरण सिंह तथा पंजाब के गुरूनाम सिंह के जैसे गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों का विश्वास प्राप्त था।

शासन के परिचालन के दौरान भी ऐसी संस्थाओं एवं कार्यकरण के नियमों का विकास हुआ है जिससे केन्द्र एवं राज्यों के मध्य सहयोग की प्रवृत्ति का निरन्तर विकास हुआ, भारत में सहयोगी संघवाद को विकसित करने में निम्न संस्थाओं का योग रहा है :–

- योजना आयोग, संघ ने 1950 में बिना विधान बनाए एक योजना आयोग की स्थापना की, यह संविधानेत्तर और असांविधानिक निकाय संघ मंत्रिमण्डल के एक

संकल्प द्वारा (1950 में) बनाया गया। प्रधानमंत्री श्री नेहरू उसके पहले अध्यक्ष थे और इसका उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक विकास के लिए एक समेकित पंचवर्षीय योजना बनाना और इस निमित्त संघ की सरकार के लिए सलाहकारी निकाय के रूप में कार्य करना था।[10]

कुछ विद्वानों का मानना है कि योजना आयोग में भारतीय संघवाद को एकात्मक संघवाद की ओर मोड़ा है जैसा कि के.संथानम लिखते हैं ''नियोजन ने संघ को उल्लंघित कर दिया है और हमारा देश अनेक मामलों में एकात्मक शासन प्रणाली के रूप में कार्य कर रहा है। योजना आयोग के अधीन एक ऊर्ध्वाकार प्रकार का संघ स्थापित हो गया है जबकि संविधान ने एक क्षेत्रीय संघ को स्थापित किया है।''[11] इस सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए डॉ. एम.एस.सईद लिखते हैं कि, ''इस बात में कोई संदेह नहीं कि आर्थिक नियोजन ने राज्यों को केन्द्र सरकार पर इतना अधिक आश्रित बना दिया है कि वह स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य नहीं कर सकते और परिणामस्वरूप भारतीय संघ में एकात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला है।''[12]

- राष्ट्रीय विकास परिषद, योजना आयोग के कार्यकरण से एक और संविधानेत्तर और विधि बाद्य निकाय की स्थापना करनी पड़ी है वह है राष्ट्रीय विकास परिषद्। यह परिषद् 1952 में योजना आयोग के अनुषंग के रूप में बनायी गयी थी जिससे राज्यों को योजनाओं के निर्माण में सहयुक्त किया जा सके, संघ के प्रधानमंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्रियों से मिलकर बनी हुई इस परिषद् के उद्देश्य है, ''योजना के समर्थन में प्रयत्नों को गति देना और उन्हें मजबूत बनाना तथा संसाधनों का इस दृष्टि से उपयोग करना, सभी महत्व के क्षेत्रों में सामान्य आर्थिक नीतियों का प्रोन्नयन करना और देश के सभी भागों का संतुलित और त्वरित विकस सुनिश्चित करना।''[13]

  इस प्रकार नियोजन में राज्यों की भूमिका शून्य नहीं है, आगामी पंचवर्षीय नियोजन से एवं उसके कार्यकरण में केन्द्र एवं राज्यों की समन्वित एवं सहयोगी भूमिका रहती है।

- वित्त आयोग, वित्त आयोग की अनुशंसा के द्वारा ही राज्य सरकारों को कर, आय व अनुदान के रूप में केन्द्र से राशि प्राप्त होती है, जिससे केन्द्र व राज्य परस्पर समन्वय से कार्य कर पाते हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त अखिल भारतीय सेवाएं, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, क्षेत्रीय परिषदें, एकल न्यायिक व्यवस्था, अन्तर्राज्यीय सम्मेलन आदि व्यवस्थाओं के फलस्रूप भारत में सहयोगी संघवाद के प्रतिमान को प्रोत्साहन मिला है।

- एकात्मक संघवाद,1971 के पंचम लोकसभा निर्वाचन तथा 1972 के विधानसभा निर्वाचनों एवं उसके पश्चात्, 1980 के लोकसभा व उसके पश्चात् के विधानसभा चुनावों से एक तथ्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि कांग्रेस पार्टी का सम्पूर्ण देश में आधिपत्य हो गया तथा समस्त शक्ति का स्त्रोत केन्द्र हो गया। केन्द्र सरकार के द्वारा अपनी सुविधा की दृष्टि से संविधान में द्रुतगति से संशोधन किए। जून 1975 से मार्च 1977 तक सम्पूर्ण राष्ट्र में अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल लागू कर दिया गया, जिससे समस्त शक्ति केन्द्र के अधीन हो गयी। जनवरी 1980 में केन्द्र सरकार ने 9 राज्यों की गैर–कांग्रेसी विधान सभाओं को भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया, सम्पूर्ण देश एक दल प्रधान व्यवस्था की ओर उन्मुख हो गया।
- सौदेबाजी युक्त संघवाद, 1977 के आम चुनावों में प्रथम समय केन्द्र में गैर कांग्रेसी दल जनता पार्टी की सरकार निर्मित हुई। इसके साथ ही राज्यों में भी विभिन्न दलों की सरकारें बनी। हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश में जनता पार्टी सत्ता में आयी, पंजाब में जनता दल व अकालीदल, पश्चिमी बंगाल में मार्क्सवादी दल, तमिलनाडु व पाण्डिचेरी में अन्नाद्रमुक, कश्मीर में नेशनल कांफ्रेस केरल में साम्यवादी दल के नेतृत्व वाला मोर्चा, कर्नाटक व आंध्रप्रदेश में कांग्रेसी सरकारें सत्तारूढ़ हुई। केन्द्र की जनता सरकार विभिन्न घटकों से निर्मित होने के कारण गठबंधन सरकार के समान थी अतः यह एक दुर्बल सरकार थी, इसी कारण अनेक राज्यों ने केन्द्र से सौदेबाजी का प्रयत्न किया, इससे भी अधिक गैर जनता दल राज्य सरकारों ने 'राज्य स्वायत्ता' का नारा दिया।

1989 से 2004 के निर्वाचनों से भी भारतीय संघ व्यवस्था में सौदेबाजी युक्त प्रतिमान दृष्टिगोचर होता है। विश्वनाथ प्रताप सिंह (1989), चन्द्रशेखर (1990), पी.वी. नरसिंह राव (1991), एच.डी. देवेगौड़ा (1996), इन्द्र कुमार गुजराल (1997), अटल बिहारी वाजपेयी (1998 व 1999), मनमोहन सिंह (2004) के नेतृत्व में निर्मित सरकारों को स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने के लिए राज्य स्तरीय राजनीतिक दलों पर निर्भर होना पड़ा। अतः उन राजनीतिक दलों ने सदैव केन्द्र से सौदेबाजी की। उदाहरणार्थ 1998 के लोकसभा चुनावों

में किसी भी गठबन्धन को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ तथा अन्नाद्रमुक नेता जयललिता ने समर्थन देने के नाम पर अनेक शर्तें प्रस्तुत की। कावेरी ट्रिब्यूनल के फैसले पर अमल, सभी नदियों का राष्ट्रीयकरण, 69 प्रतिशत आरक्षण को संवैधानिक संरक्षण, आठवीं अनुसूची की सभी भाषाओं को राजभाषा का दर्जा प्रदान करना आदि। इस प्रकार अनेक समर्थक दलों ने केन्द्र से सौदेबाजी की।

केन्द्र एवं राज्यों के मध्य तनाव के प्रमुख क्षेत्र :–

स्वतन्त्र भारत के प्रारम्भिक दशक में केन्द्र एवं राज्यों के मध्य पारस्परिक सहयोग एवं सौहार्द्र भारतीय संघीय व्यवस्था की प्रमुख विशेषता रही है, किन्तु पश्चातवर्ती कालखण्ड में जैसे–जैसे संघीय प्रणाली प्रौढ़ हुई, केन्द्र एवं राज्यों में मतभेद के कारण अनेक मुद्दे उभरे। स्वतन्त्रता के पश्चात् 5 दशकों के कालखण्ड में केन्द्र एवं राज्यों के मध्य सम्बन्धों की स्थिति के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि जब तक केन्द्र एवं राज्यों में एक ही दल की सरकारें रही केन्द्र–राज्य सम्बन्ध अपेक्षाकृत अधिक मधुर रहे, किन्तु केन्द्र एवं राज्य में भिन्न दलों की सरकारों के सत्ता में आते ही दोनों में तनाव एवं अन्तर्विरोध के अनेक तत्वों का जन्म हुआ।

भारत की संघीय व्यवस्था में केन्द्र एवं राज्यों के मध्य मुख्यतः अग्रांकित मुद्दों पर तनाव उत्पन्न हुआ है[14]:–

राज्यों की सीमित शक्तियां, सांविधानिक दृष्टि से भारत के संघीय ढाँचे में शक्तियों का वितरण केन्द्र के पक्ष में किया गया है, राज्यों द्वारा समय–समय पर यह आपत्ति व्यक्त की गयी है कि विधायी एवं प्रशासनिक दृष्टि से राज्यों की स्थिति निर्बल है। 1967 के बाद केन्द्र एवं राज्यों के स्तर पर विपरीत दलों की सरकार बनने के बाद केन्द्र एवं राज्यों के मध्य शक्तियों के पुनर्वितरण की मांग उठायी गयी है।

राज्यपाल की भूमिका, राज्यपाल राज्य का सांविधानिक प्रमुख है, साथ ही केन्द्र का राज्य में प्रतिनिधि भी है। चतुर्थ आम चुनावों के बाद राज्यपाल की भूमिका को लेकर अनेक प्रश्न उत्पन्न हुये हैं, राज्यपाल की नियुक्ति उनका अधिकार क्षेत्र तथा राज्यपालों द्वारा अनुच्छेद 356 को प्रयोग के मुद्दों पर केन्द्र एवं राज्यों के मध्य तनाव उत्पन्न हुए हैं। समय–समय पर राज्य सरकारों ने आरोप लगाए हैं कि राज्यपालों ने अपनी सांविधानिक प्रमुख की भूमिका को गौण मानते हुए केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के प्रतिनिधि की भूमिका का निर्वाह अधिक किया है।

कानून व्यवस्था के क्षेत्र में राज्यों को केन्द्रीय निर्देश, केन्द्र सरकार को सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा तथा केन्द्रीय प्रतिष्ठानों की रक्षा के लिए राज्यों को केन्द्रीय रिजर्व

पुलिस की तैनाती का, निर्देश देने का अधिकार है किन्तु जिन राज्यों में केन्द्र के सत्तारूढ़ दल से भिन्न राजनीतिक दल की सरकार उन राज्यों द्वारा उक्त निर्देशों एवं कार्यवाही को राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप की संज्ञा दी जाती है।

राज्यों पर संघ का अनुचित वित्तीय नियंत्रण, वित्तीय संसाधनों के वितरण व्यवस्था पर राज्यों ने समय–समय पर असन्तोष व्यक्त किया है। राज्यों का आरोप है कि वित्तीय संसाधनों के वितरण का निर्धारण राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त वित्त आयोग एवं प्रधानमंत्री तथा प्रमुख कैबिनेट मंत्रियों की सदस्यता वाले योजना आयोग द्वारा किया जाता है, जिसमें राज्यों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं है, योजना आयोग के माध्यम से केन्द्र द्वारा राज्यों के साथ पक्षपात के आरोप लगाए जाते हैं।

अन्तर्राज्यीय व्यापार एवं अन्तर्राज्यीय विवादों के सम्बन्ध में केन्द्र को नियमन की शक्ति प्राप्त है, जब कभी केन्द्र सरकार द्वारा राष्ट्रीय एवं स्थानीय हितों के संरक्षणार्थ उक्त मुद्दों पर निर्णय लिया है, राज्यों ने केन्द्र पर भेदभाव व हस्तक्षेप का आरोप लगाया है।

राज्यपाल की भूमिका, अनुच्छेद 154(1) के अनुसार राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी और वह इसका प्रयोग स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेंगे। अनुच्छेद 155 के अनुसार राज्यापाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।[15]

भारत में संघात्मक शासन व्यवस्था को स्वीकृत किया गया है परन्तु राष्ट्र की एकता व अखण्डता सुरक्षित बनी रहे इसके लिए केन्द्र का इकाईयों पर नियंत्रण आवश्यक समझा गया है, इसी कारण राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है एवं अनुच्छेद 156 के अन्तर्गत राष्ट्रपति के प्रसादकाल तक राज्यपाल अपने पद पर बना रह सकता है। संविधान निर्माताओं का विचार था कि राज्यपाल कुछ परिस्थितियों में केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करें अतः राज्यपाल निर्वाचित नहीं होता वरन् मनोनीत होता है।

संविधान ने राज्यपाल को व्यापक शक्तियां प्रदान की है, जिनका प्रयोग मंत्रिपरिषद् की सलाह से राज्यपाल द्वारा किया जाता है।

प्रथम, प्रशासनिक शक्ति, राज्यपाल मुख्यमंत्री, मंत्रिपरिषद् और महाधिवक्ता की नियुक्ति करता है। राज्यपाल को साहित्य, विज्ञान, कला के क्षेत्र में विधानपरिषद् के 1/12 सदस्यों के नाम निर्दिष्ट करने की शक्ति है, आदि।

द्वितीय, विधायी शक्तियां, राज्यपाल विधानमण्डल में अभिभाषण देता है, व्यवस्थापिका के अधिवेशन आमंत्रित करता है, स्थगित करता है एवं निम्न सदन को भंग कर सकता है राज्यपाल उसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रख सकता है। कोई भी विधेयक राज्यपाल की स्वीकृति से पास नहीं माना जाता है, राज्यपाल उस

विधेयक को स्वीकार कर सकता है, और अस्वीकृत भी कर सकता है, धन विधेयक न हो तो पुनर्विचार के लिए लौटा सकता है।

तृतीय वित्तीय शक्तियां, राज्यपाल की स्वीकृति के बिना कोई भी वित्त विधेयक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, राज्यपाल की सिफारिश पर अनुदान मांग प्रस्तुत की जाती है। राज्य की संचित निधि राज्यपाल के अधिकार क्षेत्र में ही रहती है।

चतुर्थ, न्यायिक शक्तियां, राज्यपाल राज्य सूची में दिए विषयों के सम्बन्ध में न्यायालय द्वारा दण्डित किए गए व्यक्तियों को क्षमादान प्रदान कर सकता है, दण्ड को कम कर सकता है। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति में राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल से परामर्श करता है जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति और पदोन्नति करता है।

संविधान निर्दिष्ट भूमिका के अतिरिक्त विशेष परिस्थितियों में भी राज्यपाल की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। प्रथम, मुख्यमंत्री की नियुक्ति, निर्वाचन के पश्चात् अगर किसी दल को बहुमत प्राप्त हो जाता है तो राज्यपाल उस दल के प्रमुख को सरकार निर्मित करने के लिए आमंत्रित करता है किन्तु चुनाव के पश्चात् अगर किसी भी दल को बहुमत प्राप्त नहीं होता है तो राज्यपाल स्वविवेक से बहुमत वाले राजनीतिक दल को अथवा राजनैतिक दलों के गठबन्धन को मुख्यमंत्री पद के लिए आमंत्रित करता है।

विधानसभा का अधिवेशन बुलाना, सामान्य रूप से मुख्यमंत्री के परामर्श पर राज्यपाल विधानसभा का अधिवेशन आमंत्रित करते हैं किन्तु विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल अपने विवेक से विधानसभा का अधिवेशन बुलाता है अनुच्छेद 174 के अन्तर्गत किसी महत्वपूर्ण विषय पर तुरन्त विचार के लिए अधिवेशन की कोई भी तिथि सुनिश्चित कर सकता है।

विधानसभा को भंग करना, राज्यपाल विधानसभा भंग करने में स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है, अक्टूबर 1995 में उत्तरप्रदेश राज्य में किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत ना होने के कारण राज्यपाल ने विधानसभा को भंग कर दिया था।

मंत्रिमण्डल को भंग करना, यदि राज्यपाल को इस प्रकार का विश्वास हो जाए कि मंत्रिमण्डल का विधानसभा में बहुमत नहीं है तो राज्यपाल मुख्यमंत्री को बहुमत सिद्ध करने के लिए कह सकता है, और विधानसभा में मुख्यमंत्री बहुमत सिद्ध ना कर पाए तो राज्यपाल मंत्रिमण्डल को पद्च्युत कर सकता है।

केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल, राज्यपाल राज्य का प्रधान होने के साथ–साथ संघीय सरकार का अभिकर्ता भी होता है। केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल निम्न कार्य कर सकता है।

अनुच्छेद 256 एवं 257 के अनुसार संघ की सरकार राज्य की कार्यपालिकाओं को आवश्यक दिशा निर्देश दे सकती है तथा अनुच्छेद 258 के अन्तर्गत कुछ प्रशासनिक कार्य भी राज्य सरकार को सौंप सकती है। इस प्रकार के दिशा निर्देश एवं कार्य राज्यपाल के माध्यम से दिए जाते हैं। राज्यपाल देखता है कि राज्य सरकार इस प्रकार के निर्देशों का पालन कर रही है या नहीं, वह राज्य सरकारों को राष्ट्रपति के निर्देश मानने के लिए बाध्य कर सकता है। यदि राज्य सरकारें संघ सरकार के निर्देशों के अनुसार कार्य नहीं करती है तो राज्यपाल इसे संविधान के विरूद्ध मानकर अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति को संवैधानिक तन्त्र की विफलता की सूचना दे सकता है।

अनुच्छेद 200 के अनुसार राज्य विधामण्डल द्वारा पारित किए गए किसी विधेयक को राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है, उदाहरणार्थ सम्पत्ति के अनिवार्य अधिग्रहण का उच्च न्यायालय की शक्तियों को कम करने से सम्बन्धित विधेयक राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रखे जाएंगे। अनुच्छेद 213 के अनुसार राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया है। किन्तु कुछ विषयों के सम्बन्ध में अध्यादेश जारी करने से पूर्व राष्ट्रपति से स्वीकृति लेनी पड़ती है जैसे कि व्यापार व वाणिज्य की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाना, राज्यों के व्यापारिक सम्बन्धों को सीमित करना। राज्यपाल का एक महत्वपूर्ण कार्य प्रशासन के सम्बन्ध में समय–समय पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना है तथा राष्ट्रपति शासन के दौरान राष्ट्रपति की शक्तियां राज्यपाल प्रयोग करता है।[16]

राज्यपाल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष भी होता है। साथ ही केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करता हैं किन्तु व्यवहार में द्वितीय भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। विशेष स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जबकि केन्द्र में भिन्न राजनैतिक दल की सरकार हो और राज्य में भिन्न। व्यावहारिक तौर पर जब कभी इन दोनों भूमिकाओं में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तब राज्यपाल संघ सरकार के प्रतिनिधि के रूप में अपनी भूमिका का निर्वहन करते हैं। के.वी.राव ने इस सम्बन्ध में कहा है कि आज जैसी उसकी ख्याति है उसे केन्द्र द्वारा नियुक्त किया व हटाया जाता है। राज्यपाल वही है जो केन्द्र उसे बनाना चाहता है, वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है जो राज्यपाल अपने आप कर सकें। उसकी भूमिका इस पर निर्भर है जो पीछे बैठा व्यक्ति अपनी डोरियों से कर रहा है।[17]

विरोधी दल समय–समय पर इस प्रकार की शिकायत करते हैं कि केन्द्र का शासक दल राज्यपाल पद का उपयोग स्वयं के राजनीतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए करता है। अगस्त 1988 में राज्यपाल द्वारा नागालैण्ड में राष्ट्रपति शासन की सिफारिश

करना तथा अप्रैल 1989 में कर्नाटक के राज्यपाल वेंकटसुब्बैया द्वारा राज्य में राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करना स्वविवेक की शक्ति के निष्पक्ष एवं तर्क संगत प्रयोग के उदाहरण नहीं है। जनवरी 1993 में राज्यपालों द्वारा राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और मध्यप्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करना पक्षपातपूर्ण आचरण था। अक्टूबर 1996 में विधानसभा चुनावों के पश्चात् सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी भाजपा को सरकार बनाने का आमंत्रण न देकर उत्तरप्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने 18 अक्टूबर की रात्रि को पुनः राष्ट्रपति शासन लगावाने की सिफारिश की थी। 19 अक्टूबर 1997 को कल्याण सिंह सरकार से मायावती ने समर्थन वापस ले लिया तो राज्यपाल भण्डारी ने 21 अक्टूबर को सदन में कल्याण सिंह को बहुतम सिद्ध कर दिए जाने के बावजूद राष्ट्रपति शासन लगाने की सिफारिश की थी। कल्याण सिंह को बहुमत साबित करने के लिए 36 घण्टे का समय दिया गया, जबकि गुजरात के राज्यपाल कृष्णपाल सिंह ने शंकर सिंह बाघेला को सात दिन का मौका दिया।[18]

भारतीय राजव्यवस्था के हित के दृष्टिकोण से यह उचित है कि राज्यपाल संवैधानिक प्रधान व संघीय प्रतिनिधि के रूप में सामंजस्य स्थापित करे जिससे केन्द्र व राज्य के मध्य होने वाले अनावश्यक तनाव को समाप्त किया जा सकें।

स्पष्ट है कि केन्द्र एवं राज्यों के मध्य संस्थागत, कार्यात्मक एवं वित्तीय मुद्दों पर मतभेद एवं तनाव उभरे हैं इनके निवारणार्थ समय–समय पर समितियों व आयोगों का गठन किया गया है।

केन्द्र–राज्य सम्बन्ध व्यवहारिक स्थिति :–

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रारम्भिक दशकों में संघ तथा राज्यों के मध्य सहयोग एवं सौहार्द की स्थिति बनी रही। केन्द्र–राज्य सम्बन्धों का विश्लेषण करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि जब केन्द्र एवं राज्यों में एक ही दल की सरकार होती है तब सम्बन्ध अपेक्षाकृत मधुर होते हैं। यद्यपि राजस्थान के संदर्भ में इसके कुछ अपवाद हैं किन्तु केन्द्र एवं राज्यों में भिन्न–भिन्न दल की सरकारों के सत्ता में आते ही अन्तर्विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

1967 के आम चुनावों तक केन्द्र व राज्यों में एक ही दल की कांग्रेस की ही सरकार थी (केरल जैसे अपवादों को छोड़कर) उस समय के विवादों को अन्तर्दलीय मामला मानकर निराकरण कर दिया जाता था, तत्कालीन विवादास्पद मुद्दों से कभी गतिरोध उत्पन्न नहीं हुआ, मात्र पारस्परिक विचार–विमार्श के द्वारा ही इन्हें हल कर दिया जाता था। 1967 के चतुर्थ आम चुनावों के पश्चात् अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी दलों की सरकारें

बनी और भारत की संघात्मक व्यवस्था एक दलीय प्रणाली से बहुदलीय प्रतियोगात्मक प्रणाली की ओर उन्मुख हुई।

यद्यपि राजस्थान में प्रथम समय 1977 में गैर कांग्रेसी दल जनता पार्टी की सरकार निर्मित हुई और 2 वर्ष पश्चात् पुनः कांग्रेस की सरकार बनी और 10 वर्ष तक (1990 तक) कांग्रेस दल का राजस्थान की राजनीति पर प्रभुत्व रहा। 1989 से पूर्व जब राजस्थान और केन्द्र में अनेक बार गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हुई थी कुछ प्रमुख घटनाओं का संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है :–

1967 का वर्ष राजस्थान की राजनीति के लिए ऐतिहासिक रहा जबकि कांग्रेस को विपक्षी दलों द्वारा कड़ी चुनौती प्रस्तुत की गयी थी, 184 दलों की विधानसभा में कांग्रेस को मात्र 88 तथा विपक्षी दलों व निर्दलीयों को 95 स्थान प्राप्त हुए। संयुक्त विधायक दल का निर्माण किया गया तथा राज्यपाल सम्पूर्णानन्द से सरकार निर्मित करने के लिए आमंत्रित करने का आग्रह किया, किन्तु राज्यपाल ने कांग्रेस नेता मोहनलाल सुखाड़िया को ही सरकार निर्माण के लिए आमंत्रित किया, जयपुर में इसका तीव्र विरोध हुआ, आगजनी पथराव आदि घटनाऐं हुई पुलिस की गोलियों से 49 व्यक्ति घायल हुए तथा 9 व्यक्ति मारे गये। विपक्ष ने राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के समक्ष बहुमत प्रस्तुत किया, राजस्थान में गोलीकाण्ड के पश्चात् स्थिति भयानक हो गयी, राज्यपाल की सिफारिश पर 13 मार्च 1967 को राष्ट्रपति शासन लागू हो गया इस अवधि में कांग्रेस ने दल बदल करवाकर बहुमत स्थपित कर लिया। यद्यपि राष्ट्रपति शासन की सम्पूर्ण देश में घोर आलोचना हुई।

द्वितीय महत्वपूर्ण विवाद राष्ट्रपति के चुनाव को लेकर उत्पन्न हुआ, तत्कालीन प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी और सिंडिकेट की गुटबाजी 1969 में स्पष्ट रूप से सामने आ गयी राष्ट्रपति जाकिर हुसैन की मृत्यु के कारण राष्ट्रपति का पद रिक्त हो गया तथा इन्दिरा गांधी की असहमति के बाद भी सिंडिकेट के सदस्यों ने लोकसभा अध्यक्ष एन. संजीव रेड्डी को कांग्रेस के उम्मीदवार के रूप में प्रस्तुत किया। इन्दिरा गांधी ने तत्कालीन उपराष्ट्रपति वी.वी.गिरी को बढ़ावा दिया तथा स्वतन्त्र उम्मीदवार के रूप में इनका समर्थन किया। इन्दिरा गांधी ने सभी विधायकों व सांसदों को अन्तरात्मा की आवाज पर वोट डालने को कहा जिसका प्रत्यक्ष अर्थ था कि विधायक व सांसद अपनी मर्जी से किसी भी उम्मीदवार को वोट डाल सकते हैं। इस प्रकार की स्थिति से राजस्थान के मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाड़िया असमंजस की स्थिति में आ गए, उन्होंने स्पष्ट कहा कि प्रधानमंत्री के तौर पर इन्दिरा गांधी का ही समर्थन करते हैं परन्तु राष्ट्रपति पद के लिए संगठन के उम्मीदवार का ही समर्थन करेंगे। इन्दिरा गांधी सुखाड़िया से क्रुद्ध हो गयी, लोकसभा के मध्यावधि चुनावों

में अत्यन्त शक्तिशाली नेता के रूप में उभरी तथा बहुमत होने के बाद सुखाड़िया के लिए दुष्कर स्थिति उत्पन्न कर दी और 9 जुलाई 1971 को सुखाड़िया को त्यागपत्र देना पड़ा।

एक अन्य महत्वपूर्ण घटना जिसके द्वारा भारतीय लोकतंत्र को क्षति पहुंची। प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी द्वारा 25 जून 1975 को आपातकाल की घोषणा कर दी और सम्पूर्ण देश में आपातकाल लागू हो गया। आपात काल लागू करने के पीछे अनेक कारण थे :–

प्रथम 12 जून 1975 को समाजवादी नेता राजनारायण द्वारा दायर चुनाव याचिका के मामले में न्यायाधीश जगमोहन लाल सिन्हा ने लोकसभा के लिए इन्दिरा गांधी के निर्वाचन को अवैधानिक घोषित कर दिया। दूसरी ओर जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में विपक्षी दलों ने प्रधानमंत्री के इस्तीफे के लिए दबाव डाला। इन दलों ने 25 जून 1975 को दिल्ली के रामलीला मैदान में विशाल प्रदर्शन किया, जयप्रकाश ने सेना, पुलिस और सरकारी कर्मचारियों का आह्वान किया कि वे सरकार के अनैतिक और अवैधानिक आदेशों का पालन ना करें। सम्पूर्ण देश का राजनीतिक वातावारण कांग्रेस के विरूद्ध हो गया, इन घटनाओं के जवाब में प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी द्वारा 25 जून 1975 को देश में आन्तरिक अशांति के नाम पर संविधान का अनुच्छेद 352 लागू कर दिया।

अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत सरकार आन्तरिक अशांति होने पर देश में आपातकाल लागू कर सकती है।

यहां उल्लेखनीय है कि जनता पार्टी की सरकार ने सन् 1978 में महत्वपूर्ण संवैधानिक संशोधन किया, जिसके द्वारा अनु. 356 का दुरूपयोग ना किया जा सकें।

44वां संवैधानिक संशोधन (1978):– राष्ट्रीय आपातकाल की उद्घोषणा 'आन्तरिक अशांति' के आधार पर नहीं की जा सकती वरन् 'सशस्त्र विद्रोह' के आधार पर की जा सकती है। 18 माह के आपातकाल के पश्चात् जनवरी 1977 में सरकार ने चुनाव करवाने का निर्णय लिया, जिसके तहत् सभी नेताओं को जेल से रिहा किया गया तथा मार्च 1977 में निर्वाचन हुए। मार्च 1977 में लोकसभा के चुनाव में 9 राज्यों पंजाब, हिमाचलप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा में कांग्रेस पार्टी को भारी पराजय का सामना करना पड़ा। जनता पार्टी के तत्कालीन गृहमंत्री चरणसिंह ने एक पत्र लिखकर उपरोक्त 9 राज्यों के मुख्यमंत्रियों को अपने–अपने राज्यपालों से विधानसभाओं को भंग करने का परामर्श दिया जिसे मुख्यमंत्रियों ने अस्वीकार कर दिया। इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने उच्चतम न्यायालय में याचिका दायर करके केन्द्र को संभावित बर्खास्तगी रोकने की अपील की परन्तु उच्चतम न्यायालय ने इस याचिका को निरस्त कर दिया, (यहां उल्लेखनीय है कि उस कालखण्ड में मिर्जा हमीदुल्ला बेग सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य

न्यायाधीश थे, जिन्हें केन्द्र सरकार ने अपनी पसन्द के आधार पर वरिष्ठता का उल्लंघन करके मुख्य न्यायाधीश बनाया था)। फलस्वरूप 29 अप्रैल, 1977 को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में उक्त 9 राज्यों की विधानसभाओं को भंग करने का निर्णय लिया, तत्कालीन राष्ट्रपति बी.डी. जत्ती के केन्द्रीय मंत्रिमण्डल द्वारा लिये गये निर्णय पर सहमति न देने पर देश में राजनीतिक गत्यावरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई, अन्त में उन्हें 42वें संविधान संशोधन की उस व्यवस्था से अवगत कराया गया जिसमें राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सलाह को अनिवार्य रूप से मानने के लिए बाध्य हैं। तब राष्ट्रपति ने उपरोक्त 8 राज्यों की विधानसभा को भंग करने की उद्घोषणा पर हस्ताक्षर कर दिए, देश में यह प्रथम अवसर था जबकि राज्यपालों के प्रतिवेदनों के बिना राष्ट्रपति ने अपनी स्वयं की 'सन्तुष्टि या समाधान' के आधार पर इतने राज्यों में एक साथ निर्वाचित सरकारों को बर्खास्त करके अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू किया। इस घटनाक्रम से अनेक संवैधानिक तथा राजनीतिक प्रश्न उजागर हुए। इससे यह महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आया कि लोकसभा चुनाव को आधार मानकर राज्य विधानसभाओं को बर्खास्त करना न्यायोचित कदम है।

(यहां उल्लेखनीय है कि 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा राष्ट्रपति को केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् की सिफारिश को पुनर्विचार के लिए लौटाने का अधिकार प्रदान किया गया, जो कि राष्ट्रपति के विवेकाधिकारों में वृद्धि करने वाला महत्वपूर्ण संशोधन है।)

1980 में तृतीय समय राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 1980 में इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस(आई) को लोकसभा में 2/3 बहुमत प्राप्त कर सत्ता में वापसी की, इसके साथ राज्यों में कार्य कर रही इन सरकारों का अस्तित्व संकट में आ गया, जहां लोकसभा चुनाव में कांग्रेस(आई) को भारी बहुमत प्राप्त हुआ परन्तु राज्य विधानसभाओं में दूसरे राजनीतिक दल की सरकार थी। इन्दिरा गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार ने अप्रैल, 1977 के जनता पार्टी की सरकार के उदाहरण को दोहराते हुए, 9 राज्यों– उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र और तमिलनाडु की विपक्षी दलों की राज्य विधानसभाओं को बर्खास्त कर दिया। 18 फरवरी, 1980 को तत्कालीन राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् द्वारा भेजी गयी उद्घोषणा पर हस्ताक्षर करके इन राज्यों में अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। सभी विपक्षी दलों ने केन्द्र के निर्णय की कठोर आलोचना करते हुए इसे अलोकतांत्रिक व संविधान विरोधी करार दिया। संवैधानिक दृष्टि से केन्द्र सरकार का यह निर्णय उपयुक्त नहीं था।

सन् 1980 से 1990 तक राजस्थान में तथा 1989 तक केन्द्र में कांग्रेस की सरकार रही। परन्तु 1990 में राजस्थान की राजनीति में परिवर्तन हुआ, यह परिवर्तन यकायक नहीं वरन् शनैः–शनैः 10 वर्षों की राजनीति के परिणामस्वरूप परिलक्षित हुआ। इन 10 वर्षों के कालखण्ड में भाजपा ने स्वयं को मजबूत राजनीतिक दल बनाने के भरसक प्रयत्न किए, तथा अयोध्या में राममंदिर निर्माण की मांग को भाजपा ने हिन्दू जनता को भावना को उद्वेलित करने वाला महत्वपूर्ण मुद्दा बना दिया, कांग्रेस पर बोफोर्स तोप सौदे में हुए भ्रष्टाचार के कारण अनेक आरोप–प्रत्यारोप लगे, राजस्थान में उपुर्यक्त दस वर्षों में 6 बार मुख्यमंत्रियों मे बदलाव किया गया। भाजपा व जनता दल के मध्य चुनावी गठबन्धन में 1990 के विधानसभा निर्वाचन में कांग्रेस परास्त हुई, भाजपा 85 सीटों के साथ सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी तथा उसकी भागीदार जनता पार्टी ने भी 55 सीटें प्राप्त की। चार मार्च 1990 को भाजपा के नेता भैरोसिंह शेखावत ने मुख्यमंत्री पद की शपथ ली।

1989 के लोकसभा चुनावों में केन्द्र में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ, वहां वी.पी.सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार को भाजपा ने बाहर से समर्थन दे रखा था।

राजस्थान में भाजपा की सरकार को सात माह भी नहीं हुए थे कि केन्द्र व राजस्थान दोनों ही स्थानों पर विवाद की स्थिति उत्पन्न हो गयी। भाजपा ने अयोध्या में बाबरी मस्जिद के स्थान पर राममंदिर निर्माण के लिए देश में जबरदस्त भावनात्मक युद्ध छेड़ रखा था, भाजपा के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी ने सोमनाथ (गुजरात) से अयोध्या तक की रथयात्रा प्रारम्भ कर रखी थी, 23 अक्टूबर 1990 को जनतादल के मुख्यमंत्री लालूप्रसाद यादव ने अपने राज्य बिहार में विघ्न व उपद्रव उपस्थित करने के लिए आडवाणी को गिरफ्तार कर लिया, इसके विरोध में भाजपा ने केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे की वी.पी.सिंह सरकार को बाहर से दिया जा रहा समर्थन वापस ले लिया, इससे केन्द्रीय सरकार अल्पमत में आ गयी, इसी के प्रतिरोध में जनतादल के अध्यक्ष तथा प्रधानमंत्री सिंह के निर्देश पर राजस्थान में जनता दल ने शेखावत की संयुक्त सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। राजस्थान में जनता दल दो भागों में विभाजित हो गया, राज्यमंत्री देवीसिंह भाटी को छोड़कर दल के सात मंत्रियों नत्थीसिंह, सम्पतराम, प्रो. केदारनाथ, दिग्विजयसिंह, डॉ. चन्द्रभान, सुमित्रा सिंह तथा मदन कौर और चार राज्य मंत्रियों फतहसिंह, गोपाल सिंह खण्डेला, तथा रामेश्वर दयाल यादव ने 26 अक्टूबर और नफीस अहमद खां ने 27 अक्टूबर 1990 को मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिये। यद्यपि जनता दल के मंत्रियों ने त्यागपत्र दे दिए थे, किन्तु जनता दल के एक वर्ग में समर्थन वापस लेने के प्रश्न पर पुनर्विचार का वातावरण तैयार हो गया था। राजस्थान में 2 नवम्बर 1990 को इस प्रश्न पर विचार करने के लिए जनता दल के

विधायकों की बैठक में बहुमत से यह निर्णय हुआ कि 8 नवम्बर को विधानसभा में भाजपा सरकार के विरूद्ध मतदान किया जाए, किन्तु पदत्यागे मंत्री दिग्विजय सिंह के नेतृत्व में 18 विधायकों ने निर्णय का विरोध करते हुए बैठक का बहिष्कार किया। तीन दिन बाद 5 नवम्बर को जनता दल के बीस बागी विधायकों ने अपने नेता नत्थीसिंह के नेतृत्व में ही चुनौती दे डाली और दिग्विजय सिंह के नेतृत्व में नया दल जनता दल (दि.) की घोषणा की। जनता दल (दि.) के समर्थन से भाजपा की सरकार बनी रही।

अक्टूबर 1990 का कालखण्ड भारत देश के राजनीतिक घटनाक्रम के लिए ऐतिहासिक हो गया था, केन्द्र में वी.पी.सिंह के स्थान पर कांग्रेस के समर्थन से चन्द्रशेखर ने सत्ता प्राप्त की, भाजपा अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी की गिरफ्तारी के विरोध में 24 अक्टूबर को भारत बन्द रहा और अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे हुए जिनमें दर्जनों व्यक्ति मारे गए केन्द्र में हुई इन घटनाओं का प्रभाव राजस्थान में भी हुआ, जयपुर तथा टोंक में हिन्दू मुस्लिम दंगे हुए जिनमें भारी जन–धन की क्षति पहुंची। इन साम्प्रदायिक दंगों के पीछे राममंदिर बाबरी मस्जिद का विवाद था जो आज भी वोटों की राजनीति का मुद्दा बना हुआ है।

दिल्ली में 1977 की तरह ही कांग्रेस ने अपने नेता पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी की पुलिस निगरानी कराने के आरोप में चन्द्रशेखर सरकार से समर्थन वापस ले लिया, इससे सरकार अल्पमत में आ गयी। प्रधानमंत्री की सलाह पर 13 मार्च, 1991को लोकसभा भंग कर दी गयी व 20 तथा 23 मई को मध्यावधि चुनाव की घोषणा की गयी।

1991 के लोकसभा चुनावों से राजस्थान में राजनीतिक दलों का ध्रुवीकरण हुआ, कांग्रेस को 13 तथा भाजपा को 12 सीट प्राप्त हुई तथा राम लहर के कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भाजपा के पक्ष में जबरदस्त वातावरण था, परन्तु 21 मई 1991 की रात्रि को महिला आत्मघाती द्वारा पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी की नृशंस हत्या कर दी गयी, इससे सम्पूर्ण भारत में कांग्रेस के पक्ष में सहानुभूति की लहर जागृत हुई तथा जनता में जबरदस्त रोष था। इस वीभत्स घटना ने राम लहर को अधिक प्रभावित किया, परन्तु कांग्रेस विरोधी वातावरण में कुछ कमी अवश्य हुई। राजस्थान में मतदान की दिनांक में चुनाव आयोग द्वारा परिवर्तन किया गया, तत्कालीन चुनाव आयुक्त टी.एन. शेषन थे, जिन्होंने चुनाव प्रक्रिया में आचार संहिता को प्रभावी बनाया, निर्वाचन में सुधार हुआ, मतदान प्रतिशत में वृद्धि हुई तथा आयोग की सक्रियता परिलक्षित हुई। लोकसभा में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त ना हो सका, अतः अन्ना डी.एम.के. के समर्थन से कांग्रेस नेता पी.वी. नरिसिंह राव ने सरकार का निर्माण किया।

मण्डल आयोग, केन्द्र सरकार ने 1973 में पिछड़े वर्ग की स्थिति को सुधारने के लिए पिछड़े वर्ग आयोग का गठन किया गया, इसके अध्यक्ष बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल के नाम पर इसे 'मण्डल कमीशन' भी कहा जाता है। अगस्त 1990 में राष्ट्रीय मोर्चे की वी.पी. सिंह सरकार ने मण्डल आयोग की सिफारिशों में से एक को लागू करने का निर्णय किया, यह सिफारिश केन्द्रीय सरकार और उसके उपक्रमों की सेवाओं में अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण देने के सम्बन्ध में भी, सरकार के इस निर्णय से उत्तर भारत के अनेक शहरों में हिंसक विरोध का स्वर उमड़ा, सवर्ण जातियों के बेरोजगारों द्वारा आरक्षण के विरूद्ध आत्मदाह जैसी घटनाएं हुई, जनजीवन उच्छृंखलित हो गया, बन्द, प्रदर्शन, रोष, मार्ग अवरूद्ध करना सामान्य बात हो गयी।

राजस्थान में भी निश्चित रूप से इसका प्रभाव पड़ा अजमेर, कोटा व जयपुर में आत्मदाह के प्रयत्न किए गए, समाज जातियों में विभक्त हो गया तथा राजस्थान का वातावरण भी केन्द्र के समान ही वीभत्स हो गया।

राष्ट्रपति शासन, मुख्यमंत्री भैरोसिंह शेखावत का द्वितीय कार्यकाल भी पहले कार्यकाल के समान ही राष्ट्रपति शासन के द्वारा प्रभावित हुआ, अयोध्या में राम मंदिर निर्माण के लिए भाजपा के नेतृत्व में रथयात्रा का कार्य प्रारम्भ हुआ, देशभर में हजारों कार सेवक अयोध्या पहुंचे राजस्थान का जत्था भी बहुत बड़ा था, 6 दिसम्बर 1992 को विवादास्पद ढ़ाँचे को गिरा दिया गया। जिसकी विश्वभर में तीखी प्रतिक्रिया हुई। भारत में स्थान–स्थान पर साम्प्रदायिक दंगे हुए, राजस्थान भी इससे अछूता ना रह सका, जयपुर, टोंक आदि जिलों में आगजनी व प्रदर्शन हुए, पुलिस व दंगाईयों के मध्य संघर्ष हुआ, अनेक घायल हुए व आगजनी से अकूत सम्पति को नुकसान पहुंचा। उपर्युक्त घटनाओं पर रोक लगाने में विफल रहने की राज्यपाल की रिपोर्ट पर केन्द्र सरकार ने 15, सितम्बर 1992 को भैरोंसिंह शेखावत की सरकार को बर्खास्त कर राज्य में अनुच्छेद 356 के तहत् राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया तथा उसी दिन विधानसभा भंग कर दी। शासन कार्य में राज्यपाल की सहायता करने के उद्देश्य हेतु केन्द्र सरकार ने राज्य के पूर्व मुख्य सचिव वी.पी.एल. माथुर व पूर्व गृह आयुक्त एल.एल. गुप्ता एवं राज्य अन्वेषण ब्यूरो के पूर्व महानिदेशक ओ.पी. टंडन को राज्य का सलाहकार नियुक्त कर दिया। चतुर्थ समय लागू किया यह राष्ट्रपति शासन लगभग 1 वर्ष तक रहा।

10वीं विधानसभा के लिए 1993 में चुनाव हुए और भैरोंसिंह शेखावत के नेतृत्व में पुनः भाजपा ने सरकार निर्मित की शेखावत के कार्यकाल में पंचायतीराज व नगरीय स्वशासन को सुदृढ़ करने वाले 73वें और 74वें संविधान संशोधन हुए। 11वीं विधानसभा के

चुनाव दिसम्बर 1988 में हुए इसमें कांग्रेस विजयी रही और अशोक गहलोत के नेतृत्व में सरकार का निर्माण किया। कांग्रेस ने 200 में से 153 सीटें प्राप्त कर ऐतिहासिक कीर्तिमान स्थापित किया। अशोक गहलोत सरकार ने आधारभूत ढाँचे को सशक्त किया, एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'राजस्थान सूचना अधिकार अधिनियम' सन् 2000 में विधानसभा द्वारा पारित किया गया। 12वीं विधान सभा चुनाव दिसम्बर 2003 में सम्पन्न हुए और राजस्थान के इतिहास में प्रथम समय कोई महिला मुख्यमंत्री निर्वाचित हुई एवं पुनः भाजपा के नेतृत्व में सरकार का गठन हुआ। वसुन्धरा राजे सिन्धिया मुख्यमंत्री बनी। 200 में से भाजपा को 120 सीटें प्राप्त हुई। 13वीं विधानसभा दिसम्बर 2008 में अशोक गहलोत के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार निर्मित हुई।

संदर्भ सूची :–

1. बसु, डी.डी. : भारत का संविधान, वाधवा एण्ड कम्पनी, नागपुर, 2001, पृ0 5
2. उपर्युक्त : पृ. 53, 54
3. उपर्युक्त : पृ0 56
4. उपर्युक्त : पृ0 56–57
5. व्हेयर, के.सी. : फेडरल गवर्नमेन्ट, ऑक्सफोर्ड युनिर्वसिटी प्रेस, लन्दन, 1971, पृ0 28
6. ग्रेनविल ऑस्टिन : दी इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, ऑक्सफोर्ड युनिर्वसिटी प्रेस, यू.एस. ए, 1999, पृ0 236
7. मंगलानी, रूपा : भारतीय शासन एवं राजनीति, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2005, पृ0 179
8. उपर्युक्त : पृ0 182, 183
9. उपर्युक्त : पृ0 183, 184, 185
10. बसु, डी.डी. : उपर्युक्त पृ0 33
11. संथानम, के. : यूनियन स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1960
12. सईद, एम.एस. : भारतीय राजनीतिक प्रणाली, मैकमिलन, दिल्ली, 1978 पृ0 174
13. बसु, डी.डी. : उपर्युक्त पृ0 332
14. उपर्युक्त : पृ0 188

15. ब्रास, पॉल : दि पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिन्स इंडिपेन्डेन्स, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज 1990, पृ0 116
16. सिंह, महेन्द्र प्रताप : भारतीय शासन एवं राजनीति, ओरियेन्ट ब्लैकस्वॉन प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011, पृ0 241
17. राव, के.वी. : पेपर ऑन द रोल ऑफ स्टेट गर्वनमेन्ट इन इण्डिया, इन इण्डियन पॉलिटिकल साइन्स रिव्यू, दिल्ली नं. 3 व 4, 1968, पृ0 175
18. डॉ. जैन, पुखराज व डॉ. फडिया, बी.एल. : भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2008, पृ0 556

चतुर्थ अध्याय
राजस्थान में राजनीतिक दल

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों में राजनीतिक दल एक महत्वपूर्ण आयाम है, प्रत्येक जनतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था में तथा आधुनिकता के प्रतीक माने जाने के कारण निरंकुश व्यवस्थाओं में भी राजनीतिक दलों का अस्तित्व पाया जाता है। संसदीय शासन व्यवस्था हो या अध्यक्षात्मक दल प्रणाली के अभाव में उनका संचालन असंभव है। राजनीतिक दल जनता के विचारों और दृष्टिकोणों को व्यवस्थित और क्रमबद्ध कर नेतृत्व प्रदान करते हैं, लोकमत के निर्माण और अभिव्यक्ति के सर्वोत्कृष्ट साधन हैं, वे निर्वाचनों में अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं, अपनी नीतियों का प्रचार प्रसार करते हैं, विजयी दल सरकार निर्मित करते हैं एवं पराजित विपक्ष के रूप में आलोचना करते हैं। अतः प्रतिनिधि शासन व्यवस्था का संचालन राजनीतिक दलों द्वारा किया जाता है, इसलिए उन्हें लोकतन्त्र का प्राण तथा शासन का चतुर्थ अंग कहा जाता है।

राजनीतिक दल एक राजनीतिक संगठन है जिसका उद्देश्य सरकार निर्मित कर शासन करना होता है। रेने तथा केन्डल के अनुसार राजनीतिक दल संगठित स्वायत्त समूह है जो सरकार की नीतियों एवं कर्मचारियों पर अन्ततः नियंत्रण प्राप्त करने की अपेक्षा चुनाव में उम्मीदवारों का नामांकन करते हैं और चुनाव लड़ते है।[1] सैमुअल जे. एल्डर्स वेल्ड के मतानुसार दल एक शासन तन्त्र या राजनीति है, यह एक सुक्ष्म राजनीतिक व्यवस्था है, इसकी एक सत्ता संरचना होती है और शक्ति नियंत्रण के विशिष्ट प्रतिमान होते हैं, इसकी प्रतिनिधात्मक प्रक्रिया होती है, एक निर्वाचन प्रणाली रहती है तथा आन्तरिक व्यवस्था संघर्षों का समाधान करने, गन्तव्यों की व्याख्या करने और नेताओं की भर्ती की एक उपप्रक्रिया होती है, कुल मिलाकर दल एक निर्णय प्रक्रिया है।[2]

प्रत्येक राजनीतिक दल का प्रथम एवं प्रमुख उद्देश्य सत्ता प्राप्ति के लिए या शासन में रहने के लिए अन्य दलों, समूहों व संगठनों पर प्रभावी होना है। सत्ता प्राप्ति के साधनों का भी राजनीतिक दल की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है अतः येन–केन प्रकारेण शासन प्राप्ति के लिए हर साधन का प्रयोग करने वाला राजनीतिक दल नहीं हो सकता, पुरातन दृष्टिकोण के अनुसार शासन व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करते हुए, निर्वाचक गणों के समक्ष नेताओं और उम्मीदवारों को प्रस्तुत करके प्रचार तथा प्रतियोगी दल पद्धति के आधार पर अन्य दलों से विचारधारागत भेदों पर जोर देते हुए जनता से सहयोग की आकांक्षा वाला समूह ही राजनीतिक दल होता है। ला पालोम्बरा व माइरन वीरन[3] ने किसी भी

राजनीतिक दल के लिए 4 विशेषताएं स्पष्ट की है, संगठन की निरन्तरता अर्थात् एक ऐसा संगठन जिसका सम्भावित कार्यकाल उसके मौजूदा नेताओं के कार्यकाल पर आश्रित नहीं हो, स्थानीय स्तर पर प्रकट और संभवतः स्थायी संगठन हो तथा स्थानीय और राष्ट्रीय निकायों के मध्य नियमित सम्प्रेषण और अन्य सम्बन्ध हों। राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों ही स्तरों पर नेताओं का न केवल सत्ता के प्रयोग को प्रभावित करने वरन् सत्ता प्राप्त करने और अकेले या किसी अन्य दल से मिलकर निर्णय करने की सत्ता बनाए रखने का स्वचेतन संकल्प हो। संगठन को चुनावों में समर्थन जुटाने की उद्विग्नता हो या किसी न किसी माध्यम से जनसमर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो।

राजनैतिक दलों की उत्पत्ति के सिद्धान्त :–

सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक सहयोगिता का तत्व रहता है अतः राजनीतिक दलों की उत्पत्ति की परिस्थितियां हर राजनीतिक व्यवस्था में न्यून या अधिक मात्रा में निहित रहती है। ला पालोम्बरा व माइरन वीनर[4] ने राजनीतिक दलों की उत्पत्ति के तीन सिद्धान्तों का उल्लेख किया है – (क) संस्थात्मक सिद्वान्त (ख) ऐतिहासिक संकट सिद्धान्त (ग) विकासवादी सिद्धान्त।

संस्थात्मक सिद्धान्त – राजनीतिक दलों की उत्पत्ति राजनीतिक व्यवस्था की संस्थागत संरचना से होती है,संस्थागत संरचना में संसद, निर्वाचन प्रणाली एवं सत्ता के विभाजन को लिया जा सकता है। फ्रांस और ब्रिटेन में राजनीतिक दलों की उत्पत्ति संसद के द्वारा हुई है, संसद में निर्णय की प्रक्रिया बहुमत पर आधारित होने के कारण दो गुट निर्मित हो जाते हैं, निर्णय में सहयोगी और आलोचना करने वाले समूह। यह समूह शनैः–शनैः स्थायी एवं व्यवस्थित होकर राजनीतिक दल का स्वरूप धारण कर लेता है। संसद के बाहर भी विरोध आन्दोलनों तथा नीति समर्थनों में जनता संगठित होकर राजनीतिक दल का निर्माण करती है। राजनीतिक दल के उद्भव में निर्वाचन प्रणाली की भी महती भूमिका है, निर्वाचन प्रणाली और राजनीतिक दल के मध्य सावयव सम्बन्ध है, परन्तु दल व्यवस्था की उत्पत्ति में अनेक कारक भी महत्वपूर्ण हैं अतः केवल किसी राजनीतिक व्यवस्था में दल व्यवस्था की उत्पत्ति व प्रकृति निर्वाचन प्रणाली द्वारा ही नहीं समझी जा सकती है। उदाहरणस्वरूप सामान्य बहुमत प्रणाली द्विदलीय व्यवस्था को सीमित नहीं करती परन्तु वैसी परिस्थितियां अवश्य ही उत्पन्न करती है, जो दो दल स्थापित भी कर सकती है और नहीं भी। अमेरिका तथा ब्रिटेन में द्विदलीय व्यवस्था निर्वाचन पद्धति का ही परिणाम है किन्तु श्रीलंका, भारत, कनाड़ा एवं आस्ट्रेलिया में यह प्रणाली द्विदलीय व्यवस्था की स्थापना करने में सहायक नहीं रही।

सत्ता का छितराव भी राजनीतिक दलों के उद्‌भव में सहायक है, संघात्मक शासन व्यवस्था में क्षेत्रीय दलों की उत्पत्ति एवं प्रभावशीलता की प्रेरणा राजनीतिक शक्ति का विभाजन ही देता है।

ऐतिहासिक संकट सिद्धान्त– ऐतिहासिक घटनाओं के कारण भी राजनीतिक दलों की उत्पत्ति होती है जैसे स्वतन्त्रता संग्राम ने नवीन राज्यों में दल निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, भारत में 1885 में कांग्रेस की स्थापना इसका उदाहरण है। यह संकट तीन प्रकार का हो सकता है, वैधता का संकट, सहयोगिता का संकट, प्रादेशिक एकीकरण का संकट।

विकासवादी सिद्वान्त – आधुनिकीकरण भी राजनीतिक दलों की उत्पत्ति का एक कारण माना जाता है, औद्योगीकरण से शहरीकरण होता है, औद्योगीकरण से संचार के साधनों का विकास होता है जिससे केन्द्र तक जनता की पहुंच में वृद्धि होती है। स्थानीय अभिजन केन्द्र से सहयोग करने के लिए या उनका विरोध करने के लिए दलों के रूप में संगठित हो जाते हैं उदाहरणस्वरूप भारत में 19वीं सदी में अनेक राष्ट्रवादी स्थानीय संगठन निर्मित हुए परन्तु 1885 में कांग्रेस का उदय तब हुआ जब डाक, तार, रेल और संचार के साधनों का विकास हुआ।

भारतीय राजनीतिक दल पद्धति की विशेषताएंः–

भारतीय राजनीतिक दल पद्धति की विशेषताओं को परिलक्षित किया जाए तो स्पष्ट होता है कि भारत में प्रारम्भ से ही बहुदलीय प्रणाली रही है, प्रथम महानिर्वाचन में 70 दलों ने मान्यता प्राप्त करने के लिए निर्वाचन आयोग को प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किया था तब से वर्तमान काल तक भारत में लगभग आधे दर्जन अखिल भारतीय स्तर के दल हैं तथा क्षेत्रीय व राज्य स्तर के दल भी बड़ी संख्या में हैं।

भारतीय दलीय व्यवस्था को 'एक दल की प्रधानता वाली बहुदलीय पद्धति' कहा जाता है, 1952 से 1967 तक केन्द्र में तथा अधिकतर राज्यों में कांग्रेस दल की प्रधानता रही, 1967 से 1970 के काल में कुछ राज्यों में गठबंधन सरकारों का निर्माण हुआ। 1971 से 1977 तक पुनः एक दल प्रधानता की स्थिति रही, 1980 व 1984 के निर्वाचन में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् से कांग्रेस की इस स्थिति में कमी आयी, 1989, 1991,1996,1998 की कांग्रेस को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ यद्यपि 1991 से 1996 तक कांग्रेस पी.वी. नरसिम्हाराव के नेतृत्व में दल बदल कराकर बहुमत प्राप्त करके सत्ता में बनी रही। 1998 में सहयोगी दलों से गठबन्धन कर राजग का नेतृत्व अटल बिहारी वाजपेयी ने किया। 2004 से कांग्रेस संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन (संप्रग) निर्मित कर सत्ता में रही।

दलीय राजनीति वैयक्तिक नेतृत्व पर आधारित रही है, भारत में राजनीतिक दलों पर नेताओं का व्यक्तिगत प्रभाव अत्यधिक रहा है। जवाहरलाल नेहरू अपने चमत्कारिक व्यक्तित्व के कारण सम्पूर्ण भारतीय जनता के आकर्षण के केन्द्र बने रहे और यही स्थिति 1971के पश्चात् इंदिरा गांधी की हो गयी थी, इस प्रकार का करिश्माई व्यक्तित्व कांग्रेस के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दलों में भी परिलक्षित होता है, उदाहरणार्थ बहुजन समाजवादी पार्टी पर मायावती, समाजवादी पार्टी पर मुलायम सिंह यादव तथा तमिलनाडु में डी.एम.के पर करूणानिधि, आन्धप्रदेश की तेलगुदेशम पर चन्द्रबाबू नायडू के व्यक्तित्व से समझा जा सकता है।

राजनीतिक दलों का विघटन, दलों में विघटन तीव्र सत्ता प्राप्ति की लालसा व निजी स्वार्थों के कारण होता है। भारत में सभी राजनीतिक दल विभाजन, विघटन व अस्थायित्व की स्थिति से गुजरे हैं कांग्रेस का अब तक तीन बार विभाजन हो चुका है, जनता पार्टी 1980 तक चार जनता पार्टियों में विभाजित हो गयी थी, इसी प्रकार साम्यवादी दल दो पार्टियों में विभक्त है। बहुजन समाज पार्टी और तेलगुदेशम जैसे दलों का भी विभाजन हुआ है। विशेष तथ्य यह है कि आज किसी एक दल का गठन होता है और शीघ्र ही उसमें विभाजन और विघटन की स्थिति आ जाती है, इस प्रकार दलीय व्यवस्था में अनिश्चय और अस्थायित्व की स्थिति बनी हुई है और यह निश्चित रूप से एक विकृति है।

भारत में संगठित विरोधी दल का अभाव रहा है, जब चुनाव समीप आते हैं तब विभिन्न दल चुनावी गठजोड़ करते हैं और पुनः अपने निजी स्वार्थों के कारण टूट जाते हैं। 1952 से 1977 तक मान्यता प्राप्त विरोधी दल नहीं था, 1978 से विधिवत् विपक्षी दल की मान्यता प्रारम्भ हुई।

अवसरवादिता की प्रवृत्ति – भारतीय राजनीति में अनेक ऐसे अवसर उपस्थित हुए हैं जब दो राजनीतिक दल एक स्थान पर एक साथ मिलकर चुनाव लड़ते हैं और दूसरे स्थान पर विरोधी बन जाते है। एक ही संगठन के अभिन्न अंग अलग–अलग कार्य करते हैं, एक ही दल की राष्ट्रीय और राज्य शाखाएं प्रतिकूल दिशाओं में चलती हैं और ऐसे गुटों व तत्वों से मिल जाती है जो विचारधारा और नीति में उनसे भिन्न है। जनवरी 1980 के केरल विधानसभा चुनावों में इन्दिरा कांग्रेस और जनता पार्टी ने परस्पर सहयोग करते हुए एक ही फ्रण्ट के अन्तर्गत चुनाव लड़ा, जबकि राष्ट्रीय स्तर पर ये दल एक दूसरे के कट्टर विरोधी थे। इस प्रकार की अवसरवादिता के अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं।

भारतीय राजनीतिक दलों की नीति और कार्यक्रमों में अनिश्चितता तथा अस्पष्टता रहती है, कारण है कि वे जनता के सम्मुख स्पष्ट विकल्प प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं।

सभी दल किसी न किसी रूप में समाजवाद, गांधीवाद, पूंजीवाद व शोषण के विरूद्ध गरीबी हटाओ, धर्म निरपेक्षता, जातीयता साम्प्रदायिकता के नारे लगाते रहे हैं, इससे जनता को कोई लाभ नहीं हुआ है, ये चुनाव में मत प्राप्त करने के लिए साधन मात्र हैं। अनेक राजनीतिक दलों के पास अपना कोई निश्चित कार्यक्रम न होने के कारण उनके द्वारा विध्वंसकारी कार्यों का सहारा लिया जाता है और विघटनकारी तत्वों को प्रोत्साहित किया जाता है।

क्षेत्रीय दलों का विकास व बढ़ता हुआ महत्व, भारत एक सांस्कृतिक एवं सामाजिक विभिन्नता वाला देश है जिसकी अभिव्यक्ति क्षेत्रीय जनता द्वारा विभिन्न रूपों में होती रही है। स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रजातांत्रिक राजनीति में क्षेत्रीय अस्मिता की पहचान बनाने तथा क्षेत्रीय महत्वकांक्षाओं की पूर्ति हेतु क्षेत्रीय दलों की स्थापना होती रही है, उदाहरणार्थ – आजादी के पूर्व पंजाब में अकाली दल तथा जम्मू कश्मीर में नेशनल कांफ्रेंस का गठन हुआ, वर्ष 1949 में सी.एन. अन्नादुराई द्वारा तमिलनाडु में डी.एम.के. (द्रविड मुनेत्र कडगम) का गठन किया गया। 1971 में इसी से पृथक् होकर ए.आई.डी.एम.के. (ऑल इण्डिया द्रविड मुनेत्र कडगम) का गठन हुआ, ध्यातव्य तथ्य है कि इन क्षेत्रीय दलों की भूमिका उनके सम्बन्धित क्षेत्रों में सीमित थी। 1980 के दशक में राष्ट्रीय पार्टियां विशेषकर कांग्रेस के जनाधार मे कमी आने के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय दलों का प्रभाव राष्ट्रीय स्तर तक बढ़ा है। 1980 के दशक में अनेक नए क्षेत्रीय दलों का गठन हुआ, इनमें प्रमुख है – 1983 में आन्ध्रप्रदेश में गठित तेलगुदेशम, 1985 में असम आन्दोलन के परिणामस्वरूप गठित असम गण परिषद्, 1984 में दलितों की राजनीति पर आधारित बहुजन समाज पार्टी तथा 1982 में गठित पिछड़ों की राजनीति पर आधारित समाजवादी पार्टी महत्वपूर्ण क्षेत्रीय दल है। बीजू जनता दल, शिवसेना, झारखण्ड मुक्ति मोर्चा, अकालीदल तथा उत्तरीपूर्वी राज्यों में अनेक क्षेत्रीय दल हैं। 90 के दशक तथा वर्तमान दशक में यह स्थिति रही है कि कोई भी राष्ट्रीय दल बिना क्षेत्रीय पार्टियों के सहयोग के केन्द्र में सरकार के गठन करने की स्थिति में नहीं है। यू.पी.ए. एवं एन.डी.ए. दोनों ही सरकारें क्षेत्रीय दलों के सहयोग पर आधारित गठबन्धन की सरकारें हैं।

गठबन्धन राजनीति, 1967 तक तो भारतीय राजनीति में कांग्रेस का लगभग सारे देश पर एक छत्र राज्य रहा जब विरोधी दलों ने अनुभव किया कि वे अलग–अलग कांग्रेस के विकल्प के रूप में अपने को प्रस्तुत करने की क्षमता नहीं रखते तो समय और परिस्थिति के अनुसार उन्होंने आपस में गठबन्धन करके कांग्रेस को सत्ताच्यूत करने का प्रयास किया। ये गठबन्धन मुख्यतः चुनाव के समय बनते हैं, जिन गठबन्धनों को विजय प्राप्त हो जाती है

वे सामान्यतः चलते रहते हैं, किन्तु पराजित होने की स्थिति में उनमें फूट पड़ जाती है। 1967 के बाद अनेक राज्यों में मिलीजुली सरकारें बनीं। 1971 में चुनावों के समय चार बड़े विरोधी दलों (जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, संगठन कांग्रेस तथा संयुक्त समाजवादी दल) ने मिलकर कांग्रेस के विकल्प के रूप में महागठबन्धन बनाया था। कांग्रेस ने भी साम्यवादियों, डी.एम.के., अकालियों, मुस्लिमलीग के साथ समय–समय पर गठबन्धन किया। 1977 में जनता पार्टी के रूप में गठित दल भी विभिन्न दलों का गठबन्धन ही था।

1983 में पुनः विरोधी दलों ने आत्मविश्वास की कमी के कारण गठबन्धन करने प्रारम्भ कर दिए। पहला गठबन्धन भारतीय जनता पार्टी तथा लोकदल का था, जो राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबन्धन के नाम से जाना जाता है, द्वितीय संयुक्त मोर्चा जनता पार्टी के नेतृत्व में चार दलों का बना, इस मोर्चे में जनता पार्टी, कांग्रेस (एस), लोकतांत्रिक समाजवादी पार्टी तथा राष्ट्रीय कांग्रेस सम्मिलित थी। ये गठबन्धन अधिक समय तक नहीं चल पाए। 1989 में सत्तारूढ़ जनता दल या राष्ट्रीय मोर्चे के घटक भी गुटबन्दी से मुक्त नहीं रहे।

भारत में दल–बदल की स्थिति सदैव विद्यमान रही है। 1967 से 1970 के वर्षों में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक देखने में आयी है, पंजाब, हरियाणा, उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान और मध्यप्रदेश आदि राज्यों में विशेष रूप से यह प्रवृत्ति देखी गयी है कि एक राजनीतिक दल के सदस्य के रूप में निर्वाचित विधानसभा के सदस्यों द्वारा अपने निर्वाचकों की अनुमति प्राप्त किए बिना ही विधानसभा में अपने राजनीतिक दलों की सदस्यता में परिवर्तन कर लिया गया। इस प्रकार के दल परिवर्तन के परिणामस्वरूप इन राज्यों में बहुत शीघ्र सरकारों का पतन हुआ और राजनीतिक अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो गयी, इसने राजनीतिक वातावरण को दूषित करने का ही कार्य किया।

निर्दलीय सदस्यों की संख्या में कमी, 1977 एवं 1980 के लोकसभा तथा विधानसभा चुनावों में निर्दलीयों की संख्या में कमी हुई है। 1977 में लोकसभा के लिए 9180 में 8 सदस्य और 1984 में मात्र 5 निर्दलीय निर्वाचित हुए, जबकि 1971 के लोकसभा चुनावों में 30 निर्दलीय चुने गए।

फर्स्ट पास्ट दी पोस्ट सिस्टम, संसदीय लोकतंत्र की मान्यता है कि इसमें सामान्यतः ऐसे प्रत्याशी को निर्वाचित घोषित किया जाता है, जिसे चुनाव लड़ने वाले सभी प्रत्याशियों से अधिक मत प्राप्त होते हैं फिर कुल मतों का उसे पन्द्रह या बीस फीसदी ही क्यों न प्राप्त हुआ हो? इतने कम मत प्राप्त करके विजयी होने का यह कारण है कि जब जनता के मत अनेक प्रत्याशियों में विभक्त हो जाते हैं तब थोड़ा ही अधिक मत प्राप्त करने वाले

प्रत्याशी को विजय प्राप्त होती है, अतः राजनीतिक दल यह प्रयास करता है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में उसके प्रत्याशी का समर्थन करने वाले स्थायी वर्ग हों जिसके आधार पर उसकी विजय सुनिश्चित हो जाए, इन्हीं वर्गों को राजनीतिक दलों का वोट बैंक कहा जाता है। भारत में भाषा, जाति व क्षेत्र आदि के आधार पर वोट बैंक का निर्माण किया गया है, क्योंकि यह अत्यन्त सहज कार्य था। कांग्रेस ने अपना वोट बैंक अल्पसंख्यकों को बनाया तो भाजपा ने अगड़ी जातियों को। वोट बैंक की राजनीति ने भारतीय समाज की एकता व अखण्डता को नष्ट कर डाला है, इसके कारण समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्प्रदाय, भाषीय समूह, जातीय समूह तथा क्षेत्र के स्वाभिमान तक सीमित हो गया हैं इस कारण समाज में द्वेष, अविश्वास व वैमनस्य का वातावरण बढ़ता जा रहा है।

राजनीतिक दलों का अपराधीकरण और भ्रष्टाचार, सभी राजनीतिक दलों में अपराधी प्रकृति के लोग हैं इसलिए राजनीति का अपराधीकरण हो गया है। इस संदर्भ में उत्तरप्रदेश अग्रगण्य है।

विश्व बैंक ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि विश्व भर के देशों में भारत में चुनाव सर्वाधिक महंगे होते हैं, रिपोर्ट में बताया गया है कि लोकसभा सीट के लिए चुनाव खर्च की सीमा 2.5 लाख रूपये निर्धारित की गयी थी, किन्तु संसदीय चुनाव में औसतन विजेता ने लगभग 83 लाख रूपये खर्च किए थे। चुनावों के खर्चीला होने के कारण उम्मीदवार चुनाव लड़ने के लिए कालेधन का सहारा लेता है और वह चुनाव पश्चात् अनुचित लाभ उठाना चाहता है।

राजनीति में बढ़ते अपराधीकरण और चुनावों में बढ़ता धन–बल का असर वास्तव में मूल समस्याएं हैं। राजनीतिज्ञों को सार्वजनिक शुचिता के प्रति उत्तरदायी बनाने के लिए एक सुझाव यह है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ की सम्पदा के अर्जन की गहन जांच की जाए, यदि इस सुझाव पर अमल किया जाएगा तो भ्रष्टाचार पर काफी हद तक नियंत्रण कर लिया जाएगा।

भारत में लगभग सभी दलों में छोटे–छोटे गुट पाए जाते हैं, इन गुटों में पारस्परिक मतभेद इस सीमा तक पाया जाता है कि कभी–कभी चुनावों में एक गुट के समर्थन प्राप्त उम्मीदवारों को दूसरे गुट के सदस्य पराजित करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। दलों में आन्तरिक गुटबन्दी कांग्रेस दल में सर्वाधिक पायी जाती है, क्योंकि इसमें सत्ता के लिए सदैव संघर्ष चलता रहता है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण दल की प्रगति पर पड़ता है अन्य राजनीतिक दलों में भी यही स्थिति है। शासक दल और अन्य दलों में गुटबन्दी की यह स्थिति भारतीय राजनीति का अभिशाप बनी हुई है।

भारत की स्वतन्त्रता के 60 वर्षों बाद भी भारत की राजनीति जाति के प्रभाव से स्वतन्त्र नहीं हो पायी है किसी भी निर्वाचन में प्रत्याशियों का चुनाव जाति के आधार पर किया जाता है, वोट भी जाति के आधार पर दिए जाते हैं, जैसे बहुजन समाज पार्टी का आधार दलित वर्ग है, समाजवादी पार्टी का आधार पिछड़े वर्ग के लोग हैं। भारत में जातियां संगठित होकर राजनीतिक निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित करती है जैसे अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आरक्षण के प्रावधान को आगे बढ़ाने के लिए दबाव डालती रहती है। राजस्थान में गुर्जर आरक्षण आन्दोलन को इसी क्रम में समझा जा सकता है जबकि सवर्ण जातियां आर्थिक आधार पर आरक्षण के लिए बल देती है। भारत में जातिगत दबाव समूह अपने स्वार्थों तथा हितों की पूर्ति के लिए नीति निर्माताओं को प्रभावित करते रहते हैं। तमिलनाडु में नडार जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा आदि। सामान्य रूप से भारत में पंचायत, विधानमण्डल, संसद सभी चुनावों में जातिगत समीकरण महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

राजनीति पर धार्मिक प्रभाव, यद्यपि भारत का संविधान पंथनिरपेक्ष राज्य में विश्वास करता है परन्तु भारत में धर्म ने राजनीति को बहुत प्रभावित किया है। यहां अनेक राजनीतिक दलों का निर्माण धर्म के आधार पर ही हुआ है, मुस्लिम लीग, शिरोमणी अकालीदल, रामराज्य परिषद्, हिन्दू महासभा आदि के निर्माण में धर्म की भूमिका प्रभावशाली रही है। धर्म या सम्प्रदाय के नाम पर उम्मीदवार खड़े किए जाते हैं, प्रचार करते हैं, एवं वोट मांगते हैं। कभी–कभी धर्म के नाम पर पृथक् राज्य की मांग की जाती रही है जैसे सन्त फतहसिंह के अनुयायियों ने सिख होमलैण्ड की और नागालैण्ड के ईसाइयों ने पृथक् राज्य की मांग की। वर्तमान में भी धर्म के नाम पर विवाद और तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे राष्ट्रीय एकता को भी खतरा उत्पन्न हो सकता है, भारत में 1984 के हिन्दू सिख दंगे, 1992 अयोध्या मंदिर और बाबरी मस्जिद मुद्दा, 2002 में गोधरा काण्ड प्रमुख रहे हैं। राष्ट्र में शान्ति व्यवस्था बनाए रखने के लिए सम्प्रदायवाद को मिटाना आवश्यक है, इसके लिए राष्ट्रीयता और नैतिकता की शिक्षा दी जानी चाहिए तथा साम्प्रदायिक संगठनों पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए।

भारत में दलीय समर्थन के प्रारूप का विकास, आधुनिक भारत में दल व्यवस्था का प्रारम्भ परतन्त्र काल में जिन परिस्थितियों में हुआ था, उसमें एक कर्तव्य की भावना, निष्ठा, नैतिक प्रयोजन त्याग–बलिदान की भावना मुख्य रूप से अभिव्यक्त होती थी। स्वतन्त्रता से पूर्व एकमात्र राजनैतिक दल के रूप में कांग्रेस की स्थिति स्वयं के लिए समर्थन जुटाने की नहीं थी वरन् अंग्रेजों से भारतीय जनता के संघर्ष को गति देने, उनके कष्टों का निवारण

करने और भारत को विदेशियों से मुक्ति दिलाने के नैतिक प्रयोजन से प्रेरित थी। कांग्रेस के समर्थन का तात्पर्य स्वतन्त्रता की प्राप्ति व बलिदान के प्रति तत्परता था। स्वाधीनता के पश्चात् कांग्रेस ने स्वयं को एक अभियान की अपेक्षा राजनीतिक दल के रूप में रूपान्तरित किया, जनता में कांग्रेस के प्रति गहन निष्ठा एवं कृतज्ञता की भावना थी, यह कृतज्ञता भाव प्रथम श्रेणी के नेताओं तक बना रहा, राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के वृहद् लक्ष्य ने जनता को कांग्रेस के प्रति आकृष्ट किया, कांग्रेस ने विभिन्न विचारों के मध्य समायोजन की नीति अपनायी, इस नीति के कारण समर्थन विस्तृत हुआ। इस नीति के कारण विचारधारागत अस्पष्टता उत्पन्न हुई एवं विचारधारागत समर्थन भारत में सदैव निर्णायक रहे, यह आवश्यक नहीं है इसी कारण विचारधारा की तुलना में नेतृत्व प्रारम्भ से ही निर्णायक तत्व रहा है।

विचारधारा के आधार पर दलीय समर्थन के प्रयासों की दृष्टि से भारत में दो दलों का उल्लेख किया जा सकता है, साम्यवादी दल तथा पूर्ववर्ती भारतीय जनसंघ। वस्तुतः इन दोनों दलों को ही भारत में विचारधारागत दलों की संज्ञा दी जा सकती थी किन्तु यह सत्य है कि कालान्तर में इन दोनों दलों की अन्य दलों से पृथक् पहचान का आधार मूलतः भले ही विचाराधारा रही हो, किन्तु यह सत्य है कि कालान्तर में इन दोनों दलों ने अपने समर्थन में वृद्धि के लिए विचारधारागत आधार में परिवर्तन किया, यथा साम्यवादी दलों ने विशुद्ध मार्क्सवादी दलों के रूप में पहचान की तुलना में 'वामदल' बनाकर समाजवाद की मार्क्सवाद से भिन्न व्याख्या को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार साम्यवादी दलों की तुलना में वामपंथी दलों की भूमिका में आ जाने से इन दलों को लाभ भी हुआ और ये पश्चिमी बंगाल सहित देश के कतिपय राज्यों में सत्ता में बने रहने में सफल हुए। भारतीय जनसंघ ने भी राजनीति की मुख्यधारा में प्रवेश के लिए अन्य दलों के साथ समायोजन हेतु अपने मूल अधिष्ठान 'हिन्दू राष्ट्रवाद' के आग्रह को कालान्तर में परिमार्जित किया। अन्य दलों के साथ सम्मिलित प्रयास पर तत्कालीन कांग्रेसी वर्चस्व के युग में विपक्षी राजनीति की मुख्यधारा में केन्दीय भूमिका निभाने की इच्छा के कारण जनसंघ ने अपने विचारधारागत आग्रह में उत्कृष्टता का जो परिमार्जन किया उसी का परिणाम था कि वह 1977 में सम्पन्न हुए जनता पार्टी के प्रयोग में, उक्त दल में अपना विलय कर सकी, तथा इस प्रयोग के विफल हो जाने के पश्चात् 1980 में भारतीय जनता पार्टी के रूप में अपने नये संस्करण में अपने पूर्ववर्ती आग्रहों को गुणात्मक सीमा तक परिमार्जित कर सकी। अपनी विचारधारा के मूल आग्रहों के स्तर को शिथिल किया जाना, भारतीय जनता पार्टी द्वारा स्वयं को सर्वग्राह्य दल के रूप में प्रकट करने की इच्छा का परिणाम था और इस क्रम में दल ने अपने समर्थन के

सामाजिक आधार में वृद्धि के लिए ऐसी घोषणाओं और कार्यक्रमों की निर्भरता प्राप्त की जो उसके मूल वैचारिक अधिष्ठान के अधिक निकट नहीं माने जा सकते थे।

स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् राजनीतिक दलों के स्वरूप को निश्चित कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है –

प्रथम स्वरूप 1947 से 1964 तक माना जा सकता है, इस कालखण्ड में लोकसभा के तीन आम चुनाव 1952, 1957, 1962 में सम्पन्न हुए, इन वर्षों में कांग्रेस को किसी शक्तिशाली चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा। श्री जवाहरलाल नेहरू के करिश्माई व्यक्तित्व के कारण उनकी उपेक्षा करना संभव नहीं था, इसी प्रकार की स्थिति सरदार वल्लभ भाई पटेल के साथ भी थी। पटेल की मृत्यु के पश्चात् स्थिति में व्यापक परिवर्तन हुआ।

अतः प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस द्वारा विभिन्न सामाजिक आर्थिक प्रश्नों पर विभिन्न हित समूहों को समायोजित करने के लिए अपनायी गयी नीति को परिवर्तित कर उसे स्पष्ट विचारधारागत रूझान देना जवाहरलाल नेहरू के लिए संभव हुआ। नेहरू द्वारा कांग्रेस की नीतियों को समाजवादी रूझान देने तथा इस क्रम में सामाजिक स्तर पर सुधारवादी आग्रहों की पूर्ति के लिए राज्य की भूमिका का विस्तार करने के लिए किए गए प्रयासों के कारण कांग्रेस के परम्परागत समर्थक रहे वर्गों में से अनेक में विचलन उत्पन्न हुआ। ऐसे वर्गों ने अपने हितों और वैचारिक आग्रहों की खोज के लिए अन्य दलों के साथ जुड़ने के विकल्प को अपनाना प्रारम्भ किया। अपने सुधारवादी आग्रहों के बावजूद समाज के विभिन्न वर्गों में कांग्रेस के प्रति समर्थन का भाव बनाये रखने के लिए नेहरू का व्यक्तित्व प्रेरित करता रहा, क्योंकि अन्य दलों के पास न तो महिमा मण्डित नेतृत्व था और न ही अखिल भारतीय स्तर का संगठन था। अतः नीतियों और कार्यक्रमों के आधार पर जनता का समर्थन जुटाने के लिए दलों के मध्य प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्दिता की स्थिति उत्पन्न ही नहीं हो सकी थी। दलीय समर्थन के सम्बन्ध में इस दौर में पृष्ठभूमि और व्यक्तित्व ही निर्णायक बने रहे तथा विचारधारा व कार्यक्रम गौण रहे। कांग्रेस से भिन्न अन्य दल या तो विचारधारा के आधार पर अथवा समाज के विभिन्न वर्गों के हितों और भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने के आधार पर अपने समर्थन के आधार को खोजने का प्रयास करते रहे।[5]

द्वितीय कालखण्ड 1964 से 1969 तक माना जा सकता है जबकि सन 1964 में नेहरू जी का देहान्त हुआ और अत्यन्त प्रभावशाली व करिश्मावादी व्यक्तित्व से कांग्रेस लगभग वंचित हो गयी, नेहरू जी ने समाजवादी नीतियों का समर्थन किया परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् विचारधारा का कलह प्रारम्भ हो गया क्योंकि नेहरू जी के निधन के

पश्चात् लाल बहादुर शास्त्री के प्रधानमंत्रित्व के संक्षिप्त कालखण्ड में विचारधाराओं की अस्पष्टता थी, विपक्षी दल एक गठजोड़ बनाकर कांग्रेस के विरूद्ध लड़ना चाहते थे जबकि उनमें विचारधारागत कोई समानता नहीं थी, वे गैर कांग्रेसवाद को विचारधारा बनाकर प्रस्तुत करना चाहते थे। शास्त्री जी के पश्चात् श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में समाजवाद का पुनः समर्थन किया गया, और इस प्रकार दलीय समर्थन में विचारधारा की महत्वपूर्ण भूमिका उभरी। ज्ञातव्य है कि इस कालखण्ड में श्रीमती गांधी ने अनेक सामाजिक, आर्थिक वर्गों का समर्थन प्राप्त करने एवं पूर्व से समर्थन कर रहे वर्गों के सहयोग को सुदृढ़ करने का जो प्रयास किया वो भी विचारधारा के ढाँचे के अधीन था। समतामय समाज के निर्माण, बैंको का राष्ट्रीयकरण, कमजोर वर्गों के लिए सामाजिक और आर्थिक न्याय, आर्थिक व्यवस्था में राज्य की बढ़ती हुई भागीदारी, समाजवादी विचारधारा को इंगित करती है।

1967 के आम चुनावों में विपक्ष का गैर कांग्रेसवाद का सूत्र यद्यपि चुनाव की दृष्टि से प्रभावी माना जा सकता है, क्योंकि इसने कांग्रेस के बहुमत में उल्लेखनीय कमी की, वहीं अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें भी स्थापित हुई। किन्तु इसने आगामी कुछ वर्षों के लिए ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दीं, जिनमें कांग्रेस को विचारधारा, कार्यक्रमों और नीतिगत प्रतिबद्धता के आधार पर जनसमर्थन जुटाने वाले दल के रूप में स्वयं को चित्रित करने का तथा विपक्षी दलों पर नीतियों कार्यक्रमों तथा विचारधारा को त्याग कर कांग्रेस के विरोध में सक्रिय रहने के प्रतीक के रूप में चित्रित किया जा सका। 1969 में हुए कांग्रेस के विभाजन से 1976 में आपातकाल लागू होने तक की अवधि को दलीय समर्थन के प्ररूप की दृष्टि से तृतीय कालखण्ड माना जा सकता है। 1969 में कांग्रेस के विभाजन के पश्चात् श्रीमती गांधी ने अपनी नीतियों और कार्यक्रमों में समाजवादी रूझान को आक्रामक सीमा तक स्पष्टता प्रदान की। उन्होंने कांग्रेस के विभाजन को समाजवादी और समाजवाद विरोधी शक्तियों के मध्य द्वन्द के रूप में चित्रित किया। यह दलीय समर्थन का ऐसा प्ररूप था जो करिश्माई नेतृत्व को विचारधारा के प्रतीक के रूप में प्रकट कर जन समर्थन मांगने जा रहा था। ऐसे समय यह निर्णय करना कठिन था कि यह जनसमर्थन विचारधारा पर केन्द्रित है या विशिष्ट विचारधारा का प्रतीक बने नेतृत्व के प्रति निर्दिष्ट है। 1971 में श्रीमती गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस की प्रचण्ड बहुमत से विजय ने आगामी वर्षों में व्यक्तिगत नेतृत्व के वर्चस्व की शैली को जन्म दिया। रायबरेली लोकसभा निर्वाचन क्षेत्र से श्रीमती गांधी के चुनाव को इलाहबाद उच्च न्यायालय द्वारा निरस्त किए जाने के पश्चात् उभरी परिस्थितियों में आपातकाल की घोषणा श्रीमती गांधी के द्वारा समाजवाद के प्रति बार–बार दोहरायी गयी प्रतिबद्धता और इस दिशा में किये गये संविधान संशोधनों के बावजूद राजनीति व्यक्ति

केन्द्रितता का प्रतीक बन गयी। 1977 के चुनावों में विपक्षी दलों का नारा पूर्ववर्ती नारों 'कांग्रेस हटाओ देश बचाओ' के स्थान पर 'इन्दिरा हटाओं था और कांग्रेस (ई) का नारा 'कांग्रेस लाओ, देश बचाओ' के स्थान पर 'इन्दिरा लाओ देश बचाओ' था। 1977 से 1980 तक की अवधि एक अन्य कालखण्ड माना जा सकता है। 1977 के चुनावों में जनता पार्टी को मिली विजय को किसी भी प्रकार नीतियों, विचारधारा, कार्यक्रम अथवा किसी विशिष्ट नेतृत्व के प्रति विश्वास पर आधारित नहीं माना जा सकता। इस विषय का स्पष्ट कारण आपातकाल के दौरान लोकतांत्रिक संस्थाओं के पतन और शासकीय निरंकुशता के कारण उभरा जन आक्रोश था। इसलिए इसे जनता पार्टी की जीत नहीं, अपितु लोकतंत्र के प्रति भारतीय जनता की अदम्य इच्छा की प्रतिष्ठा के रूप में समझा गया। इस कालखण्ड में विचारधारा गौण हो गई। 1980 के लोकसभा चुनावों में कांग्रेस की सफलता ने दलीय व्यवस्था और दलीय समर्थन के एक सर्वथा नए प्ररूप का सूत्रपात किया। इस प्ररूप में दलीय समर्थन के लिए नेतृत्व निर्णायक आधार बना किन्तु नेतृत्व की विचारधारागत प्रतिबद्धता नहीं, अपितु विभिन्न सामाजिक वर्गों को समायोजित करने की उसकी क्षमता, उसकी स्वयं की सामाजिक और जातिगत पृष्ठभूमि तथा क्षेत्रीय अपील आदि जन समर्थन के मुख्य आधारों के रूप में प्रतिष्ठित होते गये।[6]

राजनीतिक दलों को अनेक प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है भारत के राजनीतिक दलों को मुख्यतः चार भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है :–

अखिल भारतीय राजनीतिक दल, अखिल भारतीय स्तर के दल उन्हें कहा जाता है जो आधिकारिक रूप में व्यापक क्षेत्र में होते हैं तथा जिन्हें राष्ट्रीय समर्थन प्राप्त होता है। कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी आदि दलों को अखिल भारतीय राजनीतिक दलों में सम्मिलित किया गया है।

क्षेत्रीय दल, ये राजनीतिक दल किसी क्षेत्र विशेष या प्रादेशिक स्तर में होते हैं और ये दल उस क्षेत्र विशेष के हित के लिए कार्य करते हैं, वर्तमान में इन क्षेत्रीय दलों का साझा सरकार में महत्व अधिक बढ़ा है प्रमुख क्षेत्रीय दल हैं– तमिलनाडु के डी.एम.के., ए. डी.एम.के., आन्ध्रप्रदेश में तेलगुदेशम, जम्मू कश्मीर में नेशनल कांफ्रेस आदि।

साम्प्रदायिक दल – इनकी सदस्यता क्रम किसी धर्म संगठन के आधार पर होती है ये दल सदैव अपनी जाति या धर्म की रक्षा करने या उसकी उन्नति के प्रयास करते हैं। भारत में मुस्लिम लीग (केरल), अकालीदल (पंजाब) और शिवसेना (महाराष्ट्र) आदि प्रमुख राजनीतिक दल हैं। तदर्थ दल ऐसे दलों का संगठन किन्हीं शक्तिशाली व्यक्तियों या स्थानीय और राज्य के मुद्दों के आधार पर होता है। ये तदर्थ दल अधिक समय तक

अस्तित्व में नहीं रहते, जैसे अर्जुनसिंह की तिवारी कांग्रेस, माधवराव सिंधिया की मध्यप्रदेश विकास पार्टी आदि।

राजस्थान में 1952 के समय से ही छोटे बड़े अनेक राजनीतिक दल अस्तित्व में आये परन्तु मुख्य रूप से राजस्थान की राजनीति में दो दल ही अधिक प्रभावी रहे हैं, कांग्रेस एवं भारतीय जनता पार्टी। समय विशेष में रामराज्य परिषद्, हिन्दू महासभा व स्वतन्त्र पार्टी भी प्रभावशाली रहे हैं।

राजस्थान के प्रमुख राजनीतिक दल :–

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, कांग्रेस की स्थापना एक राजनैतिक दल के रूप में नहीं वरन् स्वतन्त्रता से पूर्व स्वाधीनता प्राप्ति के अभियान के रूप में हुई थी। संगठन के चरित्र की दृष्टि से कांग्रेस महात्मा गांधी के युग के आरम्भ से पूर्व की अवधि में न तो शुद्ध जन आन्दोलन के रूप में विद्यमान थी और न ही सत्ता में हिस्सेदारी के लिए संगठित किसी राजनैतिक दल के रूप में कार्यशील थी।

गांधी युग के प्रारम्भ से पूर्व कांग्रेस एक दबाव समूह या राजनीति का सक्रिय मंच था, जिसके माध्यम से तत्कालीन समस्याओं पर शासकों का ध्यान आकृष्ट कर विचार विनिमय कर गतिविधियों का संचालन किया जाता था। कांग्रेस द्वारा उठाये गये प्रमुख विषयों में स्थानीय स्वशासन और संघीय परिषदों में निर्वाचित सदस्यों का विस्तार, सिविल सर्विस का भारतीयकरण आदि प्रमुख थे, परन्तु ये विषय सम्पूर्ण भारत की जनता को उद्वेलित नहीं कर पाए वरन् कुलीन वर्ग के भारतीयों के हितों को ही प्रभावित कर पाए। शनैः–शनैः इन मुद्दो में आर्थिक नीतियों के कुछ संदर्भ सम्मिलित हुए। ये संदर्भ भी महानगरों में निवास करने वाली जनता के हितों से सम्बन्धित थे न कि ग्रामों में निवास करने वाली जनता से। दादा भाई नौरोजी व गोविन्द रानाडे ने इस आधार पर ही ब्रिटिश शासन की आलोचना की कि उनके कारण भारत में औद्योगीकरण का विस्तार कम हुआ है, विकास की प्रक्रिया बाधित हुई है तथा उद्योगों के विस्तार एवं विकास का उपयुक्त वातावरण निर्मित नहीं हो पाया है। कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध अनेक असंतोष प्रस्ताव प्रस्तुत किए उदाहरणार्थ सेनाओं पर होने वाले व्यय का न्यूनीकरण, भारत की सुरक्षा से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित न रहने वाले मुद्दों में भारतीय सेना की भागीदारी कम करने आदि।

कांग्रेस के चरित्र में क्रांतिकारी परिवर्तनों का सूत्रपात हुआ। महात्मा गांधी के कांग्रेस में सक्रिय होने के पश्चात् कांग्रेस का एक जन आन्दोलन के रूप में रूपान्तरण प्रारम्भ हुआ, महात्मा गांधी से पूर्व कांग्रेस में नरमपंथियों और चरमपंथियों के मध्य द्वन्द विद्यमान था, वह ब्रिटिश शासन के प्रति उपर्युक्त दोनों वर्गों के रूप में रूपान्तरित हो सकने

की संभावनाएं प्रशस्त नहीं थी। कांग्रेस के उदारवादी वर्ग और राष्ट्रवादी वर्ग के मध्य विद्यमान द्वन्द के आयाम वैचारिक थे। वैचारिक स्तर पर उनके मध्य विद्यमान मूलभूत भिन्नता के बावजूद वे संगठन के रूप में कांग्रेस के चरित्र, जनता की उसकी गतिविधियों में रूचि और सहभागिता की दृष्टि से कोई विशेष भिन्न प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते थे। महात्मा गांधी ने कांग्रेस को एक जन आन्दोलन का रूप दिया। कांग्रेस का यह रूपान्तरण उसके संगठनात्मक चरित्र और उसकी गतिविधियों में सहभागी व्यक्तियों के सामाजिक आधार में ही परिलक्षित नहीं हुआ, अपितु इसने स्वयं कांग्रेस की स्थिति और ब्रिटिश सरकार से उसके सम्बन्धों के प्ररूप में मर्मभूत परिवर्तन घटित कर दिया। यह परिवर्तन कांग्रेस द्वारा उठाये जाने वाले मुद्दों, सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रमों तथा आन्दोलनों की शैली आदि सभी पक्षों में परिलक्षित हुआ। अब कांग्रेस की रूचि केवल ऐसे प्रशासनिक और राजनैतिक सुधारों की क्रियान्विति तक सीमित नहीं रही जिससे कि भारतीय शिक्षित वर्ग को प्रशासनिक और शासकीय संस्थाओं में पहले की तुलना में भागीदारी के अधिक अवसर प्राप्त हों, अब वह भारतीयों की विशिष्टतः अभावग्रस्त और सुविधाविहिन भारतीयों की समग्र दुर्दशा पर ध्यान केन्द्रित कर उनकी उन्नति के लिए समर्पित संगठन के रूप में सक्रिय होने लगी। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सामाजिक सुधारों और सामाजिक परिवर्तन के अनेक रचनात्मक कार्यक्रमों को स्वयं अपने स्तर पर प्रवर्तित किया, वहीं ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों और ब्रिटिश शासकों के आर्थिक हितों पर मूलभूत प्रहार किए।[7]

1984 के लोकसभा चुनाव श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के पश्चात् सम्पन्न हुए, इन चुनावों में कांग्रेस द्वारा जनता से भावनात्मक अपील की गयी, जो कि किसी अन्य मुद्दे की तुलना में भारी थी। सहानुभूति की लहर के कारण 1984 में राजीव गांधी के नेतृत्व में सरकार निर्मित हुई, इस कालखण्ड में कांग्रेस की कोई स्पष्ट विचारधारा नहीं थी। 1989 के चुनावों में बोफोर्स तोप काण्ड एक प्रमुख मुद्दा बनकर उभरा, जिससे कांग्रेस की छवि को आधात पहुंचा इस समय तक कांग्रेस विचारधारा एवं नीति की अस्पष्टता के कारण परम्परागत आधार रहे वर्गों पर से अपनी पकड़ खो चुकी थी। उपर्युक्त परिस्थितियों का यह प्रभाव रहा कि कांग्रेस के एकाधिकार की समाप्ति हुई, 1989 के चुनावों एवं पश्चात्वर्ती वर्षों में एक दलीय व्यवस्था का अवसान हुआ तथा गठबन्धन की राजनीति के युग का सूत्रपात हुआ।

1938 के हरिपुरा में कांग्रेस अधिवेशन के अनुसार राजपूताना में स्वाधीनता संघर्ष को गति देने हेतु विभिन्न रियासतों में प्रजामण्डलों एवं लोकपरिषदों की स्थापना हुई। राजाओं से मान्यता प्राप्त करना या संस्थाओं का पंजीकरण उनके संघर्ष का प्रथम सोपान

था। किसानों की समस्याओं को हल करने के लिए जाट नेताओं ने प्रजामण्डलों से सहयोग लिया था। यही सहयोग प्रजामण्डलों के नेताओं के लिए राजाओं से समझौते की शक्ति बना। समूचे राजपूताना को संगठित करने के लिए अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद की क्षेत्रीय परिषद् गठित की गई थी। 1948 में इसी क्षेत्रीय परिषद् को राजपूताना प्रदेश कांग्रेस कमेटी में परिवर्तित कर दिया गया। राजस्थान में कांग्रेस की यही आपैचारिक स्थापना थी।[8]

15 अगस्त 1947 को भारत की स्वन्त्रता के पश्चात् सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य 562 देशी रियासतों का भारतीय संघ में सम्मिलन था जो कि सरदार वल्लभ भाई पटेल और वी. पी. मेनन के अथक प्रयासों से संभव हुआ, उसके पश्चात् रियासतों का पुनर्गठन किया गया, जिसके अन्तर्गत राजस्थान में राज्यों के संघ बनाये गये। राजस्थान का एकीकरण 5 चरणों में हुआ, मत्स्य संघ, राजस्थान संघ, संयुक्त राजस्थान, वृहत्तर राजस्थान एवं मत्स्य संघ का वृहत्तर राजस्थान में समायोजन।

स्वतन्त्रता के पश्चात् राजस्थान में प्रथम मनोनीत मुख्यमंत्री हीरालाल शास्त्री बने, परन्तु कांग्रेस के आन्तरिक असंतोष के कारण उन्हें पद त्यागना पड़ा तथा 26 अप्रैल 1951 को जयनारायण व्यास के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार निर्मित हुई।

कांग्रेस के समक्ष चुनौतियां, व्यास मंत्रिमण्डल के समक्ष सर्वप्रमुख कार्य राजकीय सेवकों को संतुष्ट करना था, इस कार्य के निमित्त राजस्थान उच्च न्यायालय के न्यायाधीश जवानसिंह राणावत को नियुक्त किया गया, जिन्हें एकीकृत रियासतों के राजकीय सेवकों की विसंगतियां दूर करने, वर्गीकरण तथा वरिष्ठता क्रम के आधार पर स्थिरीकरण का दायित्व सौंपा गया। राज्य लोकसेवा आयोग के एक सदस्य की अध्यक्षता में समिति का निर्माण किया जिसका कार्य अयोग्य लोकसेवकों के बारे में पुनर्विचार कर उन्हें समायोजित करना था।

द्वितीय महत्वपूर्ण कार्य जागीरों को समाप्त करना था, मुख्यमंत्री जयनारायण व्यास ने एक संवाददाता सम्मेलन में घोषणा की कि सरकार जागीरें समाप्त करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है। उन्होंने स्पष्ट किया कि विधेयक तैयार हो रहा है, इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार से विचार–विमर्श हो रहा है, कानून का आधार वेंकटाचार समिति की रिपोर्ट होगी। व्यास ने जागीरदारों को विश्वस्त किया कि उन्हें पुनः स्थापित किया जाएगा, निश्चित अवधि तक खुदकाश्त के लिए भूमि या नकद मुआवजा दिया जाएगा। इसके विपरीत जागीरदारों के समर्थन में सरकार को चेतावनी देते हुए राजस्थान क्षत्रिय महासभा ने एक प्रस्ताव पास किया कि जागीरें समाप्त करने पर तीव्र उपद्रव किए जाएंगे।

कांग्रेस पार्टी के लिए यह कालखण्ड अत्यन्त चुनौतीपूर्ण था। राज्य सेवकों में गहरा असंतोष व्याप्त था क्योंकि उन्हें लग रहा था कि उनकी वर्षों की राजकीय सेवा तथा पदों में परिवर्तन किया जा सकता है। जागीरें समाप्ति के भय से संपूर्ण सामन्ती वर्ग एवं जागीरदार वर्ग भी कांग्रेस के विरूद्ध एकजूट हो रहा था।

मारवाड़ किसान सभा का कांग्रेस में सम्मिलन, कांग्रेस को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए व्यास जागीरदारों को कांग्रेस में सम्मिलित करना चाहते थे, केन्द्र सरकार की भी यही आकांक्षा थी किन्तु माणिक्यलाल वर्मा जिन्होंने मेवाड़ में जागीरदारों से प्रत्यक्ष संघर्ष किय था वे उनके कड़े विरोधी थे। मारवाड़ में 80 प्रतिशत तक जमीनें जागीरदारों की थी, किसानों पर जुल्म किए जा रहे थे, अनेक प्रकार के कर, लगान लगाकर उन्हें प्रताड़ित किया जा रहा था। अतः बलदेवराम मिर्धा के अथक प्रयासों द्वारा मारवाड़ किसान सभा (पूर्व में राजस्थान किसान सभा) का निर्माण किया गया। शनैः–शनैः यह किसान संगठन जिसमें जाटों की बहुतायतता थी, सशक्त हो गया। इसी कारण कांग्रेस मारवाड़ किसान सभा का अपने दल में समायोजन चाहती थी। जोधपुर क्षेत्र के नेता तथा व्यास के घनिष्ठ सहयोगी मथुरादास माथुर तथा बीकानेर क्षेत्र के जाट नेता से मारवाड़ किसान सभा का कांग्रेस में विलय कराने का प्रयत्न किया गया।[9]

इस समझौता वार्ता में माथुर, व्यास, कुम्भाराम आर्य, मारवाड़ किसान सभा के नेता बलदेवराम मिर्धा, नाथूराम मिर्धा, गोवर्धनसिंह चौधरी ने भाग लिया। इस समझौते से कांग्रेस शक्तिशाली हुई क्योंकि मारवाड़ किसान सभा में पृथक् चुनाव नहीं लड़ने और कांग्रेस में सम्मिलित होने का निर्णय किया।

इस समझौते से दो प्रकार के परिणाम सामने आए, प्रथम मथुरादास माथुर जाटों के नेता और समर्थक मान लिए गए एवं द्वितीय कुम्भाराम आर्य और माथुर राजनीतिक दृष्टि से मित्र हो गए, जिन्होंने नवम्बर 1954 में मुख्यमंत्री जयनारायण व्यास को सत्ता से पदच्यूत करने में प्रमुख भूमिका निभाई। इससे माथुर, जाटों एवं कुम्भराम आर्य के निकटस्थ हो गए, इसी कालखण्ड में 1951 के दौरान ही जोधपुर कांग्रेस के नेताओं की जागीरदारों के प्रतिनिधियों से वार्ता चल रही थी। जयनारायण व्यास तथा उनके सहयोगी द्वारकादास पुरोहित की क्षत्रिय महासभा के प्रतिनिधियों के साथ टिकट वितरण को लेकर वार्ता चल रही थी किन्तु व्यास 10 प्रतिशत तक टिकट जागीरदारों को वितरित करना चाहते थे जबकि वर्मा 5 प्रतिशत से अधिक नहीं देना चाहते थे।

मारवाड़ किसान सभा कांग्रेस में सम्मिलित हो चुकी थी, इस कारण राजपूतों से समझौता वार्ता टूट गई, परन्तु प्रवेश की आशा बनी हुई थी। 1952 के चुनाव से पूर्व

जोधपुर के महाराजा हनुवन्त सिंह ने दिल्ली में कांग्रेस के नेता रफी अहमद किदवई से वार्तालाप हेतु स्वयं के विमान से गुप्त वार्ता की उनका उद्देश्य चुनाव के पश्चात् समझौता करने का था परन्तु मतदान के पश्चात् हनुवन्त सिंह की विमान दुर्घटना में मृत्यु हो गई तथा वार्ता समाप्त हो गई।

एक राजनीतिक घटना क्रम से जागीरदारों के लिए कांग्रेस में प्रवेश आसान हो गया, जागीर पुनर्ग्रहण विधेयक के संदर्भ में राजस्थान क्षत्रिय महासभा ने प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू को एक ज्ञापन प्रस्तुत कर यह मांग की कि उनके प्रतिनिधियों से भी वार्ता की जाए, जिसे मान लिया गया। उनकी मांग के अनुसार उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री पं. गोविन्दवल्लभ पंत को कांग्रेस सरकार तथा क्षत्रिय महासभा के मध्य वार्ता के लिए मध्यस्थ नियुक्त किया गया। पंत द्वारा राजपूतों की समस्याओं के प्रति सहानुभूति के प्रदर्शन से महासभा के नेता कांग्रेस के प्रति आशान्वित हुए, साथ ही नेहरू, पंत आदि कांग्रेस नेताओं द्वारा कांग्रेस में सम्मिलित होने का निमंत्रण समझौते में सहायक हुआ।

जागीरदार वर्ग में युवा पीढ़ि के लोग सामने आने लगे जो कि उच्च शिक्षित थे। फरवरी 1954 में क्षत्रिय महासभा की कार्यकारिणी ने अपने संगठन के सदस्यों को किसी भी राजनीतिक दल में सम्मिलित होने की छूट प्रदान कर दी। कुछ समय पश्चात् 43 बड़े जागीरदारों ने जिनमें नवलगढ़ के रावल मदन सिंह, पोकरण के ठाकुर भवानीसिंह तथा 25 जागीरदार विधायकों ने एक संयुक्त वक्तव्य जारी कर सभी जागीरदारों से कांग्रेस पार्टी में समायोजित होने की घोषणा की। इसके कुछ समय पश्चात् ही 22 जागीरदार विधायकों ने कांग्रेस विधानसभा दल की सदस्यता प्राप्त करने के लिए आवेदन किया जो स्वीकृत भी हो गया।

व्यास के प्रयत्नों से भैरोसिंह खेजडला के नेतृत्व में 22 राजपूत विधायकों ने कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की, उनके नाम इस प्रकार है– जुझार सिंह, भैरोसिंह केलवा, भानुप्रताप सिंह, भीमसिंह मंडावा, देवीसिंह मंडावा, दुर्लभ सिंह, महेन्द्र सिंह, कानसिंह, केसरसिंह, जयसिंह शेखावत, माधोसिंह, मंगलसिंह, मानसिंह महार, प्रतापसिंह, रघुवीर सिंह, बिशन सिंह, सज्जन सिंह, तेजराज सिंह, उम्मेद सिंह, भैरोसिंह खेजडला, दिलीप सिंह तथा विजय सिंह।[11] इससे जाट नेताओं को ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्हें कमजोर करने का प्रयास किया जा रहा है। कुम्भाराम आर्य ने जयनारायण व्यास के नेतृत्व को चुनौती देने के लिए कांग्रेस दल की बैठक बुलायी। उनके साथ सुखाड़िया, माथुर आदि नेता थे। व्यास ने पं. नेहरू को राजस्थान कांग्रेस की स्थिति से अवगत कराया। सुखाड़िया समर्थकों ने भी व्यास की कार्यशैली से अवगत करते हुए नेहरू को ज्ञापन प्रेषित किया। नेहरू ने व्यास को अपने

मंत्रिमण्डल का पुनः निर्माण करने की सलाह दी परन्तु व्यास इसके लिए तैयार नहीं हुए। 6 नवम्बर 1954 को कांग्रेस विधानसभा पार्टी की बैठक में नेता पद का चुनाव हुआ। व्यास के पक्ष में 51 तथा सुखाड़िया को 59 मत प्राप्त हुए। सुखाड़िया को कांग्रेस दल का नेता चुन लिया गया और सुखाड़िया के नेतृत्व में सरकार बनी। 1967 के चतुर्थ विधानसभा चुनाव में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ विपक्षी दलों ने कांग्रेस को कड़ी चुनौती प्रस्तुत की। राज्यपाल सम्पूर्णानन्द ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया और इस दौरान कांग्रेस ने विधायकों का दल बदल कराकर सरकार बनायी। इस कृत्य की विपक्षी दलों द्वारा घोर निन्दा की गयी।

कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार को राजाओं के द्वारा निरन्तर चुनौती मिल रही थी, उनकी शक्ति क्षीण करने के लिए प्रिविपर्स समाप्त कर दिया, रियासतों के झण्डे लगाना तथा पूर्व उपाधियों के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इससे राजस्थान में नरेश क्षुब्ध हो गए। उद्योगपतियों की शक्ति को क्षीण करने के लिए चौदह बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। 1969 में कांग्रेस का विभाजन हो गया। सिंडिकेट की अगुवाई वाली पुरानी कांग्रेस तथा इन्दिरा गांधी के नेतृत्व वाली 'नयी कांग्रेस' कहलायी। इसी कालखण्ड में पूर्वी पाकिस्तान तथा पश्चिमी पाकिस्तान के बीच द्वन्द चरम सीमा तक पहुंच गया था, इन्दिरा गांधी के द्वारा बांग्लादेश का निर्माण कराया गया तथा 'गरीबी हटाओ' का नारा देकर लोकसभा के मध्यावधि चुनाव (1971) में भारी बहुमत प्राप्त किया। इन्दिरा गांधी शक्तिशाली नेता के रूप में उभरी और राजस्थान विधानसभा के 5वें चुनाव (1972) में भी कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत से अधिक प्राप्त हुआ। 184 सदस्यों के सदन में 145 कांग्रेसी विधायक निर्वाचित हुए। 12 जून 1975 को इलाहबाद उच्च न्यायालय द्वारा प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी का चुनाव अवैध घोषित कर दिया। न्यायमूर्ति ने यह निर्णय समाजवादी नेता राजनारायण द्वारा दायर एक याचिका के मामले में सुनाया था। संजय गांधी की सलाह से इन्दिरा गांधी ने पद त्याग के स्थान पर सम्पूर्ण देश में आपातकाल लागू कर दिया। मार्च 1977 में लोकसभा के चुनावों में कांग्रेस को हार का सामना करना पड़ा। सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण के प्रयास से कांग्रेस विरोधी दलों से निर्मित जनतापार्टी की केन्द्र में सरकार बनी तथा मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री चुने गए। राजस्थान से नाथूराम मिर्धा एक मात्र कांग्रेसी सांसद थे जो 1977 में जीत पाए थे।

आपातकाल की सामप्ति के पश्चात् संपन्न 1977 के लोकसभा चुनावों में उत्तरी भारत के अधिकांश राज्यों में कांग्रेस हार गयी थी, दक्षिण में उसका प्रभाव बचा रहा। जनता पार्टी की केन्द्रीय सरकार ने आपातकाल की न्यायिक जांच प्रारम्भ कर दी। जनता

पार्टी ने आपातकाल में किये गये संवैधानिक संशोधनों को उलटने का निर्णय किया, इसी क्रम में भविष्य में कभी भी देश में पूर्व के समान आन्तरिक आपातकाल लागू करने के प्रावधान को ही समाप्त कर दिया गया, विधायिका का कार्यकाल 6 से हटाकर 5 वर्ष कर दिया गया, आपातकाल में किये गये संशोधनों में से प्रधानमंत्री के चुनाव को चुनौती नहीं देने के प्रावधान को समाप्त कर दिया गया, किन्तु प्रधानमंत्री के पद को महत्वपूर्ण तथा मंत्रिमण्डल के किसी निर्णय को पुनः उसी रूप में भेजने पर राष्ट्रपति के लिए अनुमति देने का प्रावधान जोड़ दिया गया। जनता पार्टी के शासन में 44 वें संवैधानिक संशोधन द्वारा एक परन्तुक जोड़ा गया जो इस प्रकार है – ''परन्तु राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् से ऐसी सलाह पर साधारणतया या अन्यथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा कर सकेगा और राष्ट्रपति ऐसे पुनर्विचार के पश्चात् दी गयी सलाह के अनुसार कार्य करेगा।[12]

केन्द्र की जनता पार्टी की सरकार राजस्थान सहित उन नौ राज्यों में जहां कांग्रेस लोकसभा का चुनाव हार गयी थी। वहां राष्ट्रपति शासन लागू करना चाहती थी। इसके पीछे केन्द्रीय सरकार का तर्क था कि लोकसभा के चुनाव में जनता ने कांग्रेस को पूर्ण रूप से नकार दिया है, इसलिए वहां की सरकारों को पुनः नया जनादेश प्राप्त करना चाहिए। स्वाभाविक रूप से इस कार्य के लिए कोई राज्य सरकार तैयार नहीं हुई, इन राज्यों (हिमाचल प्रदेश, पंजाब, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा, प. बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश) ने उच्चतम न्यायालय में याचिका दायर की, किन्तु उसने हस्तक्षेप करने से मना कर दिया। तब गृहमंत्री चौधरी चरण सिंह ने 21 अप्रैल 1977 को राज्यपालों से विधानसभा भंग करने की सिफारिश केन्द्र को भेजने का निर्देश दिया परन्तु राज्यपाल तैयार नहीं हुए। तब केन्द्रीय सरकार ने इन 9 राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने का निर्णय किया। राष्ट्रपति बी.डी. जत्ती ने हस्ताक्षर करने से मना कर दिया, परन्त पुनः प्रस्ताव भेजने पर राष्ट्रपति अनुमति प्रदान करने के लिए बाध्य थे।

राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। जून 1977 में चुनाव हुए 200 सदस्यों के सदन में कांग्रेस को पहली बार सबसे कम 41 सदस्यों को विजय प्राप्त हुई। राजस्थान में पहली बार गैर कांग्रेसी जनता पार्टी की सरकार बनी जिसके मुख्यमंत्री भैरोसिंह शेखावत थे।

जनवरी 1978 में कांग्रेस का पुनः विभाजन हो गया, ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली पूर्ववत् कांग्रेस रह गई और नई कांग्रेस इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता वाली रही। 1980 के बाद वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस बन गयी। ब्रह्मानन्द रेड्डी के त्यागपत्र के बाद वह कांग्रेस (अर्स) कहलायी।

आपात्काल के दौरान कांग्रेस पर लोकतंत्र और संसदीय संस्थाओं पर प्रहार करने के आक्षेप लगे, इस पृष्ठभूमि में लोकतंत्र को दल के नीतिपरक मंतव्यों में प्राथमिकता प्रदान किया जाना भी एक महत्वपूर्ण संकेत था। सारतः अब दल समाजवाद की परम्परागत नीति के प्रति समर्पित होने की अपेक्षा एक धर्मनिरपेक्ष और आधुनिक समाज के निर्माण तथा राजनैतिक संस्थागत व आर्थिक सुधारों के प्रति समर्पित दल के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करना चाहता था। इस स्थिति को आने वाले वर्षों में कांग्रेस द्वारा समाजवाद और उससे सम्बद्ध नीतिगत पक्षों से स्वयं को पृथक् कर लेने की पूर्व पीठिका के रूप में समझा जा सकता है। यह स्थिति इस तथ्य की व्याख्या का भी आधार प्रदान करती है कि 1980 के चुनावों में कांग्रेस और श्रीमती गांधी का मुख्य स्वर समाजवाद और दुर्बल वर्गों के प्रति समर्पित नीतियों को लागू करने की अपेक्षा शासकीय दक्षता एवं सर्वतोमुखी विकास के माध्यम से देश को आगे बढ़ाने की इच्छा तथा शासन चला सकने में कांग्रेस के अलावा अन्य दलों की विफलता पर था। यह प्रथम चुनाव था जबकि कांग्रेस ने जनता से समर्थन जुटाने के लिए सामाजिक और आर्थिक संदर्भों में समतापरक और समाजवादी कार्यक्रमों के प्रति समर्पण की उद्घोषणा नहीं की। उसे यह सिद्ध करना था कि देश के लिए केवल कांग्रेस को मिली सफलता को कांग्रेस की नीतियों की विरासत की निरन्तरता के रूप में नहीं अपितु सत्ता संस्थान में श्रीमती गांधी की पुनर्प्रतिष्ठा के रूप में देखा गया।[13]

1980 के लोकसभा चुनावों के लिए कांग्रेस (ई) द्वारा जारी चुनाव घोषणा पत्र में, लोकतंत्र के प्रति दल की प्रतिबद्धता के विषय में देश को आश्वस्त करने का प्रयास किया गया, यह प्रयास इस मन्तव्य से प्रेरित था कि जनता आपातकाल के कटु अनुभवों को विस्मृत कर कांग्रेस को लोकतांत्रिक संस्थाओं को समाप्त करने के आक्षेप से मुक्त कर दे। कांग्रेस ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि आपातकाल लागू करना तथा आपातकाल की अवधि में लोगों के मूल अधिकारों के निलम्बन तथा प्रेस सेन्सरशिप आदि के सम्बन्ध में उठाए गए कदम लोकतन्त्र के प्रति कांग्रेस की अवहेलना को नहीं अपितु विपक्षी दलों द्वारा देश में निर्मित कर दी गई अराजकतापूर्ण परिस्थितियों से देश को बचाने की आवश्यकता को इंगित करते थे। समाजवाद को पूर्व में प्रदान की गयी प्राथमिकता भी इन चुनावों में कांग्रेस के घोषणापत्र में परिलक्षित नहीं हुई। पूर्ववर्ती दौर में कांग्रेस का तर्क रहा था कि 'समाजवाद ही सुदृढ़ और वास्तविक लोकतन्त्र की आधारशिला हो सकता है। इस स्वर में परिवर्तन करते हुए इस चुनाव घोषणा पत्र में इंगित किया गया कि 'लोकतन्त्र ही एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर देश को सुदृढ़ बनाया जा सकता है।' लोकतंत्र की व्याख्या में अब समाजवाद को द्वितीयक और धर्मनिरपेक्षता को प्राथमिक स्थान देते हुए कहा गया, एक ऐसा

लोकतंत्र जो धर्मनिरपेक्षता पर आधारित हो तथा जिसके द्वारा लगातार समाजवादी लक्ष्य का विस्तार हो। घोषणा पत्र में सम्मिलित आर्थिक कार्यक्रमों में कृषि उत्पादन में तेजी से वृद्धि लाना, छोटे किसानों के लिए ऋण सुविधाओं का विस्तार, फिजुल खर्ची को नियंत्रित किया जाना तथा कारखानों के प्रबन्ध में मजदूरों की सहभागिता आदि पर बल दिया गया। घोषणा पत्र में इंगित सामाजिक दृष्टिकोण में अब समता और सामाजिक न्याय की अपेक्षा, अल्पसंख्यकों के हितो के संरक्षण को प्राथमिकता दी गई, इससे दल की अल्पसंख्यक समुदाय के समर्थन को अपने पक्ष में बनाए रखने की आकांक्षा उजागर हुई। घोषणा पत्र में अल्पसंख्यक आयोग को सुदृढ़ किये जाने और उसे सांविधानिक स्तर प्रदान किये जाने, पुलिस सुरक्षा सेवाओं और अन्य राजकीय सेवाओं में अल्पसंख्यकों को नियोजन के अधिक अवसर प्रदान किये जाने तथा उर्दू भाषा को उसका सांविधानिक स्तर व्यवहार में प्रदान करवाये जाने के आश्वासन दिये गए।[14]

घोषणा पत्र में सम्मिलित किये गये सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक पक्षों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि अब दल सुस्पष्ट विचारधारा की अपेक्षा चमत्कारिक नेतृत्व तथा शासकीय दक्षता को अपने समर्थन का आधार बनाना चाहता था। समाज विभिन्न वर्गों का समर्थन प्राप्त करने के लिए भी दल की रणनीति अब समता सामाजिक न्याय और शोषण मुक्त समाज के वैचारिक अधिष्ठानों के माध्यम से समग्रतः समाज के कमजोर वर्गों को साथ लेने की नहीं, अपितु विशिष्ट वर्गों के हितों की पूर्ति का आश्वासन देकर अपने समर्थन के सामाजिक आधार को अक्षुण्ण रखने का प्रयास करने की थी। इस चुनाव में कांग्रेस को लोकसभा में 2/3 बहुमत प्राप्त हुआ तथा उसने 351 स्थान प्राप्त किए, 42.66 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। उल्लेखनीय है कि 1977 के चुनावों में दल को कुल 34.64 प्रतिशत मत प्राप्त हो सके थे। प्राप्त मतों के प्रतिशत और लोकसभा में स्थानों की दृष्टि से 1977 के चुनावों में लगे आघात के पश्चात् कांग्रेस ने वही स्थिति पुनः अर्जित कर ली थी जो समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता और समाज के दुर्बल वर्गों के उत्थान के संकल्प के आधार पर 1971 के चुनावों में श्रीमती गांधी की लोकप्रियता के चरम बिन्दू के रूप में परिलक्षित हुई थी (1971 के चुनावों में कांग्रेस को लोकसभा में 350 स्थान और 43.6 प्रतिशत मत प्राप्त हुए थे) किन्तु इस स्थिति का महत्वपूर्ण पक्ष है कि उक्त दोनों चुनावों में कांग्रेस के समर्थन के आधारों से गुणात्मक भिन्नता थी। 1971 के चुनावों में समाज के विभिन्न वर्गों को समर्थन समाजवादी विचारधारा, गरीबों के कल्याण के प्रति समर्पित नीतियों और सामाजिक और आर्थिक न्याय के मन्तव्यों की प्राप्ति के लिए निर्दिष्ट परिवर्तनों की आकांक्षा पर आधारित था, जबकि 1980 के चुनावों में समर्थन के लिए विपक्षी दलों की शासकीय अदक्षता तथा

श्रीमती गांधी की व्यक्तिगत नेतृत्व क्षमता के आधार के रूप में सभी समुदायों के दुर्बल वर्गों को सम्बोधित करने की अपेक्षा अब अल्पसंख्यकों और अनुसूचित जातियों व जनजातियों का समर्थन बनाए रखने के लिए विशिष्टतः सम्बोधित किया गया। यह टिप्पणी की जा सकती है कि 1980 के चुनाव श्रीमती गांधी की पुनर्प्रतिष्ठा के साक्षी तो बने किन्तु उन्होंने विचारधारा, नीतियों व कार्यक्रमों के आधार पर कांग्रेस के समर्थन तथा उसके समर्थन के स्थायी सामाजिक आधारों से विचलन का भी सूत्रपात कर दिया।[15]

उस समय राजस्थान में जनता पार्टी की सरकार थी जो कि शेखावत के नेतृत्व में कार्य कर रही थी। केन्द्र मे कांग्रेस की सरकार थी अतः उन्होनें जनता पार्टी की पूर्व सरकार का अनुसरण करते हुए उन राज्यों की विधानसभा भंग कर दी जहां जनता पार्टी की सरकार थी, इसी क्रम में 17 फरवरी, 1980 को राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जो 5 जून, 1980 तक रहा, इसी कालखण्ड के दौरान विधानसभा के मध्यावधि चुनाव हुए।

केन्द्र में जनता पार्टी के शासन के दौरान नेताओं की आपसी कलह तथा कुछ आवश्यक वस्तुओं जैसे सीमेण्ट, डीजल आदि की भारी कमी तथा अस्थायी सरकार व अस्थिर नेतृत्व के कारण जनता में पार्टी की छवि खराब हो चुकी थी, जिसका प्रभाव सभी राज्यों पर हुआ। यद्यपि राजस्थान में जनता पार्टी की छवि इतनी खराब नहीं हुई परन्तु मोरारजी देसाई सरकार के पतन के बाद जनता पार्टी अपने पुराने दलों में बिखर गयी थी, जनसंघ ने भी जनता पार्टी से अलग होकर नवीन दल भारतीय जनता पार्टी का निर्माण किया। फलतः विधानसभा के मध्यावधि चुनावों में जनता पार्टी को निराशाजनक परिणामों का सामना करना पड़ा। लोकसभा की तरह विधानसभा में भी कांग्रेस को 2/3 बहुमत प्राप्त हुआ। कांग्रेस को 200 स्थानों में से 133, भाजपा को 32, जनता पार्टी को 8, जनता पार्टी (चरणसिंह) 7, कांग्रेस (अर्स) 6, भाकपा व माकपा को एक–एक तथा निर्दलीयों ने 10 स्थान प्राप्त किए।

कांग्रेस पार्टी में श्रीमती गांधी और उनके पुत्र संजय गांधी ही सर्वेसर्वा थे, राज्यों की राजनीति, नेता का निर्णय, आवश्यक दिशा निर्देश आदि उनके द्वारा ही दिए जाते थे। रामकिशोर व्यास के नेतृत्व में लोकसभा तथा विधानसभा के चुनाव लड़े गए, राजनीतिक अनुमानों की दृष्टि से उनके मुख्यमंत्री बनने की संभावना थी परन्तु वे अपने गृहक्षेत्र 'जयपुर ग्रामीण' से चुनाव हार गए। उनके पश्चात् हीरालाल देवपुरा का नाम सामने आया परन्तु सभी अनुमानों से परे संजय गांधी ने केन्द्र में राज्यमंत्री तथा अनुसूचित जाति के जगन्नाथ पहाड़िया का मनोनयन किया। यह निर्णय राजस्थान कांग्रेस को किसी भी प्रकार से उचित

नहीं लगा। 6 जून 1980 को पहाड़िया ने मुख्यमंत्री पद की शपथ ली। उनका इससे पूर्व सार्वजनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था तथा उन्हें प्रदेश शासन व प्रशासन के बारे में भी कोई जानकारी नहीं थी। उन्हें अपने मंत्रिमण्डल का निर्माण करने में 13 दिन लगे वह भी तीन हिस्सों में सम्पन्न हुआ, नए मंत्रियों तथा निर्णयों के अभाव में प्रशासनिक कार्य सुचारू ढंग से नहीं चल सका। केन्द्र ने राजस्थान राज्य के मुख्य सचिव को भी परिवर्तित कर दिया। परन्तु कार्यों में किसी प्रकार की चुस्तता परिलक्षित नहीं हुई, भ्रष्टाचार बढ़ने लगा, कांग्रेस की छवि को नुकसान होने लगा। कांग्रेस ने 1977 में अपने जनाधार को खो दिया था, अतः उसे पुनः प्राप्त करने अनुसूचित जाति, जनजाति, अल्पसंख्यक वर्गों तथा दुर्बल वर्गों को प्रसन्न करने की दृष्टि से ही पहाड़िया को राजस्थान का मुख्यमंत्री बनाया गया था परन्तु तेरह माह में ही पार्टी को उन्हें हटाना पड़ा। उनके स्थान पर राष्ट्रपति के चुनाव में अन्तरात्मा की आवाज पर वी.वी.गिरी को मत देने वाले शिवचरण माथुर ने राजस्थान राज्य को नेतृत्व प्रदान किया। माथुर नेहरू के विचारों से प्रभावित थे तथा समाजवादी थे, उन्होंने अपने नेतृत्व के दौरान प्रशासन में अनेक प्रकार से सुधार किए परन्तु जनता पर नए करों के भार तथा पार्टी में अंसतोष के कारण मंत्रिमण्डल में परिवर्तन करना पड़ा। मंत्रिमण्डल में परिवर्तन के दौरान कुछ पूर्व मंत्रियों को पदच्युत कर दिया गया जिससे असंतोष उत्पन्न हुआ। फरवरी, 1985 के विधानसभा चुनाव के 15 दिन पूर्व डीग विधानसभा क्षेत्र (भरतपुर) में हिंसक घटनाओं व तोड़–फोड़ के दौरान वहां के पूर्व महाराजा के भाई व विधायक मानसिंह की व अन्य दो व्यक्तियों की पुलिस की गोली से मृत्यु हो गयी, इस घटना ने अत्यधिक तूल पकड़ा जिससे माथुर को तुरन्त इस्तीफा देना पड़ा। मात्र 15 दिनों के लिए वरिष्ठ विधायक हीरालाल देवपुरा को मुख्यमंत्री की शपथ दिलाई गई।

आठवीं विधानसभा का कार्यकाल 1985 से 1990 तक रहा। 1985 के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ तथा उसने 113 स्थान प्राप्त किए। 1984 के लोकसभा तथा 1985 के विधानसभा चुनाव इन्दिरा गांधी की हत्या से उत्पन्न सहानुभूति लहर की पृष्ठभूमि में हुए थे अतः कांग्रेस को प्रचण्ड बहुमत प्राप्त हुआ। दोनों ही चुनावों के संतोषजनक परिणाम के कारण हरिदेव जोशी को मुख्यमंत्री मनोनीत किया गया, क्योंकि विधानसभा चुनाव का उत्तरदायित्व प्रदेशाध्यक्ष नवलकिशोर शर्मा के साथ हरिदेव जोशी को सौंपा गया था।

1980 से 1985 के समान ही 1985 से 1990 तक पांच सालों में तीन मुख्यमंत्री हुए। जोशी ने दो बार यह पद भार संभाला। मध्य में 22 माह के लिए शिवचरण माथुर को पुनः लाया गया। हरिदेव जोशी को यह उत्तरदायित्व उनके संगठन के प्रति निष्ठा तथा योग्यता

को देखते हुए ही प्रधानमंत्री राजीव गांधी द्वारा दिया गया था। परन्तु 20 जनवरी 1988 को जोशी को मुख्यमंत्री पद त्यागना पड़ा था, यद्यपि उनका एक भी कार्य राजनीतिक दल विरोधी तथा नेता की निष्ठा के विरूद्ध नहीं था, राजस्थान का कोई भी विधायक और स्वयं राजीव गांधी भी उनके विरूद्ध नहीं थे। तत्कालीन केन्द्रीय गृहमंत्री बूटासिंह जो कि जालौर से सांसद थे, जोशी के विरूद्ध थे तथा केन्द्र में रहकर राजस्थान का राज्य चलाना चाहते थे वे जोशी से ऐसे कार्य करवाना चाहते थे जो नियमानुसार जोशी नहीं करना चाहते थे, अतः बूटासिंह ने राजीव गांधी को उनके विरूद्ध अनर्गल सूचनाएं दी। इसके अतिरिक्त सीकर जिले के दिवराला गांव में हुए सतीकाण्ड की राज्य में तथा लोकसभा में घोर निन्दा हुई कि इस प्रकार की कुरीति को राज्य सरकार रोकने में असफल रही, अन्ततः 1988 के उपरोक्त घटनाक्रम के चलते जोशी ने त्यागपत्र दे दिया। हरिदेव जोशी के स्थान पर शिवचरण माथुर को पदभार ग्रहण करवाया गया तथा जोशी को असम का राज्यपाल नियुक्त किया गया। उस कालखण्ड में बोफोर्स काण्ड के कारण कांग्रेस सरकार की छवि धुमिल हो गयी, फलतः 1989 के नौवें लोकसभा चुनाव में कांग्रेस को राजस्थान की 25 में से एक सीट भी नहीं मिली। कुछ माह पश्चात् राजस्थान विधानसभा के चुनाव भी होने वाले थे, अतः राजीव गांधी ने पुनः जोशी को 3 दिसम्बर 1989 को मुख्यमंत्री पद प्रदान किया।

1990 से 1998 तक 8 वर्षों के लिए भाजपा का शासन रहा उसके पश्चात् 1998 से 2003 तक राजस्थान में पुनः कांग्रेस का शासन रहा। 1998 में भाजपा की हार हुई इसके पीछे अनेक कारण भाजपा में आन्तरिक गुटबाजी, कार्यकर्ताओं की उपेक्षा, राष्ट्रीय स्वयं सेवक का शेखावत से क्रुद्ध होना तथा जितवाने के लिए प्रयास ना करना आदि। इन चुनावों में भाजपा को 200 में से मात्र 38 स्थान प्राप्त हुए जबकि कांग्रेस ने प्रथम बार 153 विधायकों के निर्वाचन का कीर्तिमान बनाया। गहलोत प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष थे और उनके नेतृत्व में ही 11वीं विधानसभा का चुनाव लड़ा गया अतः वे ही मुख्यमंत्री बने। कांग्रेस विधायक दल का नेता निर्वाचित होने के बाद आशोक गहलोत ने 1 दिसम्बर, 1998 को मुख्यमंत्री पद की शपथ ग्रहण की। गहलोत ने 5 वर्षों के दौरान दो बार मंत्रिमण्डल में विस्तार किया, प्रथम दौर में मुख्यमंत्री सहित 20 मंत्री तथा 13 राज्यमंत्री थे। द्वितीय विस्तार लगभग साढ़े तीन वर्ष बाद 13 मई, 2002 को हुआ था तब उन्होनें तीन नए मंत्री और दो पूर्व राज्यमंत्रियों को पदोन्नति प्रदान कर मंत्री नियुक्त किया था, ग्यारह नए राज्यमंत्री और दो संसदीय सचिवों को मंत्रिपरिषद् में सम्मिलित किया था। द्वितीय विस्तार से पूर्व कांग्रेस के वरिष्ठ नेता और तत्कालीन वित्तमंत्री चन्दनमल बैद ने कांग्रेस उच्चकमान से रूष्ट होकर 18 फरवरी, 2000 को त्यागपत्र दे दिया था। एक मंत्री किशन मोटवानी का 01

नवम्बर, 2001 को निधन हो जाने से मंत्रियों की संख्या कम हो गयी थी, इसी प्रकार से द्वितीय विस्तार के बाद वयोवृद्ध भील नेता भीखाभाई का 5 जून, 2002 को निधन हो गया था। द्वितीय विस्तार में एक मंत्री श्रीमती जकिया तथा तीन राज्यमंत्री अब्दुल अजीज, श्रीमती इन्दिरा मायाराम तथा भगराज चौधरी मंत्रिमण्डल से पृथक् कर दिए गए। दूसरे विस्तार के बाद गहलोत मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या चालीस से भी अधिक हो गयी थी। इससे पूर्व कभी भी किसी मुख्यमंत्री के मंत्रिमण्डल में इतने सदस्य नहीं थे।[16]

द्वितीय एंव वृहत् विस्तार गुजरात दंगों के बाद पूर्ण किया गया था, राजस्थान गुजरात का सीमावर्ती राज्य हैं, गोधरा रेल अग्निदाह की राजस्थान में बहुत तीखी प्रतिक्रिया हुई थी। वागड़ क्षेत्र गुजरात से लगा हुआ है, रेल के डिब्बे में अयोध्या से लौट रहे हिन्दू कार सेवकों को मुसलमानों द्वारा जला देने से राजस्थान के लोगों में जबर्दस्त क्रोध और रोष फैला था। गहलोत सरकार ने कुछ छोटी घटनाओं के अतिरिक्त कोई बड़ी वारदात नहीं होने दी और स्थिति को नियंत्रण में कर लिया था, गहलोत ने हिन्दू जनता को तुष्ट करने के लिए मंत्रिमण्डल में बड़ा विस्तार किया था। विस्तार का द्वितीय कारण कांग्रेस विधायकों में बढ़ते असंतोष को कम करना भी था, परन्तु गहलोत इन दोनों ही कारणों से सहमत नहीं थे उनका कहना है कि मंत्रिमण्डल में फेर बदल निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है।

गहलोत सरकार ने राजस्थान राज्य के विकास के लिए आधारभूत ढ़ाँचे को मजबूत करने की दृष्टि से 7 कार्यों की प्राथमिकता स्पष्ट की। प्रथम प्राथमिकता बिजली को, द्वितीय सड़क को, तृतीय नगरीय विकास, चतुर्थ जल, पंचम आई.टी. व टेलीकॉम, छठी शिक्षा तथा सातवीं प्राथमिकता स्वास्थ्य को प्रदान की गयी।

ऊर्जा क्षेत्र में सुधार विश्व बैंक की योजना के अनुसार किया गया ताकि उत्पादन में वृद्धि हो सके एवं विभन्न क्षेत्रों को निर्बाध रूप से बिजली की आपूर्ति हो सके, औद्योगीकरण के लिए अधिकाधिक मात्रा में ऊर्जा उपलब्ध हो तथा उसकी चोरी एवं अवैध विद्युत कनेक्शन पर रोक लग सके। एक अधिकृत सूचना के अनुसार राजस्थान राज्य विद्युत मण्डल को प्रारम्भ में केवल सौ करोड़ का घाटा होता था जो इस समय बढ़कर 1750 करोड़ रूपये वार्षिक का हो गया। विद्युत उत्पादन वृद्धि कांग्रेस सरकार की उपलब्धि कही जा सकती है। अशोक गहलोत के शासनरूढ़ होने पर राजस्थान की कुल 3356 मेगावाट विद्युत उपलब्ध होती थी, परन्तु अगले 5 वर्षों में 1200 मेगावाट विद्युत का उत्पादन बढ़ाया गया। ग्रामीण क्षेत्रों के विद्युतीकरण में भी वृद्धि हुई। दिसम्बर 1998 में राज्य के 39,810 गांवों में से 35,422 गांवों को विद्युत आपूर्ति की जाती थी। जिसमें वृद्धि करके 95

प्रतिशत गांवों को विद्युत से जोड़ा गया। कृषि के लिए प्रतिदिन 6–7 घण्टे बिजली देने का सरकार ने दावा किया परन्तु ग्रामीण जनता विद्युत की अनियमित आपूर्ति के कारण नाराज रही।

विकास की प्रथम आवश्यकता सड़क मार्ग है, सड़कों के द्वारा विकास का प्रवाह एक स्थान से दूसरे स्थान पर होता है अतः कांग्रेस के इस शासनकाल में सड़कों के रखरखाव तथा नवीनीकरण पर पर्याप्त ध्यान दिया गया। इसके लिए दसवीं पंचवर्षीय योजना में पिछली योजना से दोगुनी धनराशि का प्रावधान किया गया। 10वीं योजना 2002 से 07 तक के लिए थी।

कांग्रेस शासन में दिसम्बर, 1998 से जनवरी, 2003 तक 2 हजार 93 करोड़ रूपये खर्च किए गए, जून 2002 तक 6805 किलोमीटर लम्बी सड़कों का निर्माण किया गया था, इससे 4887 गांवों को जोड़ा जा सका था। इसी कालखण्ड में 19,337 किलोमीटर सड़कों का नवीनीकरण एवं सुदृढ़ीकरण किया गया था, इसके साथ ही अकाल राहत कार्यों के अन्तर्गत 32000 किलोमीटर ग्रेवल सड़कों का निर्माण किया गया था। प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना के अन्तर्गत एक हजार से अधिक की जनसंख्या वाले 417 गांवों को जोड़ा गया, इस योजना के अन्तर्गत वर्ष 2001–02 में देश में निर्मित सड़कों में से 69 प्रतिशत निर्माण राजस्थान में हुआ था। मुख्यमंत्री अशोक गहलोत ने आधारभूत ढाँचे को मजबूत करने के लिए एक प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया, जिसके अध्यक्ष भूतपूर्व मुख्यमंत्री शिवचरण माथुर बनाए गए। माथुर आयोग ने 3 वर्ष में 11 प्रतिवेदन प्रस्तुत किये, ये प्रतिवेदन राजस्व प्रशासन, नगरीय सम्पत्ति पर कर, रजिस्ट्रेशन एवं स्टाम्प, गृहकर, भू–भवन कर, शहरी जमाबन्दी का निर्धारण, राज कर्मचारियों का स्थानान्तरण, विद्युत क्षेत्र में सुधार, पंचायती राज, जन अभाव अभियोगों का निराकरण, पुलिस, राजकीय वाहनों के खर्च में मितव्ययता, आदर्श स्थानान्तरण नीति, गैस, लिग्नाईट व पेट्रोल के सम्बन्ध में थे।

सामान्य जनता के अनेक कार्यों को निपटाने तथा नित्यप्रति के कार्य जैसे राशनकार्ड, नागरिकता प्रमाण पत्र जारी करना, अन्य प्रमाणपत्र व दस्तावेजों की प्रतियां लेना आदि के लिए 'प्रशासन गांवों की ओर तथा प्रशासन शहरों की ओर' के शिविर लगाए गए थे। कांग्रेस शासन में इस प्रकार के अनेक शिविर, तहसील तथा नगरों में अनेक बार लगाए गए, इनमें सामान्य जनता के 70 लाख मामले निपटाए गए।

सूचना का अधिकार, प्रशासन में पारदर्शिता लाने एवं भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए भाजपा सरकार के कालखण्ड से ही प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता अरूणाराय के नेतृत्व में सूचना के अधिकार के लिए संघर्ष प्रारम्भ किया था। सूचना के अधिकार के लिए अनेक

सम्मेलन हुए, जिसमें अनेक व्यक्तियों तथा पत्रकारों ने भाग लिया। अरूणा राय राजस्थान में अनेक वर्षों से जनजागरण के अभियान में लगी हुई है। कांग्रेस सरकार ने सन् 2000 में 'राजस्थान सूचना अधिकार अधिनियम' को मान्यता प्रदान कर विधानसभा से पारित करवाया। सन् 2005 से यह अधिनियम सम्पूर्ण देश में लागू हो चुका है।

राजस्थान राज्य में मानवाधिकार आयोग की स्थापना की मांग अनेक वर्षों से की जा रही थी, कांग्रेस सरकार ने 22 मार्च, 2002 को आयोग की स्थापना की। प्रथम महिला आयोग की स्थापना भी उसी कालखण्ड में की गयी, 1999 में नवीन कानून बनाया गया। 'राजस्थान राज्य अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम सन् 2001 में निर्मित किया,' और उसे वैधानिक स्तर प्रदान किया, इसी प्रकार से अनुसूचित जाति, जनजाति और अन्य पिछड़ी जाति आयोगों को कानूनी स्वरूप प्रदान किया गया।

भारतीय जनता पार्टी –

विचारधारा संगठनात्मक ढाँचे और नेतृत्व के स्वरूप की दृष्टि से भारतीय जनता पार्टी को व्यापकतः पूर्ववर्ती भारतीय जनसंघ का रूपान्तरण माना जाता है। जनसंघ की विचारधारा मूलरूप से हिन्दू राष्ट्रवाद की धारणा से प्रेरित थी तथा उसमें भारतीय संस्कृति और मर्यादा पर बल था। जहां स्वतन्त्रता के पश्चात् विद्यमान अन्य राजनीतिक दल कांग्रेस, समाजवादी पार्टी आदि पश्चिमी दार्शनिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रतिमानों को आधार बनाकर देश का रूपान्तरण करना चाहते थे, जनसंघ भारतीय संस्कृति की सुधारवादी परम्पराओं के आधार पर राष्ट्र के नवनिर्माण का संकल्प व्यक्त करती थी। सामाजिक, आर्थिक रूपान्तरण की उसकी शैली के सूत्र स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और बाल गंगाधर तिलक जैसे मनीषियों के सुधार आन्दोलनों से प्रेरित थे। भारतीय सुधारवादी आन्दोलनों के इन पुरोधाओं के दृष्टिकोण में संस्कृति के मूल्यों में आस्था रखते हुए तथा उसकी पहचान को अक्षुण्ण रखते हुए, वर्तमान और भविष्य की चुनौतियों का सामना करने की दृष्टि से आधुनिकीकरण के प्रति आग्रह विद्यमान था। इसी मन्तव्य को व्यक्त करते हुए जनसंघ के संस्थापकों में से प्रमुख और उसके वैचारिक आधार के प्रमुख रचनाकार श्री दीनदयाल उपाध्याय ने कहा था, ''हम समाज में दो प्रवृत्तियों को कार्यशील देखते हैं एक पुरातन अर्थात् विद्यमान को इतना पवित्र मानती है कि उसे कभी बदला न जा सके और कोई चुनौती, द्वितीय प्रत्येक पुरानी बात को नकारती है और परिवर्तन की दिशा और स्वरूप पर विचार किये बिना ही परिवर्तन की पक्षधर है। जनसंघ इन दोनों प्रवृत्तियों का विरोध करता है। हम अतीत से प्रेरणा प्राप्त करें, किन्तु हमारी दृष्टि भविष्य की ओर हो। जनसंघ

को हमारी जनता के नवजागरण का उपयुक्त माध्यम बनाना है। हमें केवल एक दल नहीं बनाना अपितु एक आन्दोलन का नेतृत्व देना है।''[17]

जनसंघ की स्थापना 21 अक्टूबर, 1951 को हुई थी, उसके संस्थापक अध्यक्ष एक प्रतिष्ठित राजनेता डॉ0 श्यामा प्रसाद मुखर्जी थे। डॉ0 मुखर्जी यद्यपि कांग्रेस की नीतियों से विरोध रखने वाले संगठन हिन्दू महासभा के अध्यक्ष रह चुके थे, किन्तु उनके प्रशासनिक अनुभव और निष्ठावान व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें अपनी मंत्रिपरिषद् में सम्मिलित किया था।

स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान हिन्दू–मुसलमान नेताओं के बीच मतभेद, पाकिस्तान का निर्माण तथा अल्पसंख्यक हिन्दुओं के भारत में पलायन के संदर्भ में नेहरू लियाकत समझौते से उत्पन्न विरोध के कारण डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी तथा के.सी. नियोगी 1950 में केन्द्रीय मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र देकर अलग हो गये थे।

उनका यह आक्षेप था कि नेहरू की नीतियों में पाकिस्तान के प्रति तुष्टिकरण की भावना तथा बहुसंख्यक हिन्दुओं की भावनाओं के प्रति पक्षपात परिलक्षित होता था। उनका आक्षेप था कि कांग्रेस की तत्कालीन नीतियाँ राष्ट्रीय स्वाभिमान से संगत नहीं थी। डॉ. मुखर्जी ने यह आवश्यकता अनुभव की कि कांग्रेस की बड़ी नीतियों का प्रतिकार करने के लिए एक अन्य राष्ट्रीय दल की स्थापना की जानी चाहिए। इस प्रकार प्रखर राष्ट्रवाद और बहुसंख्यक हिन्दुओं के अनुसरण का आग्रह जनसंघ की स्थापना के विचार में ही अन्तर्ग्रस्त था, यह आग्रह जनसंघ का प्रमुख वैचारिक आधार बना। यह स्वाभाविक ही था कि उन्हें जनसंघ के वैचारिक आधार और संगठन को सुदृढ़ करने में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का सहयोग प्राप्त हुआ जो कि हिन्दुत्व की विचारधारा और हिन्दुत्व में अन्तर्निहित सांस्कृतिक मूल्यों को राष्ट्रनिर्माण का आधार बनाने के विचार को समर्पित एक सांस्कृतिक संगठन था। वैचारिक आधार भूमि की सहज समानता के कारण राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और जनसंघ के मध्य सहयोगपूर्ण सम्बन्ध जनसंघ की स्थापना के समय से ही विद्यमान रहे। यह माना जाने लगा कि जनसंघ की विचारधारा के निरूपण में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की निर्णायक भूमिका होती है तथा व्यापक तौर पर वह उसे संगठनात्मक ढ़ाँचा भी उपलब्ध कराता है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की सम्बद्धता तथा कांग्रेस की कश्मीर और अल्पसंख्यक नीति के प्रति तीव्र विरोध की पृष्ठभूमि के कारण जनसंघ को उसकी स्थापना के काल से ही एक हिन्दुत्ववादी राष्ट्रवादी दल के रूप में पहचान प्राप्त हुई।[18]

हिन्दू महासभा के एक कार्यकर्ता द्वारा 30 जनवरी, 1948 को महात्मा गांधी की हत्या के बाद राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर भारत सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया था।

सरकार गांधीजी की हत्या से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की सम्बद्धता के कोई प्रमाण नहीं जुटा सकी तथा उसे संघ पर लगाया हुआ प्रतिबन्ध वापस लेना पड़ा।

तब संघ के एम.एस. गोलवलकर और कुछ प्रमुख कार्यकर्ताओं ने एक राजनीतिक दल बनाने का विचार प्रकट किया, उन्होंने डॉ0 मुखर्जी से मिलकर नया दल बनाने का प्रस्ताव रखा। डॉ0 मुखर्जी स्वयं नवीन दल निर्माण के प्रयास में थे। उनका विचार था कि यदि स्वयं की विचारधारा का कोई राजनीतिक दल होता तो जनता और संसद में विचारों को प्रकट किया जा सकता था तथा संघ पर संभवतः प्रतिबन्ध भी नहीं लगता। डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी 1941 से 1915 तक हिन्दू महासभा के अध्यक्ष थे डॉ0 मुखर्जी ने महासभा की कार्यसमिति के समक्ष एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि एक नवीन दल निर्मित किया जाए जिसमें सभी सम्प्रदायों के लिए प्रवेश खुला हो किन्तु कार्यसमिति ने इस प्रकार के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, तत्पश्चात् मुखर्जी ने 1948 में महासभा त्याग दी। मुखर्जी का विचार था कि राजनीतिक गतिविधियां नवीन दल द्वारा संचालित होंगी तथा महासभा सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में कार्य करेगी। उन्होंने संघ के नेताओं से विचार विमर्श कर उनके सहयोग से नया दल बनाने का निर्णय 1951 में लिया।[19]

डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी जनसंघ के अध्यक्ष तथा अटल बिहारी वाजपेयी उनके सचिव बनाए गए। राजस्थान में इस नवीन दल की स्थापना अखिल भारतीय स्तर पर होने से एक माह पूर्व ही 12–13 सितम्बर, 1951 को जयपुर में आयोजित सम्मेलन में हुई। 13–14 अक्टुबर 1951 को राजस्थान का प्रथम अधिवेशन सम्पन्न हुआ, जिसमें प्रो0 बलराज मधोक भी सम्मिलित हुए जो कि कुछ समय पश्चात् जनसंघ के अखिल भारतीय स्तर के अध्यक्ष भी बने तथा प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता पं. चिरंजीवलाल मिश्र ने की। संस्थापक चिरंजीवलाल मिश्र (जयपुर), सुन्दरसिंह भण्डारी (उदयपुर), लालसिंह शक्तावत (उदयपुर), रामस्वरूप शर्मा (कोटा), देवराज बोहरा (जोधपुर), सुखराज लोढ़ा (जोधपुर), बनेसिंह शेखावत (जयपुर), सतीशचन्द्र अग्रवाल (भूतपूर्व विधायक), तथा केन्द्रीय राज्यमंत्री जयपुर तथा जगदीश प्रसाद माथुर (सीकर) थे। कुछ समय पश्चात् कृष्ण कुमार गोयल, दयाकृष्ण विषय, मदनलाल धूपड़, तथा सम्पत्तिलाल बोहरा का जनसंघ को सहयोग प्राप्त हुआ। पं. मिश्र तथा शक्तावत के अतिरिक्त अन्य सभी सदस्य राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ से सम्बन्धित थे।

अखिल भारतीय स्तर पर जनंसघ की स्थापना 21 अक्टूबर 1951 को तीन सौ प्रतिनिधियों के सम्मेलन में हुई तथा श्यामा प्रसाद मुखर्जी को अध्यक्ष निर्वाचित किया। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के समर्थन तथा जागीरदारों के सहयोग का ही परिणाम था कि

प्रथम विधानसभा चुनाव में राजस्थान शाखा में जनसंघ के 50 उम्मीदवार खड़े किए, यद्यपि उम्मीदवार निर्वाचित हुए और 5.9 प्रतिशत मत प्राप्त किए। जनसंघ की स्थापना के 4–5 वर्षो में ही वह प्रमुख कांग्रेस विरोधी दल हो गया।

1952 के प्रथम विधानसभा चुनाव में जागीरदारों ने इस आस्था के साथ जनसंघ को सहयोग दिया कि कांग्रेस विरोधी होने के कारण यह दल राजस्थान में जागीर उन्मूलन का विरोध करेगा परन्तु जनसंघ ने अपने घोषणा पत्र में जागीरदारी प्रथा का विरोध किया। इस कारण जागीरदार वर्ग तथा राजपूत जनसंघ के विरूद्ध हो गए। इस तथ्य की पुष्टि प्रथम और द्वितीय आमचुनाव के आंकड़ों में दृष्टव्य है, प्रथम विधानसभा चुनाव में जनसंघ ने 50 उम्मीदवार खड़े किए और जागीरदारों के समर्थन के कारण 8 राजपूत निर्वाचित हुए जबकि द्वितीय आमचुनाव में 47 उम्मीदवार खड़े किए और उनमें से मात्र 6 उम्मीदवार निर्वाचित हुए। प्रथम विधानसभा चुनाव में जनसंघ को 5.9 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए जबकि द्वितीय में 5.5 प्रतिशत वोट रह गए। लोकसभा चुनावों के लिए जनसंघ ने 1952 में चार उम्मीदवार खड़े किए थे तथा जागीरदारों के सहयोग के कारण कांग्रेस पार्टी के उम्मीदवार प्रसिद्ध लोकनायक माणिक्यलाल वर्मा को चित्तौड़गढ़ लोकसभा क्षेत्र से उमाशंकर त्रिवेदी ने पराजित कर दिया परन्तु शेष तीन उम्मीदवार हार गए। जनसंघ को मात्र तीन प्रतिशत मत प्राप्त हुए। 1957 में लोकसभा के लिए 6 उम्मीदवार खड़े किए किन्तु जागीरदारों के समर्थन के अभाव में सभी पराजित हो गए, वोटों की प्रतिशत वृद्धि 11.1 हो गयी। जातियों की दृष्टि से उपरोक्त दोनों चुनावों के विश्लेषण से जनसंघ के विस्तृत आधार की पुष्टि होती है। प्रथम विधानसभा चुनाव में निर्वाचित आठों विधायक राजपूत थे, किन्तु द्वितीय निर्वाचन में 6 विधायकों में से मात्र एक ही राजपूत था, दो ब्राह्मण तथा तीन वैश्य थे।1962 के तृतीय आम चुनाव में जनसंघ के 15 विधायक निर्वाचित हुए जिनमें 1957 की अपेक्षा ढ़ाई गुना वृद्धि हुई। मतदाताओं की संख्या में भी बढ़ोत्तरी हुई। विधानसभा में 9.2 प्रतिशत तथा लोकसभा में 9.8 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए, लोकसभा में एक स्थान भी प्राप्त हुआ। 1962 के विधानसभा निर्वाचन में जनसंघ ने 94 उम्मीदवार खड़े किए जिनमें निर्वाचित 15 विधायकों में से चार राजपूत, ब्राह्मण और अन्य हिन्दू थे, दो अनुसूचित जाति, जनजाति तथा पिछड़ी जातियों में से थे। तीनों चुनावों में अधिकांश विधायक 25 से 50 आयु वर्ग में थे, शिक्षा की दृष्टि से भी दूसरे व तीसरे निर्वाचन में मैट्रिक से निम्न कोई नहीं था। वरन् कुछ तो स्नातक व विधि स्नातक थे, व्यवसाय की दृष्टि से भी व्यापारी, समाजसेवी, जागीरदार, व्यवसायी थे, परन्तु कोई कृषक नहीं था।[21]

अखिल भारतीय परिदृश्य के संदर्भ में यह टिप्पणी प्रासंगिक है कि जनसंघ द्वारा कांग्रेस को इस अर्थ में कठिन चुनौती प्रस्तुत कर पाने में सफल न होने के बाद भी उसकी उपलब्धियों को नकारा जा सकता था। उसने शनैः–शनैः कम से कम हिन्दी भाषी उत्तरी भारतीय प्रान्तों में कांग्रेस के प्रमुख प्रतिद्वन्दी विपक्षी दल का संस्तर प्राप्त कर लिया। प्रथम लोकसभा चुनावों के बाद से उत्तरोत्तर अगले आम चुनावों में उसे प्राप्त मतों का हिस्सा परिवर्द्धित होता रहा। जनसंघ में चुनावी राजनीति में 1952 के चुनावों से प्रवेश किया, 1952 के लोकसभा चुनाव में उसे 3.06 प्रतिशत मत प्राप्त हुए जो 1967 के लोकसभा चुनावों तक 9.41 प्रतिशत हो गए।

द्वितीय विधानसभा में जनसंघ के विधायकों ने विधानसभा के कार्यों में सक्रियता प्रकट की यद्यपि रामराज्य परिषद् के विधानसभा में 17 सदस्य थे और जनसंघ के मात्र 6 थे, उसके पश्चात् भी वे बहुत तैयारी के साथ सदन में आते थे। उन्हें सदन की सम्पूर्ण नियमावली और प्रक्रिया की जानकारी हो गयी थी, वे जनता से सम्बन्धित सभी मुददों को उठाते थे, कृषकों का सहयोग प्राप्त करने के लिए सहकारी कृषि योजना का जनसंघ ने विरोध किया और कहा कि इस प्रकार से किसानों का भूमि पर से आधिपत्य नष्ट हो जाएगा। जनसंघ ने राजस्थान खातेदारी (संशोधन) अधिनियम 1958 का विरोध किया, जनसंघ के नेता भैरोसिंह शेखावत ने कांग्रेस सरकार पर आरोप लगाया कि उन्होंने जानबूझकर इन्दिरा गांधी नहर क्षेत्र के किसानों को खातेदारी अधिकार से वंचित करने के लिए इस प्रकार का संशोधन प्रस्तुत किया है।[22]

इसी तरह जनसंघ ने कृषकों पर लगान के अनुपात में नकद लेवी वसूल करने के विधेयक का तीव्र विरोध किया जिसमें 75 रूपये वार्षिक से अधिक लगान देने वालों पर लेवी लगायी गयी थी, इसका कांग्रेस में जाट लॉबी ने भी विरोध किया है।

तृतीय विधानसभा चुनावों के पूर्व राजस्थान में स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना हो चुकी थी, स्वतन्त्र पार्टी को शाही परिवार, राजाओं और जागीरदारों का पूर्ण समर्थन था। जनसंघ के नेताओं ने राजनैतिक स्थिति का विश्लेषण करके स्वतन्त्र पार्टी से गठबन्धन के प्रयास किए परन्तु स्वतन्त्र पार्टी जनसंघ को हिन्दू कट्टरवादी पार्टी मानती थी। अतः मुस्लिमों के वोटों के नुकसान के भय से स्वतन्त्र पार्टी ने जनसंघ से किसी प्रकार का चुनावी तालमेल नहीं किया। जनसंघ के 1962 के चुनाव में 15 उम्मीदवार विजय हुए। जनसंघ की शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही थी, 1967 के आम चुनाव में उसने विपक्ष के मतों के विभाजन को रोकने का प्रयत्न किया।

जनसंघ को राजाओं की स्वतन्त्र पार्टी से चुनावी तालमेल करने में सफलता प्राप्त हुई। सन् 1966 में कांग्रेस में जाट गुट भी दो भागों में विभाजित हो गया, कुभाराम आर्य तथा हरिश्चन्द्र सिंह (झालावाड़ के पूर्व महाराजा) समर्थकों ने कांग्रेस पार्टी छोड़कर नयी जनता पार्टी का निर्माण किया। जनता पार्टी, स्वतन्त्र पार्टी व जनसंघ ने चुनावी तालमेल किया और चतुर्थ आम चुनाव मिलकर लड़ा। जनसंघ ने 62 उम्मीदवार खड़े किए जिनमें से 22 को विजय प्राप्त हुई, कोटा जिले में जनसंघ की स्थिति मजबूत हुई, 1962 के विधानसभा चुनाव में 4 सीटें जीती थी, 1967 में आठों सीटों पर जनसंघ विजयी रहा तथा कोटा संभाग की दोनों लोकसभा सीटें प्राप्त हो गयीं, जबकि 1962 में एक सीट ही प्राप्त हुई थी। चतुर्थ विधानसभा चुनाव में जनसंघ के 22 विधायक 10 जिलों में से निर्वाचित हुए वे इस प्रकार है– अलवर, बूंदी, चुरू, जोधपुर से एक उम्मीदवार, जयपुर, अजमेर झालावाड़, सीकर, सवाईमाधोपुर से दो–दो एवं कोटा जिले से आठ, लोकसभा के लिए कोटा, सीकर व झालावाड़ से सांसद भी निर्वाचित हुए।

प्रथम समय तीन राजनैतिक दलों जनसंघ, जनता पार्टी और स्वतन्त्र पार्टी ने संयुक्त रूप से सरकार बनाने के लिए वोट मांगा और प्रमुख पार्टी कांग्रेस को एक अप्रत्याशित स्थिति का सामना करना पड़ा उसे 184 के सदन में मात्र 89 सीटें ही प्राप्त हुई जो कि स्पष्ट बहुमत के लिए पर्याप्त नहीं थी, विपक्ष ने 95 सीटें जीतीं जिनमें स्वतन्त्र पार्टी के 49, जनसंघ के 22, जनता पार्टी के 11 थे। स्वतंत्र पार्टी, जनसंघ व जनता पार्टी ने संयुक्त विधायक दल गठित कर लिया था। राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द ने संयुक्त विधायक दल को सरकार बनाने का निमंत्रण नहीं दिया उसके विरोध में जयपुर में हिंसक आन्दोलन हुए अतः 13 मार्च 1967 को राष्ट्रपति शासन लागू किया। कांग्रेस को बहुमत जुटाने का समय मिल गया, कांग्रेस ने दल बदल करवाकर बहुमत स्थापित कर लिया। 26 अप्रेल 1967 को शपथ ग्रहण समारोह हुआ यद्यपि राष्ट्रपति शासन की सम्पूर्ण देश में घोर आलोचना हुई।

डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की मृत्यु के पश्चात् जनसंघ में अखिल भारतीय नेतृत्व का अभाव हो गया। डॉ. मुखर्जी के निधन के पश्चात् जनसंघ कर्ताधर्ता श्री दीनदयाल उपाध्याय थे जो एक विनम्र निष्ठावान और समर्पित कार्यकर्ता तो थे, किन्तु उनकी तत्समय अखिल भारतीय छवि नहीं थी, तथापि उनके संगठनात्मक कौशल, जनसंघ के समर्पित कार्यकर्ताओं जिनका बड़ा हिस्सा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ताओं के रूप में था, के अथक प्रयासों के कारण जनसंघ में अपनी शक्ति और प्रभाव मे ंनिरन्तर वृद्धि की। जनसंघ के प्रभाव में हुई वृद्धि के संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि यह संगठन के विस्तार के माध्यम से

उसकी विचारधारा वाले मतदाताओं तक पहुंच का विस्तार करने के माध्यम से घटित हुई थी। जनसंघ की विचारधारा में अनिवार्यतः अन्तर्निहित हिन्दूवादी आग्रह, राष्ट्रीय आन्दोलन में अग्रणी भूमिका निभा चुकी कांग्रेस और उसके नेतृत्व के प्रति आलोचना के अतिवादी स्तर तथा सामाजिक और आर्थिक रूपान्तरण के लिए ठोस कार्यक्रमों के अभाव आदि तत्वों के कारण इसके समर्थकों के वर्ग का विस्तार नहीं हुआ। जनसंघ के समर्थकों का संवर्ग शहरी उच्च मध्यम व एक सीमा तक मध्यम वर्ग, व्यापारियों और उद्यमियों तक सीमित रहा। उसकी विचारधारा में विद्यमान हिन्दुत्ववादी आग्रह और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साथ उसकी छवि एकाकार हो जाने के परिणामस्वरूप उसकी अन्य विपक्षी दलों से एक दूरी भी सहज ही बनी रही। इस स्थिति में प्रथम बार परिवर्तन 1967 में परिलक्षित हुआ, जब विपक्षी दलों ने प्रथम समय कांग्रेस को कड़ी चुनौती देने के उद्देश्य से गठबन्धन की राजनीति की अनिवार्यता को समझा। गठबन्धन की आवश्यकता के दबाव में अनेक विपक्षी दल, जिनमें समाजवादी दल और साम्यवादी दल भी सम्मिलित थे, जनसंघ के प्रति परम्परागत दूरी के रवैये को छोड़ने के लिए विवश हुए।[23]

अखिल भारतीय संदर्भ में देखने से ज्ञात होता है कि 1967 के चुनावों के पश्चात् अनेक राज्यों की विधानसभाओं में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त नहीं हो सका। ऐसे राज्यों में विपक्षी दलों की संयुक्त सरकारें बनी। उत्तरप्रदेश, बिहार, और पंजाब जैसे प्रान्तों मे बनी इन संविद सरकारों में जनसंघ भी सम्मिलित हुआ। विपक्षी राजनीति के कांग्रेस विरोधी मुख्य स्वर के कारण भारतीय साम्यवादी दल, जिसके कि जनसंघ की विचारधारा से विरोध थे, ने भी अपने वैचारिक मतभेदों को भुला कर जनसंघ के साथ मिल कर संविद सरकारों के गठन में सहयोग का रूख अपनाया। इस प्रकार 1967 के आम चुनावों से जनसंघ के देश की राजनीति की मुख्यधारा में प्रवेश का सूत्रपात हुआ। इस नई प्रवृत्ति के परिणाम स्वाभाविक रूप से बहुविध थे। एक ओर जिसने जनसंघ के प्रति अन्य विपक्षी दलों के अस्पृश्यतावादी दृष्टिकोण का रूपान्तरण किया वहीं जनसंघ ने भी अपने समर्थकों के परम्परागत आधार में वृद्धि के लिए सहज स्वीकार्य हो सकने वाले सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रमों को अपनाने और उसके माध्यम से नये सामाजिक संवर्गो को अपने साथ जोड़ने की आवश्यकता को आत्मसात किया। कांग्रेस की रीति–नीति और विकास के नेहरूवादी प्रतिमान के प्रति कठोर आलोचनात्मक रूख के कारण जनसंघ के लिए व्यापक स्तर पर जन समर्थन जुटाना जटिल कार्य था, क्योंकि स्वतन्त्रता आन्दोलन में कांग्रेस की भूमिका और कांग्रेस के तत्कालीन राष्ट्रीय नेतृत्व की प्रतिष्ठा के कारण स्वतन्त्रता के पश्चात् के प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस के प्रति जनता के मध्य जो भाव विद्यमान था वह किसी

राजनीतिक दल के प्रति कृतज्ञता के रूप में अधिक समझा जा सकता था। जवाहर लाल नेहरू और सरदार पटेल जैसे नेताओं की छवि, राजनैतिक दलों के समर्थनाकांक्षी नेताओं की नहीं अपितु ऐसे राष्ट्रीय पुरूषों की थी जिनके राष्ट्र निर्माण के प्रति समर्थन और सामर्थ्य में कोई सन्देह नहीं करता था। इस कारण जनसंघ को व्यापक समर्थन जुटाने के लिए राष्ट्रीयता के नेहरूवादी प्रतिमान के प्रति आक्रमण के अतिरिक्त अन्य नीतियां भी अपनानी पड़ी। इस रणनीति का प्रथम पक्ष, अन्य राजनीतिक दलों के मध्य कम से कम कांग्रेस विरोधी भावना की समानता को आधार बनाकर अपनी स्वीकार्यता बनाकर गठबन्धन की राजनीति में सक्रिय भागीदारी निभाना था। इसका दूसरा पक्ष अपने वैचारिक आग्रहों में ऐसे तत्वों की खोज के रूप में परिलक्षित हुआ जिन्हें कि अन्य विपक्षी दलों के साथ आम सहमतियों के कार्यक्रमों में स्थान दिया जा सके। अन्य दलों से तालमेल की नीति के सम्बन्ध में जनसंघ के लिए सतर्क दृष्टि अपनाना आवश्यक था। 1967 के चुनावों में गठबन्धन का जो प्रयोग हुआ था वह दो दृष्टियों से विफल रहा। प्रथमतः संविद सरकारें राजनैतिक स्थिरता की कसौटी पर खरी नहीं उतरी। द्वितीयतः अनेक कांग्रेस विरोधी दलों और उनके नेतृत्व में वैचारिक प्रतिबद्धता की अपेक्षा राजनैतिक अवसरवाद का उदाहरण प्रस्तुत किया। 1967 का पश्चातवर्ती काल जनसंघ के लिए इस अर्थ में चुनौती पूर्ण था कि उसे एक ओर स्वयं को राजनैतिक एकान्तवास से मुक्त कर कांग्रेस विरोधी राजनीति की मुख्यधारा में बने रहना था, दूसरी ओर उसे कतिपय अन्य विपक्षी दलों की रीति नीति में परिलक्षित हो रहे राजनीतिक अवसरवाद के विरूद्ध अपनी स्वतन्त्र छवि का निर्वहन करना था।[24]

उपर्युक्त चुनौतियों से निपटने के लिए जनसंघ ने द्विविध रणनीति अपनायी प्रथमतः उसने अपने वैचारिक अधिष्ठान के अनुरूप मूल्य आधारित राजनीति का समर्थन किया तथा अन्य कांग्रेस विरोधी दलों के कार्य साधक दृष्टिकोण और नीतियों की घोर आलोचना की। दूसरी ओर उसके नेताओं ने अन्य विपक्षी दलों के असंदिग्ध निष्ठा वाले प्रतिष्ठित नेताओं से सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर सम्बन्धों को प्रगाढ़ किया। जनंसघ के नेताओं द्वारा राममनोहर लोहिया और जयप्रकाश नारायण जैसे नेताओं के प्रति अत्यन्त प्रशंसापूर्ण दृष्टिकोण तथा जनसंघ को विपक्षी राजनीति की मुख्यधारा में लाने में सहायक भूमिका का श्रेय इन नेताओं को देने में जनसंघ की यही नीति परिलक्षित होती है।

शनैः–शनैः भारतीय राजनीति में इन्दिरा गांधी के प्रभाव में वृद्धि हो रही थी अतः 1971 के लोकसभा चुनावों तथा इसके बाद बांग्लादेश युद्ध में विजय के पश्चात् सम्पन्न 1972 के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस को प्रचण्ड विजय प्राप्त हुई। 1971 के लोकसभा के

मध्यावधि चुनाव में जनसंघ के प्रखर नेता भैरोसिंह शेखावत कांग्रेस के अमृत नाहटा से परास्त हो गए। बाड़मेर क्षेत्र में राजपूत मतदाताओं की अत्यधिक संख्या होने से शेखावत ने उस क्षेत्र का चयन किया था किन्तु जाट, मुसलमान, व अनुसूचित जाति व जनजाति द्वारा अक्सर कांग्रेस को समर्थन करने के कारण वो पराजित हो गए। 1972 के विधानसभा चुनाव में वे जनसंघ के गढ़ जयपुर से ही कांग्रेस से परास्त हो गए। इन्दिरा गांधी के शक्तिशाली व करिश्माई नेतृत्व के कारण कांग्रेस मजबूत स्थिति में थी, फलस्वरूप शनैः–शनैः जनसंघ का प्रभाव क्षीण हुआ। 1972 के आमचुनावों में 184 सदस्यों के सदन में 1/4 भी विरोधी दलों के सदस्य नहीं थे तथा अधिकांश नवीन सदस्य थे जो कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ पाए।

1971 के आमचुनावों के पश्चात् तक जनसंघ और राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ के प्रति जयप्रकाश नारायण का सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण, सक्रिय सहयोग में परिणत हो चुका था। 1971 के लोकसभा तथा 1972 में राज्य विधानसभा के चुनावों में कांग्रेस को मिली प्रचण्ड विजय के पश्चात् देश में बनी परिस्थितियों में विपक्षी राजनीति के सूत्रधारों को अपने परम्परागत दृष्टिकोण और कार्यनीति में परिवर्तन के लिए विचार करना पड़ा। चुनावों में प्राप्त हुई विजय का प्रभाव इन्दिरा गांधी की कार्यशैली में भी परिलक्षित हुआ। 1966 से 1971 के दौरान प्रधानमंत्री के रूप में अपने प्रथम कार्यकाल में वे कांग्रेस की ऐसी नेता थी जिन्हें दल के राज्यस्तर और केन्द्रीय स्तर पर स्थापित नेताओं ने अपनी सुविधा के अनुरूप स्वीकार किया था। प्रधानमंत्री का पद उन्हें दलीय नेताओं के समर्थन से प्राप्त हुआ था, आम चुनावों में जनता से समर्थन उनके दल को प्राप्त हुआ था, व्यक्तिशः उन्हें नहीं। 1971 के लोकसभा चुनावों के परिणामों ने इस स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया, प्रथम बार देखा की जनता ने आम चुनाव में एक नेतृत्व के प्रति आस्था व्यक्त करने के लिए उसके दल के प्रत्याशियों को समर्थन दिया। इस प्रकार इन्दिरा गांधी के प्रधानमंत्री पद पर आरूढ़ होने की घटना में समीकरण यह नहीं था कि दल के प्रति जनता द्वारा व्यक्त किए गए समर्थन तथा दल द्वारा उन्हें नेता के रूप में चुने जाने के कारण प्रधानमंत्री पद पर पहुंची हो। वस्तुतः उनके प्रति जनता द्वारा व्यक्त की गयी आस्था ही विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में उनके दल के प्रत्याशियों की निर्वाचनिक सफलता में परिलक्षित हुई थी। देश के सबसे बड़े राजनीतिक दल में, दल और नेतृत्व के मध्य सम्बन्धों का एक अभूतपूर्व स्वरूप विकसित हो चुका था, अब श्रीमती गांधी कांग्रेस की नेता नहीं थी अपितु कांग्रेस श्रीमती गांधी का दल था। इस स्थिति ने शासन और राजनीति की नयी स्थिति को जन्म दिया, दल पर, शासन पर और देश की राजनीति पर एक व्यक्ति का एकछत्र वर्चस्व इस संस्कृति का एक प्रमुख

लक्षण था। संसदीय बहुमत के एक व्यक्ति की निरंकुशता में परिणत हो जाने की आशंकाएं इसमें सहज ही अन्तर्ग्रस्त थी। शासन और राजनीति की इस नवीन संस्कृति ने जनता में विशेषतः शहरी मध्यम वर्ग में गम्भीर असंतोष उत्पन्न किया। विभिन्न सरकारों पर लगे भ्रष्टचार के आरोपों ने शासकीय कार्यकरण की शैली में शनैः–शनैः पनप रही निरंकुश प्रवृत्तियों तथा राज्यों के मुख्यमंत्रियों द्वारा कांग्रेस के नेतृत्व के प्रति अपना लिए गए दीनता युक्त अधीनस्थ भाव ने राज्यों में सरकारों और दल के राज्य स्तरीय नेतृत्व के प्रति जनता के मध्य सम्मान और समर्थन का शनैः–शनैः क्षरण किया। कांग्रेस को चुनावों में प्रचण्ड बहुमत देने के पश्चात् जनता का कांग्रेस से मोहभंग होने लगा था। इस स्थिति में विपक्षी दलों द्वारा जनता के प्रतिकूल प्रतीत होने वाली सरकारी नीतियों और भ्रष्टाचार के विरूद्ध चलाए जाने वाले आन्दोलनों में जनता की भागीदारी इन दलों के लिए उत्साहपूर्ण होने लगी। जनसंघ के नेताओं को ऐसे आन्दोलन राजनीति की मुख्यधारा में प्रविष्ट होने के लिए उपयुक्त अवसर प्रतीत हुए। जनसंघ और उससे सम्बद्ध सहयोगी संगठनों ने कांग्रेस सरकारों के विरूद्ध ऐसे आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी निभाई, इन आन्दोलनों की श्रृंखलाओं में सर्वप्रथम जनसंघ और अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् द्वारा गुजरात में प्रारम्भ किया गया 'नव निर्माण' आन्दोलन था। गुजरात विधान सभा में जनसंघ के सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया और आन्दोलन में सम्मिलित हो गए, उन्होंने गुजरात विधानसभा को भंग करने की मांग की और चिमन भाई पटेल की सरकार को भ्रष्ट बताते हुए उसको हटाये जाने की मांग की।[25]

देश में विद्यमान परिस्थितियों में गुजरात जैसे ही आन्दोलन राज्यों में प्रारम्भ हो गए थे। जनसंघ ने जयप्रकाश द्वारा बिहार की 'भ्रष्ट' सरकार को भंग किये जाने और उनके 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के आह्वान का समर्थन किया। जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लिए जयप्रकाश के आन्दोलन ने मूल्य आधारित राजनीति के सम्बन्ध में अपनी प्रतिबद्धता और निष्ठा को जनता के मध्य स्थापित करने का एक स्वर्णिम अवसर था। यद्यपि आन्दोलन में अनेक अन्य विपक्षी दल यथा समाजवादी पार्टी एवं संगठन कांग्रेस आदि भी सम्मिलित हुए, किन्तु जनसंघ ऐसा दल था जिसने पूरी शक्ति से स्वयं को आन्दोलन के प्रति समर्पित कर दिया था। आन्दोलन को संगठनात्मक आधार भी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ द्वारा प्रदान किया गया था।

भारतीय राजनीति की प्रमुख धारा में समाविष्ट होने के लिए जनसंघ के नेतृत्व ने एक ऐसी संस्थागत व्यवस्था के निर्माण का सुझाव दिया, जिसे जनता भारत देश की सरकार को चलाने के लिए एक विकल्प के रूप में अपना सके। जय प्रकाश के आन्दोलन

में भाग ले रहे सभी दलों को मिलाकर एक नए दल का गठन करने के स्थान पर जनसंघ ने साझा कार्यक्रम पर आधारित संयुक्त सामूहिक कार्यवाहियों का सुझाव दिया। जनसंघ के नेताओं का मानना था कि एक बार एक साझा कार्यक्रम बन जाने पर आन्दोलन में भाग ले रहे सभी दल संसद के भीतर और बाहर नीति निर्धारण के लिए और चुनाव में प्रत्याशी खड़े करने के लिए एक संयुक्त मोर्चा बना सकेंगे।

जनसंघ प्रारम्भिक समय में स्वयं का विघटन करके किसी अन्य दल में विलीन हो जाने के लिए तैयार नहीं था। मई, 1975 में गुजरात में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में नवनिर्माण आन्दोलन में भाग ले रहे सभी विपक्षी दल एकत्रित हुए, उन्होंने सीटों का तालमेल किया, संयुक्त रूप से चुनाव लड़ा और श्रीमती गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस को गुजरात के चुनावों में पराजित किया। जनसंघ के नेतृत्व को गुजरात के जन मोर्चा जैसा ही प्रतिमान उचित लगता था। जून, 1975 में श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा देश में आपातकाल की घोषणा कर दिये जाने तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के और जनसंघ सहित सभी विपक्षी दलों के प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिए जाने के बाद भी गैर कम्युनिस्ट विपक्षी दलों के संयुक्त मोर्चे के गठन अथवा एक एकीकृत विपक्षी दल के निर्माण के प्रयासों को विराम लग गया। आपात्काल ने विपक्षी राजनीति की दिशा और प्राथमिकताओं में आमूल परितर्वतन ला दिया। आपात्काल के दौरान शासकीय अतिचारों के साझा अनुभवों की पृष्ठभूमि में इन दलों के पारस्परिक नीतिगत मतभेद गौण हो गए। लोकतन्त्र की पुनर्प्रतिष्ठा का सर्वमान्य लक्ष्य इन दलों के लिए सामूहिक उत्प्रेरक बन गया। जनमत के दबाव, जयप्रकाश के नेतृत्व के नैतिक प्रभाव तथा आगामी चुनावों में इन्दिरा कांग्रेस को हरा सकने की संभावना आदि तत्वों का यह सम्मिलित प्रभाव था कि सभी विपक्षी दल 1977 के लोकसभा चुनाव को मिलकर सामना करने के लिए प्रेरित और सहमत हुए। परिस्थितियों के प्रभाव और जयप्रकाश के आग्रह के कारण जनसंघ के सभी गैर–कम्युनिस्ट विपक्षी दलों को मिलकर बनाए गए एक नए एकीकृत राजनीतिक दल का गठन करने के प्रति अपनी प्रारम्भिक संकोच का परित्याग किया और लोकसभा चुनावों से पूर्व अनेक विपक्षी दलों को मिलाकर बनाए गए एक नये एकीकृत राजनीतिक दल, जनता पार्टी में अपना विलय स्वीकार कर लिया। राजस्थान में जनसंघ सहित सभी गैर कांग्रेसी दलों के नाम समाप्त हो गए। मार्च1977 में 25 में से मात्र एक नागौर की सीट ही प्राप्त हुई तथा जून 1977 के विधानसभा चुनाव में भी कांग्रेस को पराजय का सामना करना पड़ा। 200 सदस्यों के सदन में जनता पार्टी को 150 सीटें प्राप्त हुई और कांग्रेस को मात्र 41 सीटें प्राप्त हुई राजस्थान

में जनता पार्टी में जनसंघ के अतिरिक्त स्वतन्त्र पार्टी, संगठन कांग्रेस, भारतीय क्रान्तिदल तथा समाजवादी पार्टी का विलय हुआ।[26]

स्वतन्त्रता के लगभग 30 वर्षों पश्चात् प्रथम बार केन्द्र और राजस्थान में कांग्रेस के अतिरिक्त किसी अन्य दल की सरकार बनी। राजस्थान में जनता पार्टी को विधान सभा में 3/4 बहुमत प्राप्त हुआ परन्तु राज्य के मुख्यमंत्री के प्रश्न पर थोड़ा विवाद था, स्वतन्त्र पार्टी डूंगरपुर महारावल लक्ष्मण सिंह को मुख्यमंत्री बनवाना चाहती थी। प्रधानमंत्री संगठन कांग्रेस के नेता मोरारजी देसाई थे अतः वे अपने दल के नेता को मुख्यमंत्री बनवाना चाहते थे। इस प्रकार के विवाद का जनता पार्टी के नेताओं को पूर्वानुमान था अतः संयुक्त मोर्चा निर्माण के समय ही राज्यों का बंटवारा भी कर लिया था, उसके अनुसार राजस्थान जनसंघ को मिला था। समझौते के अनुसार उत्तर प्रदेश व हरियाणा भारतीय लोकदल को, राजस्थान एवं मध्यप्रदेश जनसंघ, बिहार समाजवादी पार्टी तथा गुजरात संगठन कांग्रेस और उड़ीसा स्वतन्त्र पार्टी को दिया गया था।

समझौते के अनुसार राजस्थान में जनसंघ का मुख्यमंत्री बनना तय हुआ था किन्तु इसके बाद भी नेता पद के लिए विवाद की स्थिति बनी रही। केन्द्र के निर्देश से स्वतन्त्र पार्टी सहमत नहीं थी, स्वतन्त्र पार्टी की नेता महारानी गायत्री देवी जनसंघ को कट्टर हिन्दूवादी तथा मुस्लिम विरोधी मानती थी। 1967 में स्वतन्त्र पार्टी ने जनसंघ के साथ तालमेल बड़ी विवशता से किया क्योंकि विपक्ष के संगठित हुए बिना कांग्रेस को पराजित करना संभव नहीं था। जनसंघ के नेता भैरोसिंह शेखावत ने प्रथम आम चुनाव में जागीर उन्मूलन का समर्थन किया था अतः महारानी गायत्री देवी व शेखावत के मध्य राजनीतिक वैमनस्यता भी थी। स्वतन्त्र पार्टी के अध्यक्ष महारावल लक्ष्मण सिंह व महारानी दोनों ही इस निर्णय को परिवर्तित करना चाहते थे, परन्तु केन्द्रीय दबाव के कारण ऐसा न हो सका। जनता पार्टी के अध्यक्ष मास्टर आदित्येन्द्र (संगठन कांग्रेस) शेखावत के विरूद्ध नेता पद के चुनाव में खड़े हुए परन्तु वे शेखावत के समक्ष पराजित हो गए, भैरोसिंह शेखावत मुख्यमंत्री चुने गए इससे राजस्थान में जनसंघ के प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि हुई।

1977 के चुनावों में यद्यपि जनता पार्टी को प्रचण्ड बहुमत प्राप्त हुआ था तथापि उसके कार्यकरण में दलीय समरसता का अभाव निरन्तर परिलक्षित होता रहा, इसके अधिकांश घटक अपनी पूर्ववर्ती दलीय निष्ठाओं और पूर्ववर्ती दल नेतृत्व के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को नये एकीकृत दल और उसके नेतृत्व के प्रति निष्ठा में रूपान्तरित नहीं कर सके। ऐसा प्रतीत हुआ कि पूर्ववर्ती दलों का जनता पार्टी में विलय केवल सतही था तथा व्यवहार में यह विभिन्न दलों के ऐसे गठबन्धन के रूप में कार्य करता रहा, जिसमें आपसी

समझ, नीतिगत स्पष्टता, मतैक्य और प्रभावी समन्वय का अभाव था। इस प्रकार जनता पार्टी में विघटन की आशंका उसकी स्थापना के समय से ही अन्तर्ग्रसित थी। जनता पार्टी के भारतीय जनसंघ से सम्बद्ध रहे सदस्यों का आचरण अन्य घटक दलों की तुलना में भिन्न था। इसके सदस्यों ने वैचारिक प्रतिबद्धता और उच्च स्तरीय अनुशासन का परिचय दिया और यह सिद्ध किया कि वे अपने निजी गन्तव्यों और राजनैतिक महत्वकांक्षाओं को किसी उच्च स्तरीय प्रयोजन और दलीय हित के लिए नियंत्रित और परिसीमित कर सकते हैं। जनसंघ घटक के सदस्यों ने यह भी सिद्ध किया कि वे व्यक्तियों के निष्ठा की अपेक्षा दल के प्रति संस्थागत निष्ठा का निर्वाह कर सकते हैं। जनसंघ के अतिरिक्त अन्य घटक दलों यथा लोकदल संगठन कांग्रेस तथा समाजवादियों का व्यवहार इससे भिन्न था। इन घटक दलों के सदस्यों की निष्ठा चौधरी चरण सिंह, मोरारजी देसाई तथा जगजीवनराम जैसे नेताओं के प्रति अधिक व्यक्त हुई। इन नेताओं में परस्पर प्रधानमंत्री पद के लिए हुए संघर्ष ने दल में गम्भीर असमंजस की स्थिति उत्पन्न कर दी। प्रधानमंत्री पद के लिए मोरारजी देसाई और चौधरी चरण सिंह के बीच हुई प्रतिद्वन्द्विता में जनसंघ घटक के सदस्यों ने मोरारजी देसाई के नेतृत्व का समर्थन किया। स्वाभाविक रूप से इससे जनता पार्टी का लोकदल घटक असन्तुष्ट हुआ। जनसामान्य में स्वीकारिता प्राप्त करने तथा सैद्धान्तिक औचित्य प्रदान करने के लिए व्यक्तियों के इस टकराव पर विचारधारा का आवरण चढ़ाने का प्रयास किया गया। जनता पार्टी में चौधरी चरण सिंह के समर्थकों ने नेतृत्व के संघर्ष में मोरारजी देसाई से पराजित हो जाने के पश्चात् जनता पार्टी में किसी न किसी आधार पर ऐसे मुद्दे उठाने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया जो घोषित रूप से किसी वैचारिक आग्रह को व्यक्त करते थे, किन्तु इनके प्रयासों का वास्तविक उद्देश्य या तो जनता पार्टी में नेतृत्व परिवर्तन के लिए दबाव बनाना रहता था अथवा यदि अन्ततः दल में विघटन की अपेक्षा विचारधारा के टकराव के कारण हुए विग्रह के रूप में चित्रित करना था।[27] जनता पार्टी के नेताओं की आपसी कलह का कांग्रेस ने लाभ उठाया जनता पार्टी के एक खेमे ने सरकार से समर्थन ले लिया और सरकार गिर गयी, कांग्रेस समर्थन से चरण सिंह प्रधानमंत्री बन गए। कुछ समय पश्चात् कांग्रेस ने समर्थन वापस ले लिया, चरण सिंह सरकार अल्पमत में आ गयी और नवीन चुनाव की घोषणा कर दी। जनसंघ के नेताओं ने 1980 में 7वीं लोकसभा चुनाव तो जनता पार्टी में रहकर ही लड़ा परन्तु उस वर्ष ही जनता पार्टी से अलग होकर भारतीय जनता पार्टी का निर्माण किया। केन्द्र में कांग्रेस सरकार बनी। प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने उन सभी राज्यों की सरकारों को भंग कर दिया जहां पर गैर कांग्रेसी दल शासन में थे। 18 फरवरी, 1980 को राजस्थान में जनता पार्टी की सरकार

भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू किया। मई, 1980 में राज्य विधानसभा के मध्यावधि चुनाव हुए। राजस्थान में कांग्रेस को 200 सदस्यों के सदन में 133 सीटें प्राप्त हुई तथा भाजपा दूसरी बड़ी पार्टी के रूप में उभरी, उसने 32 सीटें प्राप्त की। भैरोंसिंह शेखावत प्रथम बार मान्यता प्राप्त विपक्ष के नेता बने।

भारतीय जनता पार्टी की स्थापना को जनसंघ के पुनर्जन्म की संज्ञा नहीं दी जा सकती। उसकी स्थापना में पूर्ववर्ती जनसंघ के नेताओं की जनसंघ के समय से विद्यमान रहे वैचारिक अधिष्ठान का निर्वाह करते हुए, उन मूल्यों का समायोजन करने की आकांक्षा व्यक्त हुई जो उसे एक मध्यम मार्गी दल के रूप में स्वीकार्यता दिला सके। दल के नामकरण से यह भी स्पष्ट था कि इसके नेता जनता पार्टी की स्थापना के मूल में विद्यमान रही भावना को निरन्तरता प्रदान करना चाहते थे। जनता पार्टी में अन्य दलों के साथ सहचर्य ने इसके नेतृत्व के दृष्टिकोण को तो व्यापक बनाया ही था, उन्हें अन्य गैर कांग्रेसी दलों के व्यवहार के आधार पर यह समझने का भी व्यापक अवसर मिला था कि कौनसे वैचारिक रूपान्तरण उनके समर्थन के सामाजिक और भौगोलिक आधार में विस्तार के लिए सहायक हो सकते हैं। जयप्रकाश और मोरारजी देसाई जैसे नेताओं के सम्पर्क ने जनसंघ के इन नेताओं को अपने पूर्ववर्ती दल की विचारधारा के प्रमुख पक्ष 'हिन्दू राष्ट्रवाद' को भी परिपोषित करने के लिए मानसिक स्तर पर तैयार कर लिया तथा वे यह समझ सके कि नवस्थापित दल की, एक विशेष वर्ग से परे जन सामान्य में स्वीकार्यता उत्पन्न करने के लिए पुनः पंथनिरपेक्षता के प्रति अपने दल की प्रतिबद्धता को उजागर करना होगा। दल के संस्थापक अध्यक्ष अटल बिहारी वाजपेयी ने, मुम्बई में दिसम्बर, 1980 में अपने उद्घाटन भाषण में यह स्पष्ट किया था कि भारतीय जनता पार्टी, पूर्ववर्ती भारतीय जनसंघ का केवल नया नाम नहीं है, उन्होंने कहा कि यह जयप्रकाश की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है।

जनता पार्टी में कतिपय नेताओं के अपरिपक्व विघटनकारी और अवसरवादी व्यवहार के कारण 1977 के चुनावों में इसके पक्ष में प्राप्त हुआ प्रचण्ड जनादेश निष्फल हो गया था। इस तथ्य ने राजनीति में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की आवश्यकता को रेखांकित किया। भारतीय जनता पार्टी की स्थापना के समय से ही दल के नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने 'मूल्य आधारित राजनीति' की आवश्यकता पर बल दिया।

1980 से 1990 तक के दस वर्षों में राजस्थान में कांग्रेस का शासन रहा, इन वर्षों में भारतीय जनता पार्टी के मुख्य विपक्षी दल होने के कारण उसकी गतिविधियों में वृद्धि हुई। भारतीय जनता पार्टी ने भैरोसिंह शेखावत के नेतृत्व में जनसामान्य की समस्याओं जैसे

बिजली, पानी, सड़क, शिक्षा, अकाल, परिवहन, चिकित्सा आदि को मुद्दा बनाकर सरकार से संघर्ष किया, धरने, प्रदर्शन और सभाएं की। राज्य सरकार को ज्ञापन दिये, आन्दोलन किए विधानसभा में महत्वपूर्ण प्रश्नों को पुरजोर तरीके से उठाया, बहिगर्मन किया, तथा सरकार का विरोध किया। इससे जनसाधारण में भाजपा की महत्ता में वृद्धि हुई और अनेक नए कार्यकर्ता जुड़ते गए। भारतीय जनता पार्टी के गठन के पश्चात् 1984 के लोकसभा चुनावों के माध्यम से इस दल के प्रति जनता की अभिव्यक्ति का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ, परन्तु यह चुनाव इन्दिरा गांधी की हत्या की पृष्ठभूमि में लड़े गए थे। अतः कांग्रेस को इस सहानुभूति का लाभ प्राप्त हुआ तथा राज्य की 25 लोकसभा सीटें कांग्रेस के पक्ष में गयी सम्पूर्ण देश में भाजपा को मात्र 2 सीटें प्राप्त हुई। 1985 में आठवीं विधानसभा के चुनाव भी इसी पृष्ठभूमि में हुए तथा कांग्रेस को 113 भाजपा को 38 (सातवीं विधानसभा से 6 सीटें अधिक), लोकदल को 27, जनता पार्टी को 10, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को एक तथा शेष सीटें निर्दलीयों को प्राप्त हुई।

1980 में कांग्रेस (ई) के सत्ता में लौटने के पश्चात् से ही कांग्रेस की नीतियों में हिन्दूत्ववादी रूझान परिलक्षित होने लगा। यह एक प्रकार से संयोग ही था कि पंजाब और कश्मीर के कारण, इनसे निपटने के प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा किये गये प्रयासों और कार्यवाहियों से देश के बहुसंख्यक समुदाय की राष्ट्रवादी भावना का तादात्म्य स्थापित हुआ। इन स्थितियों ने देश भर की हिन्दु शक्तियों को एक जुटता प्रदर्शित करने और देश की अखण्डता के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त करने का माध्यम प्रदान किया। इसी कालखण्ड में घटित हुई राजनैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अनेक घटनाओं में 'एकात्मक यज्ञ' का उल्लेख किया जा सकता है। इस यज्ञ में अनेक हिन्दू देवताओं के साथ भारत माता की झाँकियाँ निकाली गयी और इनके साथ हजारों लोगों ने देश के विभिन्न भागों की यात्राएं की। इस यज्ञ का आयोजन हिन्दुओं के 85 विभिन्न मतों के धार्मिक नेताओं द्वारा किया गया था। इसका लक्ष्य इस तथ्य को रेखांकित करना था कि 'हिन्दुओं' को एकजुट किए बिना देश की एकता को सुरक्षित रखना संभव नहीं।

कांग्रेस की सरकार में वी.पी.सिंह जो कि वित्त मंत्री थे ने रक्षा सौदों में कथित भ्रष्टाचार के विरोध में मंत्रिपरिषद् से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने जन मोर्चा का गठन किया तथा राजीव गांधी के व्यक्तिगत नेतृत्व और कांग्रेस के विरूद्ध देशभर में व्यापक अभियान प्रारम्भ कर दिया। इन चुनावों में भाजपा ने जनता दल व अन्य कतिपय विपक्षी दलों के साथ तालमेल किया। वी.पी.सिंह के अभियान से निर्मित हुई परिस्थितियों के कारण भ्रष्टचार इस चुनाव का मुख्य मुद्दा बना, विशेषतः रक्षा सौदों में भ्रष्टाचार के आरोपों ने जनता को

भावनात्मक रूप से उद्वेलित किया। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में भारतीय जनता पार्टी ने सत्तारूढ़ दल कांग्रेस से जनता को विमुख करने के लिए भ्रष्टाचार के मुद्दे का तथा अपने प्रति समर्थन के लिए हिन्दुत्व पर बल और रामजन्म भूमि प्रकरण का उपयोग किया। इस प्रकार इन चुनावों में सामाजिक और आर्थिक नीति के अन्य मुद्दों की अपेक्षा दो तत्कालीन मुद्दे ही राजनैतिक दलों के प्रति जनता द्वारा व्यक्त समर्थन अथवा विरोध के निर्णायक आधार बने, इन चुनावों में भाजपा को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। 1984 के चुनावों के पश्चात् यह चुनाव उत्तरी भारत के राज्यों में दल के पुनरोदय का प्रतीक बन गया। 226 स्थानों पर प्रत्याशी खड़े करने पर, इसे लोकसभा में 86 स्थान प्राप्त हुए। राजस्थान में इन चुनावों में कांग्रेस को 25 में से एक सीट प्राप्त हुई, वहीं एक चुनावी समझौते के अन्तर्गत भाजपा को 13, जनता दल को 11 व माकपा को 1 सीट मिली। नवीं विधानसभा 1990 के चुनाव में भाजपा ने 85, जनता दल ने 55 तथा कांग्रेस ने मात्र 50 स्थान प्राप्त किए। आठवीं विधानसभा की अपेक्षा नवीं विधानसभा (1990) में भाजपा की सफलता दो गुना से अधिक हो गयी तथा राजस्थान में जनता दल के सहयोग से सरकार बनाने में सफल हुई।

1989 का लोकसभा चुनाव एक राष्ट्रीय दल के रूप में भारतीय जनता पार्टी के उभार का साक्षी बना था। इन चुनावों में भाजपा लोकसभा में एक बड़ी शक्ति के रूप में उभरी।

राज्य में 1990 में भाजपा की सरकार बनी, यद्यपि जनता दल (55 स्थान)और कांग्रेस (50 स्थान) चाहते तो दोनों संयुक्त रूप से सरकार का निर्माण कर सकते थे तथा भाजपा को विपक्ष में बैठने के लिए विवश कर सकते थे किन्तु राज्यपाल ने राज्य के सबसे बड़े दल भाजपा के नेता भैरोसिंह शेखावत को परिणाम घोषित होने के दो दिन पश्चात् 4 मार्च, 1990 को मुख्यमंत्री की शपथ दिला दी थी। भाजपा एवं जनता दल का संयुक्त मंत्रिमण्डल निर्मित किया गया, परन्तु सरकार गठन का संकट समाप्त नहीं हुआ, केन्द्र में इस समय वी.पी.सिंह की सरकार थी।

वी.पी.सिंह के नेतृत्व में बनी गठबन्धन सरकार को भाजपा की ओर से बाहर से प्राप्त समर्थन सरकार के अस्तित्व में बने रहने के लिए निर्णायक था। 1991 के लोकसभा के मध्यावधि चुनाव, भाजपा द्वारा वी.पी.सिंह सरकार से समर्थन वापस लेने के कारण उक्त सरकार के पतन की पृष्ठभूमि में हो रहे थे। भाजपा ने वी.पी.सिंह सरकार से समर्थन इस आधार पर वापस लिया था कि अयोध्या में श्रीराम जन्म भूमि पर मंदिर के निर्माण के सम्बन्ध में भाजपा के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी द्वारा की जा रही देशव्यापी रथ यात्रा के दौरान उन्हें केन्द्र सरकार के निर्देश पर गिरफ्तार कर लिया गया था। यद्यपि 1989 के

चुनावों में भी भारतीय जनता पार्टी के लिए राम जन्म भूमि प्रकरण एक महत्वपूर्ण मुद्दा था तथा हिन्दी भाषी राज्यों में इसे भाजपा के समर्थन में हुए मतदाताओं के रूझान के एक प्रमुख कारक के रूप में आकलित किया जा रहा था, तथापि भाजपा अध्यक्ष की गिरफ्तारी और केन्द्र सरकार के पतन के पश्चात् बनी परिस्थितियों में यह भाजपा के लिए निर्णायक सीमा तथा महत्वपूर्ण मुद्दा बन चुका था।

वी.पी.सिंह चाहते थे कि राजस्थान में जनता दल भाजपा से समर्थन वापस ले, वी. पी.सिंह भैरोसिंह शेखावत से प्रसन्न नहीं थे, क्योंकि केन्द्र में भाजपा के समर्थन वापसी का दण्ड वे राजस्थान में भारतीय जनता पार्टी को देना चाहते थे। राजस्थान में जनतादल के राज्य अध्यक्ष नाथूराम मिर्धा इस योजना को क्रियान्वित कर स्वयं मुख्यमंत्री बनना चाहते थे, परन्तु जनता दल का ही एक गुट जिसमें जनता दल के प्रभावशाली नेता व तत्कालीन मंत्री दिग्विजय सिंह इस योजना को कार्यान्वित करने में आशंकित थे, उन्हें भय था कि भविष्य में नाथूराम मिर्धा गुट उनकी उपेक्षा कर सकता है तथा भैरोसिंह शेखावत ने कूटनीतिक बुद्धि का परिचय देते हुए, अपनी सरकार बचाने के लिए जनता दल को विभाजित करवा दिया, दिग्विजय सिंह के नेतृत्व में 26 विधायकों ने जनता दल से सम्बन्ध विच्छेद करते हुए जनता दल (दिग्विजय) की स्थापना की। दिग्विजय सिंह को गृहमंत्री बनाया तथा 18 अन्य विधायकों को मंत्रिमण्डल में स्थान दिया। मुख्यमंत्री शेखावत ने जोड़–तोड़ से इस संविद सरकार को मजबूत बनाए रखा।

केन्द्र सरकार का पतन हुआ एवं 1991 में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव हुए। केन्द्र में दो पिछली संविद सरकारों का परिणाम अस्थिर व अनुत्तरदायी सरकार के रूप में परिलक्षित हुआ इसके पश्चात् भी जनता में कांग्रेस के प्रति उदार रवैया दृष्टिगोचर नहीं हुआ। मतदान के प्रथम चरण के पश्चात् 21 मई की रात्रि को राजीव गांधी की नृशंस हत्या कर दी गयी, हत्या से उत्पन्न सहानुभूति की पृष्ठभूमि में मतदान के आगामी चरणों में मतदाताओं का रूझान परिवर्तित हुआ। फलतः कांग्रेस बहुमत प्राप्त न कर पाने के पश्चात् भी कतिपय दलों के समर्थन से सरकार बनाने में सफल हुई और पी.वी. नरसिम्हाराव प्रधानमंत्री बने। इन चुनावों में भाजपा ने 20.31 प्रतिशत मत प्राप्त कर लोकसभा में 119 स्थान प्राप्त किए। अयोध्या में मंदिर निर्माण का मुद्दा ज्वलन्त रूप धारण कर चुका था, जिसका नेतृत्व भाजपा के नेता कर रहे थे, 6 दिसम्बर, 1992 को अयोध्या में बाबरी मस्जिद के विवादित ढ़ाँचे को विध्वंस कर दिया गया तथा भारतीय जनता पार्टी पर साम्प्रदायिक होने का आरोप लगा। अयोध्या घटनाक्रम के पश्चात् केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर प्रतिबन्ध लागू कर दिया और प्रतिबन्ध को उचित प्रकार से लागू कर पाने में अक्षम

रहने के कारण भाजपा शासित तीन राज्यों राजस्थान, हिमाचल प्रदेश व हरियाणा की सरकारें भंग कर दी गयी। राजस्थान में 15 दिसम्बर, 1992 को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया इस दौरान शेखावत ने अपना कार्य जारी रखा तथा राष्ट्रपति शासन के लिए कांग्रेस सरकार की भर्त्सना की और हिन्दू भावना को उद्वेलित किया। परिमणामस्वरूप 11 नवम्बर, 1993 को दसवीं विधानसभा के चुनाव में भाजपा को 1990 से भी 11 स्थान अधिक प्राप्त कर विधानसभा में सबसे बड़े दल के रूप में स्थान प्राप्त किए। भाजपा को 96, कांग्रेस को 76, जनतादल को मात्र 6, माकपा को 1 तथा निर्दलीय 21 चुने गये। सरकार बनाने के लिए कांग्रेस व भाजपा ने भरसक प्रयत्न किए परन्तु कांग्रेस बहुमत नहीं जुटा सकी, शेखावत ने निर्दलियों का समर्थन प्राप्त किया तथा जनता दल में विभाजन करवा कर 4 दिसम्बर, 1993 को सरकार बनाने में सफल हो गए।

1993 के चुनावों में भाजपा के प्रथम बार विधानसभा की 200 सीटों में 197 पर अपने उम्मीदवार खड़े किए और तीन विधानसभा क्षेत्रों बाड़मेर, डीग व चोहटन में निर्दलीय प्रत्याशियों को समर्थन दिया तथा वे तीनों प्रत्याशी विजयी रहे। 1993 में भाजपा ने 96 सीटें जीती तथा 38.60 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए, यद्यपि किसी भी पार्टी को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था। राज्यपाल बलिराम भगत कांग्रेस के पूर्व नेता थे तथा केन्द्र में कांग्रेस पार्टी का शासन था अतः राजस्थान कांग्रेस नेताओं को अपेक्षा थी कि राज्यपाल उन्हें सरकार निर्माण के लिए आमंत्रित करेंगे। चुनाव परिमणाम 28 नवम्बर, 1993 को घोषित हो चुके थे। भाजपा ने अटल बिहारी वाजपेयी की उपस्थिति में पूर्व मुख्यमंत्री भैरोसिंह शेखावत को सर्वसम्मति से विधायक दल का नेता चुना और उसकी लिखित सूचना राज्यपाल को प्रेषित कर दी। दुर्भाग्यवश चुनाव प्रक्रिया प्रारम्भ होने के बाद भाजपा के एक प्रत्याशी महेन्द्रसिंह जो कि धौलपुर जिले के राजाखेड़ा से प्रस्तावित थे कि मृत्यु हो गयी, अतः चुनाव स्थगित हो गए। अब 199 सीटों पर चुनाव हुए अतः स्पष्ट बहुमत के लिए 100 विधायकों का समर्थन ही पर्याप्त था, भाजपा 96 सदस्यों का दावा तो 29 नवम्बर को ही कर चुकी थी। 30 नवम्बर को भाजपा प्रदेशाध्यक्ष रामदास अग्रवाल ने राज्यपाल को सूचित किया कि उन्हें 5 ओर निर्दलीयों को समर्थन प्राप्त हुआ है। इस प्रकार समर्थकों की संख्या 103 हो गयी थी। राज्यपाल ने 3 दिसम्बर के सांयकाल तक भी भाजपा को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं किया था, प्रदेश की राजधानी में जयपुर में 5 दिनों तक जबरदस्त अनिश्चितता की स्थिति बनी रही तथा इसके अतिरिक्त केन्द्र में कांग्रेस की सरकार तथा पूर्व कांग्रेसी नेता के राज्यपाल होने पर उनकी ईमानदारी पर संदेह व्यक्त किया जाने लगा। अन्ततः 3 दिसम्बर की रात्रि को राज्यपाल ने भाजपा को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया तथा

4 दिसम्बर 1993 को भैरोसिंह शेखावत ने मुख्यमंत्री पद की शपथ ली। इस प्रकार भाजपा की सरकार 1993 से 1998 तक पूरे 5 वर्ष तक रही किन्तु 1998 में भाजपा को बहुमत नहीं मिला। भाजपा को 200 में से मात्र 33 स्थान प्राप्त हुए इसका प्रमुख कारण 1998 में प्याज के भावों में जबरदस्त वृद्धि होना था। कार्यकर्ताओं की उपेक्षा तथा भाजपा में गुटबाजी रही। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का एक गुट शेखावत से नाराज था, अतः उन्होंने चुनाव जितवाने में आवश्यक परिश्रम नहीं किया। अन्ततः भाजपा की हार हुई और आने वाले 5 वर्षों में 1998 से 2003 तक के लिए कांग्रेस की सरकार बनी।

वर्ष 2003 में पुनः समस्त सर्वेक्षणों व आकलनों को निर्मूल सिद्ध करते हुए भाजपा की सरकार बनी परन्तु उसके लिए भावी मुख्यमंत्री वसुन्धरा राजे सिंधिया को अथक प्रयास करने पड़े। इसके लिए वसुन्धरा राजे ने 100 दिनों की परिवर्तन यात्रा का कार्यक्रम बनाया, यह यात्रा 27 अप्रैल 2003 को राजसमन्द जिले के चारभुजाजी मंदिर से प्रारम्भ हुई।

वसुन्धरा राजे के एक वर्ष के कठोर प्रत्यनों का परिणाम यह रहा कि दिसम्बर 2003 के चुनावों में भाजपा को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ तथा राजस्थान के इतिहास में पहली बार भाजपा ने 200 सीटों में से 120 सीटें प्राप्त की। कांग्रेस 153 स्थानों से घटकर मात्र 53 स्थानों पर ही विजयी प्राप्त कर सकी। कांग्रेस आदिवासी, अनुसूचित जाति व जनजाति क्षेत्रों से भी हार गयी जो कि परम्परागत रूप से कांग्रेस के क्षेत्र माने जाते हैं, जब–जब भी इस प्रकार की स्थिति बनी तब–तब गैर कांग्रेसी सरकारें अस्तित्व में आयी जैसे 1977, 1990 तथा 1993।

1993 के चुनावों से राजस्थान में स्पष्ट द्विदलीय व्यवस्था अस्तित्व में आयी, दिसम्बर, 2003 के चुनाव में कांग्रेस अनुसूचित जाति के 33 स्थानों में से मात्र 5 जीत पायी जबकि भाजपा ने 26 स्थान प्राप्त किए तथा अनुसूचित जनजाति की 24 सीटों में से कांग्रेस को 6 व भाजपा को 18 सीटें प्राप्त हुई। भाजपा का कार्यकाल 2008 तक निरन्तर चलता रहा।

स्वतन्त्र पार्टी –

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् एक वर्ग ऐसा था जो नवीन लोकतंत्रीय व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर पा रहा था, यह सामान्त वर्ग था, क्योंकि स्वतन्त्रता से पूर्व समस्त शक्ति का स्त्रोत सामन्त अथवा राजाओं के पास ही था, अतः सत्ता से दूर होने के कारण वे लोकतन्त्रात्मक शासन से खिन्न थे। उन्होंने लोकतंत्रीय मार्ग से सत्ता प्राप्त करने का भरसक प्रयास किया, प्रथम आमचुनाव में जोधपुर महाराज स्वर्गीय हनुवन्त सिंह ने रामराज्य परिषद् से अनेक उम्मीदवार खड़े किए इसके अतिरिक्त निर्दलीय भी खड़े किए, कांग्रेस

पार्टी का विरोध किया परन्तु महाराजा की विमान दुर्घटना में मृत्यु हो जाने से सत्ता प्राप्ति का कार्य पूर्ण नहीं हो सका। 1957 के चुनाव में महारावल लक्ष्मण सिंह ने अपनी ही रियासत में कांग्रेस के उम्मीदवार बागड़ के गांधी, भोगीलाल पण्ड्या के विरूद्ध चुनाव लड़ा, परन्तु सफलता प्राप्त ना हो सकी।

द्वितीय आम चुनावों के पश्चात् सत्तारूढ़ दल कांग्रेस की नीतियों में परिवर्तन हुआ, प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने समाजवाद की और बढ़ने का निर्णय लिया। नागपुर में 1959 में सम्पन्न अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का आर्थिक प्रस्ताव इस प्रकार है – इसके अन्तर्गत जागीरदार प्रथा की समाप्ति तथा किसानों के भू–स्वामित्व की सीमा, संयुक्त सहकारी कृषि और अन्न के थोक व्यापार की राष्ट्रीयकरण की नीति को स्वीकार किया। कांग्रेस की इस प्रकार की नीति से स्वतन्त्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल एवं कांग्रेस के वरिष्ठ नेता सी.राजगोपालाचारी सहमत नहीं थे, उनके अनुसार इससे व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता नष्ट होगी तथा राज्य पूंजीवाद की स्थापना होगी अर्थात् व्यक्तिगत पूंजी तथा उत्पादन पर सरकारी स्वामित्व हो जाएगा। इस प्रकार के प्रस्ताव के विरोध में 4 जून, 1959 को सी. राजगोपालाचारी (राजाजी) के नेतृत्व में एक बैठक मद्रास में सम्पन्न हुई जिसमें नवीन पार्टी निर्माण का निर्णय लिया गया। 1–2 अगस्त, 1959 को बम्बई में स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना की गयी।

पार्टी के संस्थापक सी. राजगोपालाचारी ने मेवाड़ सरकार के पूर्व वैधानिक सलाहकार तथा स्वतन्त्र पार्टी के उपाध्यक्ष के.एम. मुंशी को राजस्थान के कुछ प्रमुख जागीरदारों, राजाओं तथा असंतुष्ट नेताओं से सम्पर्क करने का कार्य सौंपा। उन्होंने जैसलमेर के महाराजा हुकमसिंह, भिनाय के राजा कल्याण सिंह, डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मण सिंह, अजमेर के उद्योगपति सोभागमल लोढ़ा तथा उदयपुर, जोधपुर, किशनगढ़ तथा जयपुर के पूर्व राजाओं से सम्पर्क किया। सामन्तों के लिए अजमेर में चल रहे मेयो कॉलेज के प्रो. मदनसिंह, भिनाय के नरेश कल्याण सिंह, भरतपुर नेता के छोटे भ्राता मानसिंह, रायसाहब, बुलाकीदास तथा सेवानिवृत्त अधिकारी वलीदुल्लाहखां ने स्वतन्त्र पार्टी की राजस्थान में शाखा स्थापित करने का निर्णय लिया। उपरोक्त पाँचों ने राजस्थान में स्वतन्त्र पार्टी की जयपुर में स्थापना की तथा राजा कल्याण सिंह को संगठन सचिव चुना गया। 1958 में राजस्थान में स्वतन्त्र पार्टी का कार्य आरम्भ हो गया तथा कुछ समय पश्चात् कल्याणसिंह को अध्यक्ष चुना गया, महारावल डूंगरपुर भी स्वतन्त्र पार्टी में सम्मिलित हो गए, जब तक महारावल स्वतन्त्र पार्टी में सम्मिलित नहीं हुए थे लोगों को भी इसकी अधिक जानकारी नहीं थी। महाराव क्षत्रिय महासभा के नेतृत्व कर्ता थे, राजपूत राजनीति में भी

इनका वर्चस्व था, इससे सभी राजपूत नेताओं को एक दिशा प्राप्त हुई जो तब तक किसी भी राजनीतिक दल के सदस्य नहीं थे। परन्तु इसके बाद भी जब तक जयपुर महारानी गायत्री देवी ने सदस्यता स्वीकार नहीं की तब तक स्वतन्त्र पार्टी को गति व बल नहीं मिला।[28]

अक्टूबर, 1956 में राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने जयपुर महाराजा सवाई मानसिंह को सूचित किया कि अब वे राजप्रमुख नहीं रहेंगे, क्योंकि यह पद समाप्त कर दिया गया है, इससे महाराजा व महारानी गायत्री देवी को भारी आघात लगा क्योंकि रियासत के विलय के समय यह समझौता हुआ था कि राजप्रमुखके पद पर वह जीवन्त पर्यन्त रहेगें।

सन् 1957 में राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री मोहनलाल सुखाड़िया ने जयपुर लोकसभा क्षेत्र से कांग्रेस के उम्मीदवार के तौर पर गायत्री देवी के समक्ष प्रस्ताव रखा परन्तु गायत्री देवी ने यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। सन् 1960 में महारानी ने राजनीति में प्रवेश का निर्णय लिया, सी.राजगोपालाचारी द्वारा स्थापित पार्टी से वे स्वयं तथा महाराजा भी बहुत प्रभावित थे, वे कांग्रेस के विरूद्ध एक सशक्त विपक्षी पार्टी तैयार करना चाहती थी, गायत्री देवी के अनुसार कांग्रेस में कुशासन, भ्रष्टाचार, फैल गया था जिससे वे चिन्तित थी।

जनवरी 1962 में गायत्री देवी स्वतन्त्र पार्टी की सदस्य बन गयी। महारानी राजनीति से अनभिज्ञ थी अतः उनकी सहायता के लिए महाराजा ने क्षत्रिय महासभा के अध्यक्ष ठाकुर देवीसिंह मण्डावा को स्वतन्त्र पार्टी की सदस्यता ग्रहण कराई। जयपुर रियासत के पूर्व दीवान वी.टी.कृष्णामाचारी ने अप्रैल, 1961 में महाराणा को पत्र लिखकर सूचित किया कि महारानी चुनाव ना लड़े अन्यथा कांग्रेस पार्टी उनके प्रिवीपर्स समाप्त कर देगी, टैक्स लगा देगी, परन्तु गायत्री देवी अपने निर्णय पर अटल रही। 1962 के तृतीय आमचुनाव से पूर्व जयपुर की महारानी का राजनीति में प्रवेश क्रान्तिकारी था।

उसी कालखण्ड में 2 अक्टूबर, 1959 को राजस्थान में पंचायतीराज का प्रारम्भ कर सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया गया तथा इसका श्रेय कांग्रेस सरकार को प्राप्त हुआ।

तृतीय आमचुनाव में पूर्व स्वतन्त्र पार्टी तथा जनसंघ के मध्य चुनावी तालमेल का प्रयत्न हुआ परन्तु महारानी गायत्री देवी जनसंघ को रूढिवादी दल मानती थी, उनके इस प्रकार के विचारों के कारण ही समझौता नहीं हो सका, कुछ सीटों पर आपसी सहमति बनी कि एक दूसरे के विरूद्ध उम्मीदवार खड़े नहीं करेंगे। इन्हीं सीटों में से एक जयपुर की किशनपोल सीट भी थी जहां से भैरोसिंह शेखावत (जनसंघ के नेता) खड़े हुए थे, परन्तु

स्वतन्त्र पार्टी ने उनके विरूद्ध महेन्द्र सिहं पंवार को टिकट दिया, इससे दोनों ही दलों में द्वन्द उत्पन्न हो गया। 1962 के विधानसभा चुनावों में स्वतन्त्र पार्टी जयपुर के 17 विधानसभा क्षेत्रों में से 13 पर विजयी रही तथा लोकसभा चुनावों में 10 स्थानों पर प्रत्याशी खड़े किए उनमें से 3 विजयी रहे तथा वोट का प्रतिशत 19.1 रहा। गायत्री देवी ने जयपुर लोकसभा सीट पर कांग्रेस प्रत्याशी को पौने दो लाख मतों से हराकर देश में कीर्तिमान स्थापित किया। 1962 में ही जयपुर महाराजा सवाई मानसिंह राज्यसभा के लिए चुने गए तथा उनके दो पुत्र जयसिंह मालपुरा विधानसभा क्षेत्र से तथा पृथ्वीराज दौसा लोकसभा क्षेत्र से निर्वाचित हुए। 1962 में स्वतन्त्र पार्टी ने जयपुर की 2/3 विधानसभा सीटों पर विजय प्राप्त की तथा अजमेर व टोंक में भी अपने प्रभाव को विस्तृत किया।

चतुर्थ आम चुनाव में सरकार बनाने के उद्देश्य से स्वतन्त्र पार्टी व जनसंघ में चुनावी तालमेल हुआ। 1967 में स्वतन्त्र पार्टी ने विधानसभा की 109 तथा जनसंघ ने 62 सीटों पर चुनाव लड़ा था, स्वतन्त्र पार्टी ने 49 तथा जनसंघ ने 22 सीटों पर विजय प्राप्त की, उन्हें क्रमशः 26.6 तथा 11.9 प्रतिशत वोट प्राप्त हुए।

तृतीय व चतुर्थ विधानसभा में स्वतन्त्र पार्टी को भव्य सफलता प्राप्त हुई तथा कांग्रेस के समक्ष एक सक्षम विपक्ष तैयार हो गया। तृतीय विधानसभा चुनाव में स्वतन्त्र पार्टी के 36 विधायक थे, 3 विधायकों ने बाद में स्वतन्त्र पार्ट की सदस्यता ग्रहण कर ली और 1964 के उपचुनाव में महुवा से मानधाता सिंह निर्वाचित हुए, इस प्रकार कुल सदस्य संख्या 40 हो गयी जिनमें आधे राजपूत थे। प्रथम आमचुनाव में जोधपुर महाराजा की राजनीति में सक्रिय भागीदारी के पश्चात् भी कांग्रेस के विरूद्ध रामराज्य परिषद् ने 24 स्थान प्राप्त किए जबकि निर्दलीय 35 निर्वाचित हुए। द्वितीय चुनावों में यह संख्या कम होकर रामराज्य परिषद् 17 तथा निर्दलीय 32 रह गये। 1962 के विधानसभा चुनावों में रामराज्य परिषद् 3, निर्दलीय 22 निर्वाचित हुए। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने 5, समाजवादी पार्टी ने 5 और प्रजा समाजवादी पार्टी ने 2 स्थान अर्जित किए, कांग्रेस ने 88 सीटें प्राप्त की तथा एक निर्दलीय के सहयोग से सरकार का निर्माण किया, उस कालखण्ड में विधानसभा सदस्यों की संख्या 176 थी।

चतुर्थ आमचुनाव में स्वतन्त्र पार्टी के राष्ट्रीय नेता जनसंघ से गठबन्धन करना चाहते थे, जिससे लोकसभा व विधानसभा की अधिक सीटें प्राप्त की जा सकें, परन्तु गायत्री देवी की दृष्टि में स्वतन्त्र पार्टी धर्म निरपेक्ष पार्टी थी जबकि जनसंघ हिन्दूवादी संगठन था, जिससे मुस्लिम वोटों की हानि पहुंचने की संभावना थी परन्तु राष्ट्रीय नेताओं के दबाव में जनसंघ से चुनावी तालमेल हुआ।

राष्ट्रीय स्तर पर घटनाक्रम में परिवर्तन हुआ, ताशकंद में भारत–पाक समझौते की रात्रि को अचानक प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री का निधन हो गया, जनवरी, 1966 में इन्दिरा गांधी को प्रधानमंत्री बनाया गया। 1962 में स्वतंत्र पार्टी की सफलता से सामन्तों के साथ उद्योगपतियों की भी राजनीति की ओर रूझान में वृद्धि हुई। 1967 में स्वतन्त्र पार्टी के टिकट पर चुनाव लड़ने 5 उद्योगपति राजस्थान आए और विजय हुए। दौसा से चिरंजीतराज, पाली से सुरेन्द्र कुमार तापड़िया, झुंझुनूं से आर.के. बिड़ला, जालौर से देवकीनन्दन पाटोदिया, तथा नागौर से नन्दकुमार सोमानी, जयपुर क्षेत्र से गायत्री देवी पुनः निर्वाचित हुई थी, झालावाड़ लोकसभा क्षेत्र व कोटा के महाराज बृजराज सिंह, सीकर से जनसंघ के टिकट पर उद्योगपति श्री गोपाल साबू निर्वाचित हुए।

1957 के चुनाव को छोड़कर राजस्थान में 1952, 1962 एवं 1967 में सामन्तों और कांग्रेस के मध्य तीव्र संघर्ष की स्थिति थी। 1967 के चुनावों में व गैर कांग्रेसी विधायकों के मध्य 6 विधायकों का अन्तर था। विपक्ष के 95 विधायक थे जबकि कांग्रेस के 89 थे। गैर कांग्रेसी दलों ने गठबन्धन कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द से सरकार बनाने के लिए निमंत्रण देने का आग्रह किया, परन्तु यह गठबन्धन अपने नेता का चुनाव नहीं कर पाया। राज्यपाल निर्णय करने में विलम्ब कर रहे थे। राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द ने 4 मार्च, 1967 को स्थायित्व तथा तमिलनाडु के पूर्व निर्णय के आधार पर विधानसभा में सबसे बड़ी पार्टी को सरकार बनाने के लिए निमंत्रण दिया, परन्तु इस निर्णय से जयपुर की जनता आक्रोशित हो गयी, प्रदर्शनकारियों व पुलिस के मध्य जंग हुई, गठबन्धन राज्यपाल के पास शिष्टमण्डल ले जाना चाहता था, परन्तु राज्य सरकार ने राजभवन व सिविल लाइन्स में धारा 144 लगा दी। आक्रोशित जनता शिष्टमण्डल के साथ प्रतिबंधित क्षेत्र में जाने लगी, पुलिस ने अश्रुगैस व लाठी प्रहार किया इससे जनता में अधिक रोष हो गया।

दूसरे दिन 7 मार्च, 1967 को जयपुर के जौहरी बाजार में प्रदर्शनकारियों तथा पुलिस के मध्य संघर्ष हुआ, एक सदस्यीय न्यायाधीश भगवतीप्रसाद बेरी आयोग ने अपनी जांच रिपोर्ट में स्पष्ट किया कि पुलिस ने अत्यधिक गोलियां चलाई, जिससे 9 व्यक्ति मारे गये तथा 49 व्यक्ति घायल हो गए। जयपुर में कर्फ्यू लगा दिया गया।

विकट परिस्थिति में राज्यपाल के निर्णय के विरूद्ध राष्ट्रपति डॉ. एस. राधाकृष्णन के समक्ष गठबन्धन का बहुमत सिद्ध करने के लिए सभी विधायक दिल्ली गए, राष्ट्रपति ने उन्हें विधानसभा अध्यक्ष के चुनाव में बहुमत सिद्ध करने का अवसर दिया। कांग्रेस से अलग हुए जनता पार्टी के नेता तथा झालावाड़ के महाराजा हरिश्चन्द्र सिंह का अचानक हृदयाघात के कारण निधन हो गया। राज्य सरकार ने अशांति के नाम पर राष्ट्रपति शासन

लागू करने की केन्द्र को सिफारिश कर दी। राजस्थान में प्रथम समय 13 मार्च 1967 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। इस समय सीमा में विधायकों की सौदेबाजी में गठबन्धित दलों का बहुमत समाप्त हो गया तथा मोहनलाल सुखाड़िया के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार बनी।

चतुर्थ व पंचम आम चुनाव के मध्य में अनेक राजनीतिक घटनाएं घटित हुई। 1967 के चुनाव में अनेक राज्यों में कांग्रेस सरकारों को चुनौती मिली, इन्दिरा गांधी ने सामन्तों की शक्ति को रोकने के लिए राजाओं के प्रिवीपर्स, उपाधियाँ, रियासतों के झण्डे, तोपों की सलामी अनेक विशेषाधिकारों को समाप्त करने के लिए संविधान में आवश्यक संशोधन कराए तथा 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। विरोधी विचारधारा वाले कांग्रेसियों से मुक्ति पाने के लिए कांग्रेस के दो गुट बना दिए, इंडिकेट व सिंडीकेट। 1971 में लोकसभा के मध्यावधि चुनाव में गरीबी हटाओ के नारे के साथ बहुमत प्राप्त किया तथा पाक युद्ध के द्वारा बांग्लादेश निर्माण से श्रीमती इन्दिरा गांधी की प्रतिष्ठा में बहुत वृद्धि हुई। फलस्वरूप 1972 के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस को प्रचण्ड बहुमत प्राप्त हुआ। इसी घटना के फलस्वरूप स्वतन्त्र पार्टी के 8 सांसद थे, पंचम विधानसभा चुनाव में केवल 3 निर्वाचित हुए जिनमें एक गायत्री देवी स्वयं थी। 1972 के विधानसभा चुनावों में उसके मात्र 11 विधायक रह गए जो कि 1967 में 49 थे। आपातकाल के पश्चात् अन्य दलों की तरह स्वतन्त्र पार्टी भी जनता पार्टी में विलीन हो गयी। स्वतन्त्र पार्टी के अध्यक्ष महारावल लक्ष्मण सिंह तथा उनके साथ अनेक नेताओं ने कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण कर ली, राजमाता गायत्री देवी ने राजनीति त्याग दी। 1970 में जयपुर महाराज की मृत्यु हो गयी इसके पश्चात् अनेक सदस्य कांग्रेस में सम्मिलित हो गए।

उपरोक्त तीन दलों के अतिरिक्त राजस्थान में अनेक छोटे–छोटे दल भी रहे। 1952 के प्रथम विधानसभा चुनाव में 11 अखिल राष्ट्रीय स्तर के दलों ने चुनाव में भाग लिया जो कि इस प्रकार हैं रामराज्य परिषद्, कांग्रेस, भारतीय जनसंघ, कृषिकार लोकपार्टी, कृषक मजदूर पार्टी, हिन्दू महासभा, एवं सोशलिस्ट पार्टी, कम्यूनिस्ट पार्टी, शिड्यूल कास्ट फैडरेशन, के.जी.एस.पी. तथा फॉरवर्ड ब्लॉक, अन्तिम चार पराजित दल थे। कांग्रेस के बाद रामराज्य परिषद् सबसे अधिक प्रभावशाली दल रहा, उसके 24 विधायक निर्वाचित हुए। 1957 में अन्य दलों की संख्या कम हुई, जनसंघ व रामराज्य परिषद् के विधायक भी कम हुए और कांग्रेस की प्रतिष्ठा बनी, अनेक नवीन दल सामने आए जैसे कृषिकार लोकपार्टी तथा कृषक मजदूर पार्टी, परन्तु इनका एक भी उम्मीदवार विजयी नहीं हुआ। 1962 के विधानसभा चुनावों में आए राजनीतिक दलों ने भाग लिया, स्वतन्त्र पार्टी अस्तित्व में आयी

तथा कांग्रेस के बाद दूसरी बड़ी पार्टी बन गयी, हिन्दू महासभा का पतन हो गया, समाजवादी दल ने पुनः अपने उम्मीदवार खड़े किए और वे सफल रहे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थिति में भी सुधार आया। चतुर्थ विधानसभा 1967 के चुनावों में प्रथम बार रिपब्लिकन पार्टी ने उम्मीदवार खड़े किए परन्तु वे पराजित हो गए। 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी विखण्डित हो गयी थी, भाकपा का एक उम्मीदवार विजयी रहा जबकि माकपा पराजित हो गयी, रामराज्य परिषद् में उम्मीदवार खड़े ही नहीं किए। संयुक्त समाजवादी दल की स्थिति अच्छी रही। 1969 में कांग्रेस सिंडिकेट व इंडिकेट में विभाजित हो गयी, संगठन कांग्रेस का मात्र एक सदस्य विजयी रहा। सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार भी विजयी हुए। छठी विधानसभा 1977 के चुनाव आपातकाल के पश्चात् हुए थे, उस कालखण्ड में कांग्रेस की प्रतिष्ठा का ह्रास हुआ। क्योंकि आपातकाल के नाम पर जनता को अनेक प्रकार से प्रतिबंधित किया, अतः पांच गैर कांग्रेसी दलों ने गठजोड़ कर जनता पार्टी बनायी और इस पार्टी ने सफलता प्राप्त कर सरकार बनायी परन्तु सातवीं विधानसभा के चुनाव में जनता पार्टी विखण्डित हो गयी। भारतीय जनसंघ ने भारतीय जनता पार्टी निर्मित की, पूर्व प्रधानमंत्री चरण सिंह ने 1980 में जनता पार्टी (सेक्यूलर) का निर्माण किया जो कि बाद में लोकदल हो गयी, राजस्थान में उसके अध्यक्ष दौलतराम सारण थे। संयुक्त समाजवादी पार्टी के सदस्य जनता पार्टी (जे.पी.) में रहे। 1980 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस से पराजित होने के बाद लोकदल 2 भागों में विभक्त हो गया, एक लोकदल (चरण सिंह) तथा दूसरा लोकदल (कर्पूरी ठाकुर) हो गया। कुछ समय पश्चात् गैर कांग्रेसी नेताओं ने 1984 के लोकसभा चुनाव से पूर्व एक होने का प्रयत्न किया। हरियाणा के कृषक नेता चौधरी देवीलाल भी इस गठजोड़ में सम्मिलित हुए, नवीन दल दलित मजदूर किसान पार्टी का निर्माण किया, परन्तु जनता में उसका नाम लोकदल ही रहा, राजस्थान में नाथूराम मिर्धा को उसका अध्यक्ष बनाया गया। 1984 के लोकसभा चुनाव में सभी 25 सीटें कांग्रेस ने जीती जबकि 1985 के विधानसभा चुनाव में गैर कांग्रेसी दलों की स्थिति में सुधार दृष्टिगत हुआ। 200 सदस्यों के सदन में भाजपा ने 38, लोकदल 27, जनतापार्टी 13, माकपा 1, निर्दलीय 9 व कांग्रेस ने 113 स्थान प्राप्त किए।

केन्द्र में राजीव गांधी मंत्रिमण्डल में रक्षा एवं वित्त मंत्री वी.पी.सिंह ने बोफोर्स तोपों में की खरीद में केन्द्र सरकार पर भ्रष्टाचार का आरोप लगाकर देश में कांग्रेस के विरूद्ध वातावरण तैयार कर लिया एवं मंत्रिमण्डल से इस्तीफा देकर राष्ट्रीय जनमोर्चा का निर्माण किया। शनैः–शनैः परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ, देवीलाल, अजीतसिंह, जनता पार्टी में चुने

गए। बंगलौर के एक सम्मेलन में वी.पी.सिंह के नेतृत्व में जनतादल निर्माण का निर्णय लिया गया।

पुराने सभी दल, जनता पार्टी में विलीन हो गए। 1989 के लोकसभा चुनाव में जनता पार्टी ने कांग्रेस का विरोध किया तथा वी.पी.सिंह के नेतृत्व में सरकार बनी। राजस्थान में भी भाजपा ने मिलकर चुनाव लड़ा भाजपा ने जनतादल के सहयोग से सरकार बनायी व भैरोंसिंह शेखावत मुख्यमंत्री बने।

8वीं, 9वीं, 10वीं, 11वीं, 12वीं और 13वीं विधानसभाओं में अनेक दल निर्मित हुए, दूसरे राज्यों के दलों ने भी राजस्थान में चुनाव लड़ा परन्तु अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। अजीतसिंह का राष्ट्रीय लोकदल व ओमप्रकाश चौटाला का इण्डियन नेशनल लोकदल, (इनेलो) ने 2003 के विधानसभा चुनाव में उम्मीदवार खड़े किए, रामविलास पासवान की लोक जनशक्ति पार्टी भी चुनाव में सम्मिलित हुई। इसी प्रकार मुलायम सिंह यादव की समाजवादी पार्टी व मायावती की बहुजन समाज पार्टी भी राजस्थान में आयी। बसपा के 1998 में व 2003 में दो–दो विधायक निर्वाचित हुए।

इसी प्रकार राजस्थान में समय–समय पर छोटे–छोटे दल रहे परन्तु मुख्य रूप से यहां द्विदलीय प्रणाली रही। कांग्रेस तथा भाजपा राजस्थान के मुख्य प्रतिद्वन्दी दल रहे।

14वीं लोकसभा में राजनीतिक दलों का विवरण –

दिसम्बर 2003, के विधानसभा चुनाव में मध्यप्रदेश, राजस्थान एवं छत्तीसगढ़ में भारतीय जनता पार्टी को सफलता प्राप्त हुई इसे दृष्टि में रखते हुए अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की सरकार ने राष्ट्रपति को 13वीं लोकसभा को विघटित करने का परामर्श दिया। 14वीं लोकसभा के लिए 543 स्थानों पर चुनाव लड़ा गया। कांग्रेस और उसके सहयोगी दलों के गठबन्धन को संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन कहा गया। इन चुनावों में कांग्रेस गठबन्धन को सर्वाधिक 218 स्थान प्राप्त हुए जिसमें 145 सीटें कांग्रेस को प्राप्त हुई थी। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन को 187 स्थान प्राप्त हुए जिसमें भारतीय जनता पार्टी को 141 स्थानों पर विजय प्राप्त हुई, अन्य राजनीतिक दलों को 136 स्थान प्राप्त हुए जिनमें वामंपथियों को 61, समाजवादी पार्टी को 36 स्थान प्राप्त हुए।

14वीं लोकसभा में केन्द्र में सत्ता परिवर्तन हुआ, 8 वर्षों से केन्द्र में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की सरकार थी। मनमोहन सिंह प्रधानमंत्री बने।

राजस्थान के राजनीतिक दलों के लक्षण, हर प्रकार का राजनीतिक संगठन राजनीतिक दल नहीं होता है, यह समउद्देश्य से प्रेरित संगठन के रूप में भी परिभाषित नहीं किया जा सकता, इस प्रकार के तो अनेक समूह हो सकते हैं। यह तो ऐसा संगठन

है जो अकेले या दूसरे राजनीतिक दलों के सहयोग से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना चाहता है। प्रत्येक राजनीतिक दल का पहला और प्रमुख उद्देश्य सत्ता प्राप्ति के लिए या सत्ता में बने रहने के लिए अन्य दलों, समूहों, संगठनों पर हावी होना है। राजनीतिक सत्ता प्राप्ति का उद्देश्य ही एक ऐसा लक्षण है, जिससे राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत अन्य गुटों से राजनीतिक दलों का भेद किया जा सकता है। राजनीतिक सत्ता वर्तमान राजनीतिक संरचनाओं के अन्तर्गत कार्य करके या उन्हें उखाड़ फेंक कर प्राप्त की जा सकती है। सत्ता प्राप्ति के तरीकों का भी राजनीतिक दल की प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है। अतः सत्ता प्राप्ति के लिए हर साधन का प्रयोग करने वाला समूह राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता। परम्परागत विचार के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करते हुए, निर्वाचक समूह के सामने अपने नेताओं और उम्मीदवारों को प्रस्तुत करके, प्रचार, संगठित क्रिया कलापों तथा प्रतियोगी दल पद्धतियों के अन्तर्गत अन्य दलों से विचारधारा सम्बन्धी भेद पर बल देते हुए निर्वाचक समूह का समर्थन पाने की चेष्टा करने वाला ही राजनीतिक दल माना जाता है।

राजस्थान में द्विदलीय व्यवस्था, राजस्थान में प्रथम आम चुनाव से ही छोटे–बड़े अनेक राजनीतिक दलों का अस्तित्व रहा है, परन्तु राजस्थान की राजनीति में मुख्य रूप से दो ही दल अधिक प्रभावी रहे है, कांग्रेस और भाजपा। 1952 से 1977 तक कांग्रेस का शासन रहा, 1977 से 1980 का कार्यकाल जनता पार्टी का तथा पुनः 1980 से 10 वर्षों का कांग्रेस का शासन, इसके पश्चात् 1990 से 1997 तक भाजपा, पुनः 1998 से 2003 तक कांग्रेस व 2003 में भाजपा की सरकार रही। राजस्थान में गठबन्धन सरकार भी बनी परन्तु उनकी संख्या कम ही रही।

गठबन्धन सरकार, 1989 का वर्ष गठबन्धन सरकारों के प्रारम्भ के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता रहा है, राजस्थान में 1989 के बाद ही सरकार इस प्रकार की सरकार का निर्माण हुआ। यद्यपि 1977 में भी 5 दलों को मिलाकर गठबन्धन से सरकार बनी थी। फरवरी 1990 के विधानसभा चुनाव में भाजपा व जनतादल ने आपस में गठजोड़ किया और भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में सामने आयी, भैरोसिंह शेखावत को सर्वसम्मति से इस दल का नेता मनोनीत किया। जनता पार्टी ने नत्थीसिंह को अपना नेता चुना अन्ततः दोनों दलों ने संविद सरकार के गठन का निर्णय लिया और भैरोसिंह शेखावत मुख्यमंत्री बने। उसी कालखण्ड में केन्द्र में वी.पी.सिंह की राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार को भाजपा ने समर्थन दे रखा था, परन्तु भाजपा के नेता लालकृष्ण आडवानी की सोमनाथ से अयोध्या तक की यात्रा को बीच में ही रोक देने के कारण भाजपा ने वी.पी.सिंह सरकार से

समर्थन वापस ले लिया उसकी परिणति के रूप में राजस्थान में भाजपा से जनता दल ने समर्थन वापस लेने का निर्णय लिया। इस प्रश्न पर जनता दल दो गुटों में विभक्त हो गया। दिग्विजय सिंह के नेतृत्व में 26 जनता दल विधायक अपने दल से पृथक् हो गये। इनमें से 18 विधायकों को शेखावत मंत्रिमण्डल में स्थान प्राप्त हुआ। इस प्रकार शेखावत ने जोड़–तोड़ व उदारवादी नीति से संविद सरकार को एक जुट बनाये रखा। कुछ समय पश्चात् अयोध्या प्रकरण के कारण 1992 में सरकार को बर्खास्त कर दिया और राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया 1993 में पुनः भाजपा सत्ता में आयी और कुछ निर्दलियों के साथ मिलकर सरकारी बनायी।

1989 के बाद ना केवल राजस्थान में गठबन्धन सरकारें बनी अपितु केन्द्र में भी गठबन्धन सरकारों का दौर प्रारम्भ हुआ यद्यपि केन्द्र में इससे पूर्व भी गठबन्धन की सरकारें रही।

1967 तक तो भारतीय राजनीति में कांग्रेस का लगभग सारे देश पर एक छत्र राज रहा, जब विरोधी दलों ने अनुभव किया कि वे अलग–अलग कांग्रेस के विकल्प के रूप में अपने को प्रस्तुत करने की क्षमता नहीं रखते, तो समय और परिस्थिति के अनुसार उन्होंने आपस में गठबन्धन करके कांग्रेस को सत्ताच्यूत करने का प्रयास किया। 1964 के पश्चात् अनेक राज्यों में मिली जुली सरकारों का निर्माण हुआ। 1977 के चुनाव से पूर्व जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, संगठन कांग्रेस तथा संयुक्त समाजवादी दल ने मिलकर जनता पार्टी का गठन किया और 1977 के चुनावों में सत्ता प्राप्त की।

1983 में पुनः विरोधी दलों ने आत्मविश्वास की कमी के कारण गठबन्धन करने प्रारम्भ कर दिए। प्रथम गठबन्धन भारतीय जनता पार्टी तथा लोकदल का था, जो राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबन्धन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। द्वितीय संयुक्त मोर्चा जनता पार्टी के नेतृत्व में चार दलों का बना, इस मोर्चे में जनता पार्टी, कांग्रेस (एस), लोकतांत्रिक समाजवादी पार्टी तथा राष्ट्रीय कांग्रेस सम्मिलित थी, परन्तु ये गठबन्धन अधिक समय तक नहीं चल पाया।

केन्द्र में गठबन्धन सरकारों का दौर 1989 से प्रारम्भ हुआ जो निम्न प्रकार है –

केन्द्र में सत्ता प्राप्त गठबन्धन सरकारें			
क्र.सं.	प्रधानमंत्री	दल	कार्यावधि
1	मोरारजी देसाई	जनतादल	27.03.1977 – 28.07.1979
2	चरण सिंह	जनतादल	28.07.1979 –14.01.1980
3	वी.पी.सिंह	जनतादल	02.12.1989 – 10.11.1990
4	चन्द्रशेखर	जनतादल	11.11.1991 – 21.06.1992
5	अटलबिहारी वाजपेयी	भाजपा	16.05.1996 – 01.06.1996

6	एच.डी.देवगोडा	जनतादल (संयुक्त मोर्चा)	01.06.1996 – 21.04.1997
7	आई.के. गुजराल	जनतादल (संयुक्त मोर्चा)	21.04.1997 – 18.03.1998
8	अटलबिहारी वाजपेयी	एन.डी.ए. भाजपा	19.03.1998 – 17.04.1999
9	अटलबिहारी वाजपेयी	एन.डी.ए. भाजपा	13.11.1999 – 22.05.2004
10	डॉ. मनमोहनसिंह	यू.पी.ए. कांग्रेस	22.05.2004 – 18.05.2009

29

गठबन्धन की राजनीति के साथ–साथ राजस्थान में समय–समय पर दलबदल भी होता रहा है।

दल बदल की घटनाएँ, 1951 से 1954 के 3 वर्षों में तीन मुख्यमंत्रियों के सत्ता में आने व सत्ताच्यूत होने के कारण, कांग्रेस ने 1954 में मोहनलाल सुखाड़िया को मुख्यमंत्री बनाया और 17 वर्ष तक शासन किया, जिसके अनेक कारणों में एक दल बदल भी था। 1962 के तृतीय आमचुनाव में कांग्रेस पार्टी को 176 के सदन में 88 स्थान प्राप्त हुए और 1 निर्दलीय विधायक को कांग्रेस की सदस्यता दिलाकर स्पष्ट बहुमत प्राप्त किया। आगे भी 10 निर्दलीय व 5 पार्टी के सदस्य दलबदल कर कांग्रेस में सम्मिलित हुए। 1967 के चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व कांग्रेस के 2 विधायक टिकट वितरण से असंतुष्ट होकर कांग्रेस से पृथक् हो गए और नवीन दल जनता पार्टी का निर्माण किया, इस दल में लगभग कांग्रेस के 20 विधायक सम्मिलित हो गए। चतुर्थ आमचुनाव 1967 में कांग्रेस को 184 के सदन में 89 सीटें प्राप्त हुई। इस अवधि में जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी, संयुक्त समाजवादी दल तथा जनता पार्टी ने दावा किया कि कांग्रेस के पास सरकार निर्माण के लिए स्पष्ट बहुमत नहीं है परन्तु 4 निर्दलीय विधायकों को कांग्रेस में सम्मिलित कर सुखाड़िया ने स्पष्ट बहुमत का दावा किया, उस कालखण्ड में राजनैतिक गतिरोध उत्पन्न होने के कारण 28 फरवरी 1967 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। 1990 के विधानसभा चुनावों में भी किसी दल को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ, जनतादल व भाजपा ने मिलकर सरकार बनायी किन्तु कुछ समय पश्चात् केन्द्र में भाजपा दल ने जनता पार्टी से समर्थन वापस ले लिया, इसी कारण राजस्थान में भी जनतादल ने भाजपा से समर्थन ले लिया, परन्तु इस मुद्दे पर जनता दल विभाजित हो गया। जनता दल के 21 विधायक इस दल से पृथक् हो गए और उन्हें भाजपा मंत्रिमण्डल में (18 को) स्थान प्राप्त हुआ।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राजस्थान की राजनीति मे स्पष्ट रूप से द्विदलीय व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है 1952 से लेकर 1977 तक मात्र कांग्रेस दल ही प्रभावी था, 1990 के दशक में भाजपा भी एक राजनीतिक पार्टी के रूप में उभरी।

राजनीतिक दल व लोकतन्त्र, लोकतन्त्र के क्रियान्वयन की दृष्टि से राजनीतिक दलों का बड़ा महत्व है, उन्हें हम लोकतंत्र की कसौटी कह सकते हैं। क्योंकि किसी देश

की राजनीतिक व्यवस्था में लोकतन्त्र का अस्तित्व कहां तक है इसकी माप इस बात से की जा सकती है कि उस व्यवस्था में राजनीतिक दल किस सीमा तक स्वस्थ राजनीतिक प्रतियोगिता पर आधारित है। राजनीति दलों के मध्य परस्पर स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा, व्यापक जनसम्पर्क, जनमत की शुद्ध अभिव्यक्ति आदि ऐसी बातें है, जिनसे लोकतंत्र सार्थक होता है। लोकतन्त्र शासन व्यवस्थाओं में राजनीतिक दल जनता और सरकार के मध्य मध्यस्थ का कार्य करते हैं, वे जनता को सही, निष्पक्ष तथा ठोस निर्वाचन के लिए सीमित करते हैं तथा सरकार का संचालन करते हुए उसके ऊपर नियंत्रण लगाए रहते हैं। जिससे वह तानाशाह नहीं हो पाए। राजनीतिक दल लोकतन्त्र को व्यावाहरिक बनाने के यन्त्र हैं, इनसे लोकतन्त्र व्यवस्था की संस्थागत संरचना स्थापित होती है परन्तु यह उनकी भूमिका का एकल पक्ष है अनेक विकासशील राज्यों में राजनीतिक दलों के भ्रष्टाचार व मनमानी के कारण लोकतन्त्र उखाड़ फेंके गए है। जब राजनीतिक दल दलगत राजनीति में पड़ जाते हैं तो वे लोकतन्त्र के पोषक नहीं उसके भक्षक बन जाते है।[30]

प्रत्येक राजनीतिक दल का औपचारिक व अपेक्षाकृत स्थायी संगठन होना अनिवार्य है। इसी तरह राजनीतिक दल राजनीतिक सत्ता के प्रयोग को प्रभावित करने के स्थान पर जैसे भी हो राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने या उसे बनाए रखने के उद्देश्य से उत्प्रेरित रहता है, अन्यथा राजनीतिक और हित समूहों में कोई मौलिक अन्तर ही नहीं किया जा सकता, आधुनिक राजनीतिक दल मूलरूप से सत्ता संरचना या सूक्ष्म राजनीतिक व्यवस्था कहे जाने लगे हैं। 20वीं शताब्दी में राजनीतिक दलों की हर प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में केन्द्रीय भूमिका बन गयी है। इनकी भूमिका में कुछ परितर्वन आ सकता है, परन्तु उनकी सक्रियता रहती है। वेबर आस्ट्रोगोरस्की, माईकेल्स, न्यूमैन और डुवरजर जैसे श्रेष्ठतम विद्वानों ने राजनीतिक दलों के विशद् अध्ययन का क्रम प्रारम्भ किया। परन्तु इनके द्वारा किए गए अध्ययन परम्परागतता के ढाँचे में संचित रहे जो आज विविध प्रकार के कार्य करने वाले दलों पर लागू नहीं होते हैं अतः राजनीतिक दलों को परिवर्तित परिप्रेक्ष्य में समझने के प्रयास प्रारम्भ किए जाने लगे। एल्डर्स वेल्ड, मेकनली, लैसरसन, ऐण्टर, मैक्डो, ला पालोम्बरा, वीनर, रोस्टोव, लुसियन पाई, ब्लोन्डेल, मर्कल और मैक्रीडिस जैसे विद्वानों ने राजनीतिक दलों का नए दृष्टिकोण से अध्ययन और तुलनाएं करके इनकी प्रकृति और भूमिका को समझने का प्रयास किया है।

राजस्थान के राजनीतिक दलों का व्यावहारिक तौर पर अध्ययन करने से स्पष्ट है कि राजस्थान 1952 के प्रथम आम चुनाव से एक बहुदलीय राज्य था। अनेक राजनीतिक दल हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद्, जनसंघ आदि अच्छी स्थिति में थे। जनसंघ की

स्थापना के 5–7 वर्षों में ही वह एक प्रमुख कांग्रेस विरोधी दल हो गया। यदि 1961–62 में स्वतन्त्र पार्टी अस्तित्व में नहीं आती और राजा महाराजाओं का योगदान प्राप्त नहीं होता तो जनसंघ को अधिक लाभ मिलने की संभावना थी। स्वतन्त्र पार्टी भी कुछ समय में राजस्थान में प्रभाव जमाने में सफल हुई परन्तु सी.राजगोपालाचारी की मृत्यु के बाद इस पार्टी का शीघ्र पतन हुआ, 1959 में निर्मित स्वतन्त्र पार्टी 1974 में चरण सिंह के नेतृत्व वाली भारतीय क्रान्ति दल में सम्मिलित हो गयी। राजस्थान में स्वतन्त्रता संग्राम की पार्टी होने के कारण कांग्रेस सर्वाधिक मजबूत राजनीतिक दल रहा। राजस्थान में 1952 से 1990 तक (1977 से जनवरी 80 तक), 1998 से 2003 व 2008 से निरन्तर कांग्रेस का शासन काल रहा, परन्तु राजस्थान की राजनीति में 3 बार क्रान्तिकारी परिवर्तन का समय आया परन्तु ऐसा ना हो सका।

सर्वप्रथम 1967 में जब कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हुआ विरोधी दलों ने एकजूट होकर सरकार निर्माण का प्रस्ताव प्रस्तुत किया परन्तु राज्यपाल सम्पूर्णानन्द ने उनका प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। यदि 1967 में सम्पूर्णानन्द विरोधी दलों को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करते को संभवतः गठबन्धन राजनीति का युग वहीं से प्रारम्भ हो जाता।

द्वितीय स्थिति राजस्थान की राजनीति में सन् 1977 में दृष्टिगोचर होती हैं जबकि आपातकाल (1975 से 1977) के कड़वे अनुभव के कारण जनता ने कांग्रेस को परास्त कर दिया और पांच दलों से निर्मित जनता दल को विजयी बनाया, परन्तु जनता पार्टी का शासन भी अधिक समय तक नहीं चल सका। फरवरी 1980 में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। पश्चात्वर्ती वर्षों में विभाजन के कारण बिखराव की स्थिति उत्पन्न हुई।

तृतीय स्थिति 1984 की है जबकि इन्दिरा गांधी की मृत्यु के कारण सम्पूर्ण देश में सहानुभूति का वातावरण निर्मित हुआ, 1984 के लोकसभा व 1985 के विधानसभा चुनाव इसी पृष्ठभूमि में हुए अतः कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ, अन्यथा स्थिति में परिवर्तन संभव था।

अन्ततः वर्ष 1989 में कांग्रेस के एकाधिकार को चुनौती देते हुए भाजपा के प्रभाव में हिन्दूत्ववादी दृष्टिकोण के कारण वृद्धि हुई इसलिए राजस्थान में 1990 में भाजपा के नेतृत्व में सरकार बनी। स्वतन्त्रता के अनेक वर्षों बाद कांग्रेस के सम्मुख एक बड़ी राजनीतिक पार्टी का उदय हुआ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजस्थान की राजनीति बहुदलीय राजनीति से शनैः–शनैः द्विदलीय राजनीति की ओर अग्रसर हुई।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. रेने, आस्टिन एवं विलमोर, केन्डल : डेमोक्रेसी एण्ड अमेरिकन पार्टी सिस्टम, न्यूयार्क, हॉरकॉर्ट, 1956, पृ0 85
2. एल्डर्स वेल्ड, सैमुअल. जे : पॉलिटिकल पार्टीज, ए बिहेवियरल अनालिसिस, शिकागो, रेन्ड मेकनेली, 1964, पृ0 1
3. पालोम्बरा, जोसफ ला, वीनर, माइरन (सं.) : पॉलिटिकल पार्टीज एण्ड पॉलिटिकल डवलपमेन्ट, न्यूजर्सी, प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966, पृ0 6
4. गेना, सी.बी. : तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., नई दिल्ली, 1966, पृ0 829
5. राठौड, मीना : भारत में राजनैतिक दल, आर.बी.एस.ए. पब्लिशर्स, जयपुर, 2003, पृ0 24
6. उपर्युक्त : पृ0 26–27
7. उपर्युक्त : पृ0 35
8. कमल, के.एल. : पार्टी पॉलिटिक्स इन एन इंडियन स्टेट, ए स्टडी ऑफ मेन पॉलिटिकल पार्टीज इन राजस्थान, एस. चांद, दिल्ली, 1969, पृ0 38
9. सिसन, रिचर्ड : दी कांग्रेस पार्टी इन राजस्थान, पॉलिटिकल इन्टीग्रेशन एंड इन्स्टीट्यूशन इन एन इंडियन स्टेट, युनविर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, लन्दन, 1977, पृ0 139
10. उपर्युक्त : पृ0 139
11. कमल, के.एल. : उपर्युक्त पृ0 58
12. डॉ0 जैन, पुखराज एवं फडिया, बी.एल. : भारतीय शासन एवं राजनीति (राज्यों की राजनीति सहित) साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2005 पृ0 146
13. राठौड़, मीना : उपर्युक्त पृ0 72–73
14. उपर्युक्त : पृ0 74–75
15. उपर्युक्त : पृ0 74–75
16. राजस्थान का मंत्रिमण्डल : राजस्थान विधानसभा सचिवालय, जयपुर, पृ0 XX
17. राठौड, मीना. : उपर्युक्त पृ0 89

18. उपर्युक्त : पृ0 90
19. कमल, के.एल. : उपर्युक्त पृ0 144 से 148
20. उपर्युक्त : पृ0 159, 161, 177
21. उपर्युक्त : पृ0 159, 161, 177
22. उपर्युक्त : पृ0 162
23. राठौड़, मीना : उपर्युक्त पृ0 92
24. उपर्युक्त : पृ0 91–93
25. उपर्युक्त : पृ0 94–95
26. उपर्युक्त : पृ0 96
27. उपर्युक्त : पृ0 97–98
28. कमल, के.एल. : उपर्युक्त पृ0 183, 184, 185
29. प्रतियोगिता दर्पण : सितम्बर 2009, पृ0 280
30. गेना, सी.बी. : उपर्युक्त पृ0 62

पंचम् अध्याय
राजस्थान की राजनीति में मुख्यमंत्री

भारतीय शासनिक ढ़ाँचे में राज्य स्तर पर संसदीय शासन व्यवस्था अपनायी गयी है, शासन व्यवस्था का यह ढाँचा संघीय सरकार के अनुरूप है। 'जिस प्रकार केन्द्र में राष्ट्रपति को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और प्रधानमंत्री को वास्तविक प्रधान, राज्य में राज्यपाल को सांविधानिक अध्यक्ष बनाया गया है और मुख्यमंत्री को वास्तविक प्रधान।'[1]

संवैधानिक स्थिति –

भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुकूल मुख्यमंत्री राज्य सरकार का वास्तविक संवैधानिक प्रमुख है। संविधान के भाग 6 के अनुच्छेद 163, 164 में मंत्रि परिषद् जिसका नेतृत्व मुख्यमंत्री करता है, के गठन की व्यवस्था की गई है। राज्यपाल को राज्य का संवैधानिक प्रमुख बनाया गया हैं परन्तु राज्य शासन का वास्तविक कर्ताधर्ता मुख्यमंत्री है।

मुख्यमंत्री से संदर्भित संविधान के अनुच्छेदों का आलोचनात्मक विश्लेषण अनुच्छेद 163(1) के अनुसार राज्यपाल को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्यमंत्री होगा। राज्यपाल अपने कार्यों का सम्पादन मंत्रिपरिषद् के परामर्श से करेंगे, अतः राज्य स्तर पर एक मंत्रिपरिषद् अनिवार्य रूप से होगी जिसका प्रमुख मुख्यमंत्री होगा। इस धारणा में यह शर्त सम्मिलित है कि 'राज्यपाल अपने कृत्यों अथवा उनमें से किसी को स्वविवेक से करें,उन तथ्यों को छोड़कर' अन्य कार्यो के निर्वहन करने में सहायता एवं परामर्श के लिए एक मंत्रिपरिषद् पर आश्रित होगा।[2]

अनुच्छेद 163(2) के अनुसार, इस प्रकार का कोई प्रश्न कि अमूक विषय ऐसा है या नहीं, जिसके सम्बन्ध में इस संविधान के द्वारा या अधीन राज्यपाल से अपेक्षित है कि वह स्वविवेक से कार्य करे तो राज्यपाल का स्वविवेक से लिया गया विनिश्चय अन्तिम होगा एवं राज्यपाल द्वारा की गयी किसी बात की मान्यता पर इस कारण से कोई आपत्ति न की जाएगी की उसे स्वविवेक से कार्य करना या नहीं करना चाहिए था।[3]

इस धारा के विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि राज्यपाल को स्वविवेक का अधिकार संविधान द्वारा प्रदत्त है। राज्यपाल ने स्वविवेक से निर्णय दिया है तो वह निर्णय अन्तिम माना जाएगा।

अनुच्छेद 163(3) के अनुसार क्या मंत्रियों ने राज्यपाल को कोई परामर्श दिया है और दिया है तो क्या? इस प्रश्न को न्यायालय में परीक्षण नहीं किया जा सकता और ना ही परीक्षण सम्बन्धी प्रश्न उठाया जा सकता है।[4]

राष्ट्रपति के समान राज्यपाल के परामर्श सम्बन्धी प्रश्न को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती एवं ना ही मंत्रियों से प्राप्त परामर्श को असंवैधानिक करार दिया जा सकता है। भारतीय राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है, भारतीय राज्यपालों पर नहीं परन्तु राष्ट्रपति के द्वारा उन्हें पदच्युत किया जा सकता है।

अनुच्छेद 164(1) के अनुसार राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति करते हैं तथा मुख्यमंत्री के परामर्श से अन्य मंत्रियों की नियुक्तियाँ करते है। उपरोक्त धारा के विश्लेषण से स्पष्ट है कि यह धारा राज्य मंत्रिपरिषद् के संगठन की संवैधानिक स्थिति प्रस्तुत करती है, यहाँ यह स्पष्ट है कि राज्यपाल मात्र मुख्यमंत्री की नियुक्ति करेगें, अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री के परामर्श द्वारा की जाएगी परन्तु राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति किन आधारों पर करेंगें यहाँ यह स्पष्ट नहीं है।[5]

केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् के समान ही राज्य मंत्रिपरिषद् में 3 प्रकार के मंत्री होते हैं –

केबिनेट मंत्री, इस प्रकार के मंत्री सर्वोच्च होते हैं तथा इन्हें अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त होते हैं।

राज्य मंत्री, ये मंत्री अपने क्षेत्र में सर्वोच्च नहीं होते इन्हें आवश्यकता अनुसार केबिनेट की बैठकों में आमंत्रित किया जाता है।

उपमंत्री, केबिनेट स्तर के मंत्रियों के सहायक होते हैं।

यदा–कदा कुछ संसदीय सचिव भी नियुक्त किए जा सकते है, वे केबिनेट स्तर के मंत्रियों के सहायक होते हैं।

अनुच्छेद 164(1) में इस प्रकार का भी उल्लेख है कि मंत्रीगण राज्यपाल की इच्छा पर्यन्त अपना पद धारण करेंगें। व्यवहारिक दृष्टिकोण से राज्यपाल को मंत्रियों को पद्च्यूत करने का अधिकार नहीं है वरन यह अधिकार मुख्यमंत्री को प्राप्त है। राज्यपाल राष्ट्रपति के समान मात्र औपचारिक प्रमुख होने के नाते मुख्यमंत्री के परामर्श के अनुसार आदेश प्रसारित करता है। मुख्यमंत्री यदि उचित समझे तो अपना पदत्याग देकर केबिनेट को बर्खास्त कर सकता है। अनुच्छेद 164(2) के अनुसार, मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। जिस प्रकार संघीय मंत्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी है इसी प्रकार राज्य मंत्रिपरिषदें विधानसभाओं के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी परन्तु यहाँ यह उल्लेखित है कि जिन राज्यों में द्विसदनात्मक विधानमण्डल है वहाँ मंत्रिपरिषद् मात्र विधानसभा (निम्न सदन) के प्रति ही उत्तरदायी होती है।

अनुच्छेद 164(3) के अनुसार, प्रत्येक मंत्री को पदग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल उसे निश्चित प्रपत्र के अनुसार पद एवं गोपनीयता की शपथ ग्रहण कराएगें।[6]

अनुच्छेद 164(4) के अनुसार, कोई मंत्री निरन्तर 6 माह की समयावधि तक राज्य विधानमण्डल का सदस्य नहीं है तो उसे इस समयावधि के पश्चात् त्यागपत्र देना पड़ेगा।

संविधान की इस धारा से स्पष्ट होता है कि जो व्यक्ति राज्य विधानमण्डल से बाहर का है उसे भी मंत्री या मुख्यमंत्री बनाया जा सकता है परन्तु उसे 6 माह के अन्दर किसी भी सदन का सदस्य बनना अवश्यम्भावी है, अन्यथा त्यागपत्र देना होगा। अनुच्छेद 164(5) इस अनुच्छेद के अनुसार, मुख्यमंत्री और अन्य मंत्रियों के वेतन भत्ते राज्य विधानमण्डल समय–समय पर कानून बनाकर निर्धारित करेगी।[7]

राज्यों व केन्द्र के वेतन भत्ते की व्यवस्था का निर्धारण द्वितीय अनुसूची में किया गया है।

उपर्युक्त संवैधानिक स्थिति के विश्लेषण से स्पष्ट है कि मुख्यमंत्री की भूमिका समकक्षों में प्रथम की है। सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दृष्टि से मुख्यमंत्री की स्थिति राज्य में प्रधानमंत्री के समान है।

राज्यपाल की स्वविवेक की शक्ति, अनुच्छेद 164(1) के अनुसार राज्यपाल को मुख्यमंत्री की नियुक्ति का अधिकार प्राप्त है व्यवहारिक दृष्टिकोण से राज्यपाल इस व्यक्ति को ही मुख्यमंत्री नियुक्त करते हैं जो बहुमत दल का नेतृत्व करता है, इस परिस्थिति में राज्यपाल को स्वविवेक के अधिकार को प्रयोग में लेने की आवश्यकता नहीं होती। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में राज्यपाल को स्वविवेक से कार्य करने का अवसर प्राप्त हो सकता है, जो निम्न प्रकार हैं –

प्रथम अवसर उस समय प्रकट होता है जबकि विधानसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, ऐसी परिस्थिति में राज्यपाल का यह कर्तव्य है कि यह ऐसे व्यक्ति को पद संभालने के लिए आमंत्रित करे जो विधानसभा में अपनी सरकार के लिए बहुमत प्राप्त कर सके। द्वितीय अवसर उस समय आता है जब राजनीतिक दल में आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण दल अपना सर्वमान्य नेता का चुनाव करने में असमर्थ हो तथा अनेक नेता मुख्यमंत्री पद के दावेदार हों। तृतीय स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब विधानसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत ना मिला हो और गठबन्धन सरकार का निर्माण किया जाना आवश्यक हो एवं मुख्यमंत्री के संदर्भ में मतैक्य न हो।

कुछ विशिष्ट स्थितियों में ऐसा व्यक्ति मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया जा सकता है जो विधानसभा का निर्वाचित सदस्य नहीं है, तो उसे शीघ्र विधानसभा का सदस्य निर्वाचित होना होगा यदि वह चुनाव में हार जाता है तो उसे शीघ्र मुख्यमंत्री पद त्याग देना चाहिए।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 164(4) यह सुनिश्चित करता है कि यदि वह व्यक्ति विधानमण्डल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं है, तो उसे 6 महीने के भीतर किसी सदन का सदस्य हो जाना चाहिए, अन्यथा अपना पद त्यागना पड़ेगा।[8] इस संदर्भ में मद्रास, प.बंगाल, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान, तथा बिहार में क्रमशः राजगोपालाचारी, सिद्धार्थ शंकर राय, हेमवती नन्दन बहुगुणा, प्रकाशचन्द सेठी, श्रीमती नन्दनी सत्पथी, भैरोसिंह शेखावत, कर्पूरी ठाकुर तथा रामनरेश यादव को मुख्यमंत्री बनने के पश्चात् 6 माह की अविध में ही विधनसभा की सदस्यता के लिए उपचुनाव लड़ना पड़ा था।

मुख्यमंत्री चयन में निर्धारक तत्वों की भूमिका –

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् केन्द्र व राज्यों में कांग्रेस पार्टी का बहुमत होने की वजह से किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई, परन्तु चतुर्थ आमचुनाव के पश्चात् परिस्थितियाँ परिवर्तित हुई, जिससे केन्द्र व राज्यों में कांग्रेस का बहुमत नहीं रहा। पश्चिमी बंगाल, मद्रास, केरल, बिहार, उड़ीसा और पंजाब इन छह राज्यों के मुख्यमंत्रीगण कांग्रेस के परास्त होने से सत्ताच्यूत हो गए व मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, हरियाणा और राजस्थान में उनकी स्थिति अनिश्चित थी। अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें बनी फिर गिरी, दलबदल की स्थिति उत्पन्न हुई, अस्पष्ट बहुमत की स्थिति में राज्यपाल को अपनी स्वविवेकी शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। ऐसी परिस्थितियों में मुख्यमंत्रियों के चयन में निम्न निर्धारक तत्व अपनी व्यवहारिक, संवैधानिक व निर्णायक भूमिका निभाते हैं –

राज्यपाल, राज्यपाल संवैधानिक दृष्टिकोण से राज्य में बहुमत दल के नेता को मुख्यमंत्री पद पर चुनता है। व्यवहारिक राजनीतिक सन्दर्भों में दल–बदल, अस्पष्ट बहुमत, संविद एवं संयुक्त सरकार के गठन में राज्यपालों ने मुख्यमंत्रियों के चयन में महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाई है। भिन्न–भिन्न राज्यों में राज्यपालों ने अपनी–अपनी विवेक दृष्टि से भिन्न–भिन्न निर्णय लिए हैं और कहीं राजनीति से प्रेरित होकर निर्णय लेने के कारण राज्यपाल की भूमिका एवं आचरण आलोचना का विषय बने रहे।

प्रधानमंत्री की भूमिका, पिछले कुछ वर्षों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि मुख्यमंत्री के चयन की प्रक्रिया में प्रधानमंत्री की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। अनेक राज्यों में मुख्यमंत्री का चयन संविधानतः विधायक दल के सदस्यों द्वारा नहीं वरन् केन्द्र के द्वारा लिए गए निर्णय द्वारा होता है। इस प्रकार की राजनीति घटकवादी या गुटवादी राजनीति कही जा सकती है। जिससे संघीय नेता अपने गुट के मुख्यमंत्री नियुक्त कराने में दबाव की भूमिका निभाते हैं।

प्रदेशाध्यक्ष, राज्य मे दलीय अध्यक्ष जितना शक्तिशाली एवं प्रभावशाली व्यक्ति होता है वह अपने राज्य के मुख्यमंत्री चयन में उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान करता है। अनेक बार तो किसी–किसी राज्य में दल के प्रदेशाध्यक्ष को ही मुख्यमंत्री चुन लिया जाता है, उदाहरणार्थ – राजस्थान में वसुन्धरा राजे सिंधिया जो कि राजस्थान भाजपा दल की प्रदेशाध्यक्ष थीं, उन्हीं को ही सन् 2003 में मुख्यमंत्री चुना गया था।

दल की कार्यसमिति, विभिन्न दलों की कार्य समितियाँ मुख्यमंत्री के चयन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है, विशेषरूप से कांग्रेस पार्टी कार्य समिति एवं कांग्रेस हाईकमान ने अनेक मुख्यमंत्रियों के चयन में प्रमुख भूमिका निभाई है परन्तु स्पष्ट रूप से इसमें दलीय अन्तर्सम्बन्ध अधिक प्रयत्नशील हुए हैं, निःसन्देह समदलीय मुख्यमंत्रियों के चयन में यह एक प्रभावकारी तत्व है।

विधायक दल, संसदीय व्यवस्था स्वीकार किए जाने से व्यवहार में मुख्यमंत्री का चयन उस राज्य के बहुमत विधायक दल द्वारा किया जाता है।

क्षेत्रीयता एवं भाषा, भाषा एवं क्षेत्रीयता के आधार भी मुख्यमंत्री के चयन में उम्मीदवार के रूप में पर्याप्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यहाँ ज्ञातव्य है कि भारत में राज्यों का पुनर्गठन भी भाषा के आधार पर ही हुआ है, ये तत्व भारतीय राजनीति को समय–समय पर प्रभावित करते रहते हैं, उदाहरणार्थ मध्यप्रदेश की राजनीति क्षेत्रीयता से और तमिलनाडु की राजनीति भाषा से प्रभावित है।

मुख्यमंत्री एवं मंत्रिपरिषद्, भारत के संविधान के अनुसार संघीय मंत्रिपरिषद् के समान ही प्रत्येक राज्य में मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिपरिषद् होगी, यह मंत्रिपरिषद् उस राज्य के राज्यपाल को उनके कार्यों के संपादन में सहायता और परामर्श प्रदान करेगी तथा अपने समस्त कार्यों के लिए यह सामूहिक रूप से राज्य विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होगी। मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेंगें तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति मुख्यमंत्री के परामर्श से करेंगें, यह मंत्रिपरिषद् राज्यपाल के प्रसाद–पर्यन्त अपने पद पर कार्य करेगी।

सर्वविदित है कि भारत में संसदीय शासन व्यवस्था अपनायी गयी है जिसके अन्तर्गत कार्यपालिका व व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है तथा कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका शक्ति एक व्यक्ति विशेष में निहित न होकर मंत्रिपरिषद् में होती है, इसी कारण इसे मंत्रिमण्डलीय या केबिनेट शासन पद्धति कहा जाता है। किसी भी राज्य का राजनैतिक जीवन वहाँ की कार्यपालिका के स्वरूप पर निर्भर करता है, और संसदीय शासन व्यवस्था में कार्यपालिका के दोहरे कार्य व उत्तरदायित्व होते हैं तथा राज्य कार्यपालिका हो या केन्द्रीय कार्यपालिका

दोनों का प्रधान संवैधानिक अध्यक्ष होता है, जिसके नाम पर मंत्रिपरिषद् कार्य करती है। केन्द्र में एवं राज्य में क्रमशः प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री सहित मंत्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिका कहे जाते है।

मुख्यमंत्री का मंत्रिपरिषद् में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान होता है, वह राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति के सम्बन्ध में परामर्श प्रदान करता है, मंत्रिपरिषद् में किसे केबिनेट मंत्री, राज्यमंत्री, संसदीय सचिव आदि नियुक्त करें, कौनसा विभाग किसे दिया जाए, इससे सम्बन्धित समस्त अधिकार मुख्यमंत्री को प्राप्त है, वह सामान्य प्रशासन पर नियंत्रण रखता है तथा मंत्रिपरिषद् की बैठकों का सभापतित्व करता है, मंत्रिमण्डल की बैठकों में निर्णायक मत प्रदान करता है, मुख्यमंत्री का त्यागपत्र समस्त मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र माना जाता है, मुख्यमंत्री राज्यपाल एवं मंत्रिपरिषद् के मध्य एक महत्वपूर्ण कड़ी होता है, अतः राज्यपाल मुख्यमंत्री के माध्यम से कोई भी सलाह व चेतावनी मंत्रिपरिषद् को प्रदान करता है।

राज्यपालों की नियुक्ति के सन्दर्भ में मुख्यमंत्रियों का परामर्श, भारत के संविधान निर्माताओं की यह प्रबलतम अभिलाषा थी कि केन्द्रीय सरकार राज्यपालों की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श ले। संविधान के क्रियान्वयन काल से चतुर्थ आम चुनाव तक (1967) राज्यपालों की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों से परामर्श लिया जाता रहा किन्तु 1967 के पश्चात् से गैर–कांग्रेसी सरकारों के युग में यह विषय अधिक विवादास्पद हो गया क्योंकि कतिपय राज्यों के मुख्यमंत्री केन्द्रीय सरकार द्वारा कांग्रेसी राज्यपालों को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं थे अथवा यह भी कहा जा सकता है कि केन्द्र सरकार राज्यपालों की नियुक्तियाँ करते समय मुख्यमंत्रियों से परामर्श नहीं लेती थी। बिहार में नित्यानन्द कानूनगो की नियुक्ति के समय महामाया प्रसाद सिन्हा से, उत्तरप्रदेश में वी.गोपाल रेड्डी की राज्यपाल पद पर नियुक्ति करते समय मुख्यमंत्री चौधरी चरणसिंह से परामर्श नहीं लिया गया, इसी प्रकार आन्ध्रप्रदेश में रामलाल की राज्यपाल के पद पर नियुक्ति में रामाराव से परामर्श नहीं लिया गया। इस प्रकार की स्थिति से अनेक बार राजनैतिक संकट उत्पन्न हो गया, अतः इस संकट से बचाव के लिए परम्परागत रूप से चली आ रही परिपाटी का अनुपालन किया जाना चाहिए, जिसके अनुसार राज्यपालों की नियुक्ति करते समय उस राज्य के मुख्यमंत्री से आवश्यक रूप से परामर्श लिया जाना चाहिए।

संविधान के अनुच्छेद 167 के अनुसार मुख्यमंत्री का यह कर्तव्य है कि राज्य के प्रशासन से सम्बन्धित मंत्रिपरिषद् के समस्त निर्णयों और व्यवस्थापन के प्रस्तावों की सूचना

राज्यपाल को दे, इसी प्रकार स्पष्ट है कि मुख्यमंत्री राज्य, मंत्रिपरिषद् और राज्यपाल के मध्य की महत्वपूर्ण कड़ी है।[9]

मुख्यमंत्री के चयन से सम्बन्धित विवादास्पद प्रश्न :– सामान्य परिस्थितियों में राज्य विधानसभा में बहुमत दल के नेता को मुख्यमंत्री चुना जाता है परन्तु राज्यों की राजनीति अधिक जटिल होने के कारण परिस्थितियों के अनुसार मुख्यमंत्रियों की चयन प्रक्रिया परिवर्तित होती रहती है। राज्यपाल भिन्न–भिन्न राज्यों में एक समान परिस्थितियों में भी भिन्न–भिन्न निर्णय लेते हैं जिससे उनकी भूमिका, व्यवहार एवं आचरण विवादग्रस्त रहे हैं, मुख्यमंत्री के चयन में प्रधानमंत्री की भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण परन्तु कदाचित विवादित भी रही है, प्रधानमंत्री केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् में से किसी भी मंत्री को चयन कर सम्बन्धित प्रान्त में मुख्यमंत्री के तौर पर भेज देता है, जिसको की राज्य विधानमण्डल अपना नेता स्वीकार कर लेता हैं, उदाहरणार्थ घनश्याम ओझा, पी.सी. सेठी, सिद्धार्थ शंकर राय, कैदार पाण्डेय, नन्दिनी सत्पथी, और हेमवती नन्दन बहुगुणा क्रमशः गुजरात, मध्यप्रदेश, पश्चिम बंगाल, बिहार, उड़ीसा और उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री नियुक्त किए जो पूर्व में केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् के सदस्य थे। नेहरूजी के प्रधानमंत्री काल में भी राजगोपालाचारी, डॉ. हरे कृष्ण मेहताब, डॉ. कैलाशनाथ काटजू को क्रमशः मद्रास, उड़ीसा, मध्यप्रदेश का मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया जो पूर्व में केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् में रह चुके थे, वर्तमान में भी इस प्रकार के उदाहरण देखे जा सकते हैं। डॉ. के.वी. राव ने इस प्रकार की परम्परा के पक्ष विपक्ष में तर्क प्रस्तुत किया है उनके अनुसार मुख्यमंत्री की इस प्रकार की चयन प्रक्रिया से राज्य एवं केन्द्र के मध्य परस्पर मधुर सम्बन्ध बना रहता है, परन्तु सन्देह भी व्यक्त किया है कि ये आधार रहित नेतागण विधायकों का विश्वास प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगें या नहीं और इसे किस सीमा तक जनतंत्रीय प्रक्रिया की संज्ञा दी जा सकती है।[10]

इस प्रकार की स्थिति में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राज्यपाल केन्द्र से भेजे गए मुख्यमंत्रियों को स्वीकृत करें या नहीं क्योंकि जनता ने उन्हें केन्द्र के लिए चुना है राज्य के लिए नहीं। यह प्रक्रिया संसदीय परम्परा के अनुकूल है या नहीं। इस स्थिति से स्पष्ट है कि यदि राज्यपाल मुख्यमंत्रियों की इस प्रकार की नियुक्ति करते हैं तो वह मात्र रबर स्टाम्प ही है परन्तु इनके इस प्रकार के व्यवहार को दोषपूर्ण भी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि वे राष्ट्रपति के प्रतिनिधि हैं तथा राष्ट्रपति स्वयं नाममात्र के हैं, समस्त कार्य केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् के परामर्श से करते हैं। इस प्रकार की नियुक्तियाँ सदैव विवाद का कारण बनती हैं।

द्वितीय विवाद यह है कि क्या राज्यपाल चुनाव में पराजित व्यक्तियों को भी मुख्यमंत्री नियुक्त कर सकता है? उदाहरणार्थ मोरारजी देसाई 1952 व चन्द्रभानु गुप्त 1962 के विधानसभा चुनाव में पराजित हो गए थे, उसके पश्चात् भी उन्हें क्रमशः बम्बई में और यू.पी. में मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया गया। वर्तमान में भी इस प्रकार के उदाहरण देखे जा सकते हैं, जैसे झारखण्ड में शिबू सोरेन के पराजित होने के पश्चात् भी उन्हें मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त किया गया। इस संदर्भ में हमारे समक्ष अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, इस प्रकार की परिस्थिति लोकतंत्र के लिए उचित है अथवा नहीं, राज्यपाल जनतंत्र के संरक्षण की अपेक्षा अपने पद के लिए अधिक चिन्तित हैं, 1952 में जब मोरारजी देसाई की मुख्यमंत्री पद पर नियुक्ति के लिए विरोध प्रकट किया तो तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने प्रश्न उपस्थित किया था कि जब किसी नेता को अपने राजनीतिक दल का समर्थन एवं विश्वास प्राप्त है और राजनीतिक दल वहाँ की जनता द्वारा शासन करने के लिए चुना जाता है तो क्या वह नेता केवल मुख्यमंत्री इसलिए नहीं चुना जाता क्योंकि एक निर्वाचन क्षेत्र के मतदाताओं का उसे विश्वास प्राप्त नहीं है।[11]

व्यवहारिक दृष्टिकोण से यह अलोकतंत्रीय परम्परा है मुख्यमंत्री के चयन से सम्बन्धित एक अन्य प्रश्न भी विवादास्पद रहा है क्या मुख्यमंत्री का विधान परिषद् के लिए मनोनयन इस दृष्टि से किया जाए कि उसे राज्यपाल मुख्यमंत्री नियुक्त करेंगें, इस दृष्टिकोण से श्री राजगोपालाचारी और बी.पी. मण्डल को क्रमशः मद्रास और बिहार में 1952 व 1968 में नियुक्त किया गया। निश्चित रूप से राज्यपाल द्वारा मनोनीत मुख्यमंत्री में अनेक सद्गुण होने आवश्यक हैं परन्तु स्वार्थ की पूर्ति के लिए इस प्रकार का मनोनयन संवैधानिक नैतिकता की दृष्टि से उचित नहीं है।

भारत सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपाल समिति का विचार है कि एक मनोनीत व्यक्ति को सरकार गठन हेतु आमंत्रित करना संसदीय भावना के अनुकुल नहीं है आगे स्पष्ट किया गया कि हम लोगों के विचार से किसी व्यक्ति को मुख्यमंत्री बनाने के लिए विधानमण्डल में मनोनीत करना संसदीय सरकार की बुनियादी विचारधारा के प्रतिकूल है।[12]

एक ज्वलन्त प्रश्न समय–समय पर उठता रहा है कि राज्यपालों के द्वारा ऐसे व्यक्तियों को मुख्यमंत्री नियुक्त किया जाना, जो नियुक्ति के समय विधानमण्डल के किसी भी सदन के सदस्य नहीं थे। संविधान के अनुसार किसी भी व्यक्ति को मंत्री या मुख्यमंत्री बनाया जा सकता है, चाहे वह विधानमण्डल के किसी भी सदन का सदस्य ना हो बशर्ते नियुक्ति के 6 माह के भीतर विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य बनना होगा। इस संदर्भ में राज्यपाल समिति की सलाह है कि मुख्यमंत्री का किसी राज्य की राजनीति में

विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान होता है अतः इस दिशा में एक परम्परा के विकास की महती आवश्यकता है कि दल के नेता, जो सरकार निर्माण के दावेदार है को चुना हुआ अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अपवाद स्वरूप किसी ऐसे नेता को चुन लिया जाता है जो पूर्व में निर्वाचित हुआ हो और उसे मुख्यमंत्री के लिए आमंत्रित किया जाता है तो उसे कम से कम समय सीमा में चुनाव लड़ना चाहिए और इसके पश्चात् यदि वह चुनाव में पराजित हो जाए तो तत्काल पद त्याग कर देना चाहिए।[13]

निश्चित रूप से राज्यपाल समिति का प्रतिवेदन जनतंत्र के आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिनिधित्व करता है और संविधान के क्रियान्वयन समय के अनुभवों पर आधाारित है, परन्तु वास्तव में इसे कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका।

राज्यपाल और मुख्यमंत्री के मध्य सम्बन्धों के अनेक निर्धारक तत्व हैं, जैसे विधानसभा संगठन, व्यक्तिगत समीकरण, दलीय स्थिति, राज्य मंत्रिमण्डल में मुख्यमंत्री का प्रभाव, राज्यों व केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की स्थिति, दोनों की स्थिति के सम्बन्ध में न्यायालय की भूमिका, जनमत की स्थिति, नियंत्रण एवं संतुलन की व्यवस्था आदि।

राजस्थान की राजनीति में मुख्यमंत्री :–

भारतीय संघ की इकाई में मुख्यमंत्री के पद को वर्तमान स्वरूप ग्रहण करने में एक विशिष्ट प्रक्रिया से गुजरना पड़ा, क्योंकि स्वतंन्त्रता से पूर्व राज्यों की प्रकृति एवं संरचना भिन्न थी एवं स्वतन्त्रता के पश्चात् भी 1954 तक राजस्थान में मुख्यमंत्री का पद अस्थायित्व के दौर से गुजरा, तत्पश्चात् मोहनलाल सुखाड़िया के नेतृत्व में 17 वर्षों तक स्थायित्व का समय रहा। 1977 व 1989 में गठबन्धन राजनीति के लक्षण दृष्टिगोचर हुए एवं उसके पश्चात् द्विदलीय राजनीति का दौर प्रारम्भ हुआ, इस प्रकार मुख्यमंत्री के प्रसंग में देखा जाए तो स्वतंत्रता के पश्चात् से वर्तमान तक उपरोक्त 4 प्रतिमान स्थापित हुए।

स्वतन्त्रता संग्राम से ओत–प्रोत परन्तु अस्थायी मुख्यमंत्रियों का दौर पं. हीरालाल शास्त्री, हीरालाल शास्त्री राजस्थान के प्रथम एवं संस्थापक मुख्यमंत्री बने, किन्तु उनके मनोनयन के समय से ही विवाद की स्थिति निर्मित हुई। जहाँ राजस्थान प्रदेश कांग्रेस के अधिकांश नेता स्वतंत्रता संग्राम की परम्पराओं को आगे बढ़ाने के दृष्टिकोण से पं. जयनारायण व्यास को प्रधानमंत्री (पहले मुख्यमंत्री को इसी नाम से जाना जाता था) बनाना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर गृहमंत्री सरदार वल्लभभई पटेल के आज्ञानुसार राज्य मंत्रालय पं. हीरालाल शास्त्री को सत्तासीन करना चाहते थे। राजस्थान प्रदेश कांग्रेस के नेताओं ने शास्त्री का जबरदस्त विरोध किया, इसकी प्रतिक्रिया फलस्वरूप हीरालाल शास्त्री ने अपने मंत्रिमण्डल चयन में राजस्थान प्रदेश कांग्रेस के नेताओं की अवहेलना की तथा पं.

जयनारायण व्यास, माणिक्यलाल वर्मा व अन्य प्रभावशाली नेताओं के समर्थकों को कोई स्थान नहीं दिया फलस्वरूप व्यास एवं वर्मा तथा अनेक वरिष्ठ नेताओं ने राजस्थान प्रदेश कांग्रेस समिति से त्यागपत्र दे दिया और शास्त्री एवं प्रदेशाध्यक्ष गोकुल भाई भट्ट के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव की सूचना प्रदत्त की। शास्त्री ने जयनारायण व्यास एवं माणिक्यलाल वर्मा के विरूद्ध भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी के मुकदमें एवं जाँच आयोग बैठाया, प्रादेशिक व राष्ट्रीय स्तर के कांग्रेस संगठन के चुनावों में उनके समूह को परास्त होना पड़ा इससे सरदार पटेल को भी अनुभव हुआ कि वे अल्पमत का ही समर्थन रखते हैं अतएव केन्द्रीय राज्य विभाग ने पं. शास्त्री को मुख्यमंत्री पद से पदच्यूत करने का निर्णय ले लिया अतः 3 जनवरी 1951 को शास्त्री ने त्यागपत्र दे दिया।

अंतरिम मुख्यमंत्री, शास्त्री मंत्रिमण्डल के समाप्त होने पर संघ ने आई.सी.एस., अधिकारी सी.एस. वेंकटाचारी को 5 जनवरी, 1951 को अन्तरिम काल के लिए मुख्यमंत्री नियुक्त किया। अन्ततः 26 अप्रैल, 1951 को जयनारायण व्यास के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार बनी जो कि 1952 के प्रथम आम चुनाव तक सत्तासीन रही। पं. जयनारायण व्यास ने बिजौलिया आन्दोलन में कृषक समुदाय को यह विश्वास प्रदान किया था कि सत्तासीन होने के उपरान्त वे शोषणकारी जागीरदारी व्यवस्था से मुक्ति दिलाएंगे और भूमि सुधार की दिशा में आगे बढ़ेंगे, फलस्वरूप व्यास ने 5000 रूपये या उससे अधिक जागीरों को समाप्त करने का ऐतिहासिक निर्णय लिया इसकी प्रतिक्रिया फलस्वरूप जागीरदारों, सामन्तों, राजाओं व भू–स्वामियों ने कांग्रेस के विरूद्ध संघर्ष प्रारम्भ किया। परिणास्वरूप 1952 के आमचुनाव में कांग्रेस को 160 मे से मात्र 82 विधानसभा स्थान प्राप्त हुए तथा जयनारायण व्यास पराजित हुए। राजस्थान कांग्रेस के समक्ष व्यास के पराजित होने पर नेतृत्व संकट उत्पन्न हुआ तथा निर्णय लिया कि जब तक जयनारायण व्यास उपचुनाव जीतकर विधानसभा नहीं पहुंचते तब तक टीकाराम पालीवाल को अन्तरिम मुख्यमंत्री बनाया जाए। पालीवाल 9 माह तक सत्तारूढ़ रहे तथा व्यास के उपचुनाव जीतने के पश्चात् मुख्यमंत्री पद उन्हें प्रदान किया, 1 नवम्बर 1952 को शपथ ग्रहण समारोह हुआ, व्यास भी अधिक समय तक इस पद पर नहीं रह सकें, जाटों के विरोध, कुंभाराम आर्य की चुनौती व सुखाड़िया समर्थकों के विरोध के कारण 6 नवम्बर, 1954 को कांग्रेस विधानसभा पार्टी की बैठक में नेता पद का चुनाव हुआ। व्यास को 51 व मोहनलाल सुखाड़िया को 59 वोट प्राप्त हुए। 13 नवम्बर 1954 को मोहनलाल सुखाड़िया मात्र 38वर्ष की आयु में ही राजस्थान जैसे विशाल राज्य के मुख्यमंत्री नियुक्त किए गए। 1957 के तृतीय आम चुनाव, 1962 के चतुर्थ तथा 1967 के पंचम आम चुनाव में सुखाड़िया मुख्यमंत्री बने यद्यपि उनका

कार्यकाल भी अनेक कठिन समस्याओं से गुजरा परन्तु फिर भी 17 वर्षों तक मुख्यमंत्री पद पर बने रहे तथा राजस्थान की लोकतांत्रिक राजनीति को स्थायित्व प्रदान किया। 1969 में श्रीमती इन्दिरा गांधी व सुखाड़िया में राष्ट्रपति निर्वाचन के प्रश्न को लेकर मतभेद हो गया। श्रीमती इन्दिरा गांधी के उम्मीदवार वी.वी. गिरी थे जबकि कांग्रेस संगठन के नीलम संजीव रेड्डी। सुखाड़िया ने रेड्डी के पक्ष में वोट डाला, कांग्रेस के अधिकारिक उम्मीदवार होने के पश्चात् भी नीलम संजीव रेड्डी, वी.वी.गिरी से पराजित हो गए फलस्वरूप कांग्रेस उच्चसत्ता के निर्देश पर मोहनलाल सुखाड़िया ने 8 जुलाई 1971 को मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र दे दिया और 9 जुलाई 1971 को बरकतुल्ला खां ने मुख्यमंत्री पद की शपथ ली। 1977 का वर्ष राजस्थान की राजनीति का एक महत्वपूर्ण वर्ष कहा जा सकता है, क्योंकि केन्द्र के समान राजस्थान में प्रथम समय पाँच दलों से निर्मित जनता पार्टी की सरकार निर्मित हुई, राजस्थान में भैरोसिंह शेखावत मुख्यमंत्री बने परन्तु यह सरकार अधिक समय तक नहीं रह सकी क्योंकि केन्द्र में जनता दल के विघटन के कारण मध्यावधि चुनाव हुए और पुनः कांग्रेस की सरकार बनी, केन्द्र सरकार ने राजस्थान की शेखावत सरकार को भंग कर 17 फरवरी 1980 को राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। तत्पश्चात् कांग्रेस में पुनः अस्थायी मुख्यमंत्रियों का दौर प्रारम्भ हुआ। 1989 का वर्ष केन्द्र व राज्य दोनों के लिए ही अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा क्योंकि इस वर्ष के पश्चात् गठबन्धन राजनीति का सूत्रपात हुआ, भारत के सर्वाधिक शक्तिशाली एवं स्वतन्त्रता संग्राम की पार्टी कांग्रेस की स्थिति कमजोर हुई। 1990 में भाजपा एवं जनतादल के गठबन्धन से भैरोसिंह शेखावत के नेतृत्व में सरकार निर्मित हुई। नवम् विधानसभा के चुनाव से पूर्व विगत 10 वर्षों में भैरोसिंह शेखावत ने राजस्थान की विकृत राजनीति, सामाजिक एवं प्रशासनिक स्थिति को अपने पक्ष में करने का भरसक प्रयत्न किया, अपने संगठन को विस्तृत किया जनता की अनेकानेक समस्याओं को सार्वजनिक मंचो पर उठाया और उनके लिए संघर्ष किया, अनेक दलों के साथ सामंजस्य का प्रयास किया, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जो उसकी जननी है, उसकी शाखाएं शहर, कस्बों एवं ग्रामीण स्तर तक विस्तृत हो गयी। भाजपा जनता की आधारभूत समस्याओं बिजली, पानी, अकाल आदि को लेकर निरन्तर जनआन्दोलन करती रही, समय–समय पर धरने, प्रदर्शन एवं सभाएं आयोजित की जाने लगी, भाजपा संगठन की गतिविधियां निरन्तर चलती रहीं, प्रदेश कार्यकारिणी, प्रतिनिधि सभा की बैठकें तथा अधिवेशनों का आयोजन किया जाने लगा, राज्य के राजनीतिक, आर्थिक और अन्य विषयों पर प्रस्ताव स्वीकृत किए जाने लगे। भैरोसिंह का कार्यकर्ताओं से प्रत्यक्ष सम्पर्क होने लगा, सूचनाओं का आदान–प्रदान होने लगा, समस्याओं को विधानसभा तक पहुंचाने व उसके समाधान से

जनता में उनकी पैठ बढ़ती गयी। भारतीय जनता पार्टी ने अपने संगठन को शाक्तिशाली, विस्तृत तथा जनता की समस्याओं से जुझने के अनुकूल निर्मित किया तथा उन क्षेत्रों को चिन्हित करना प्रारम्भ किया, जहाँ मजबूती से उभरा जा सकता है सर्वप्रथम शेखावत ने उदयपुर संभाग पर कार्य करना प्रारम्भ किया, इस क्षेत्र का एकता का इतिहास रहा है। यह आदिवासी क्षेत्र है जो गुजरात एवं मध्यप्रदेश की सीमा से लगा हुआ है। सुखाड़िया के सत्रह वर्षों तक मुख्यमंत्री बने रहने का मुख्य कारण उदयपुर संभाग से पूर्ण समर्थन मिलना था, सुखाड़िया के शासन काल में कांग्रेस को इस संभाग का सदैव 3/4 समर्थन मिलता रहा जो कि किसी अन्य संभाग के महत्वपूर्ण नेता को प्राप्त समर्थन से निश्चित रूप से अधिक था। 1982 में सुखाड़िया का असामयिक देहावसान होने से उदयपुर संभाग में इस प्रकार के एकछत्र प्रतिभाशाली नेता का सर्वथा अभाव हो गया, इस स्थिति का भाजपा ने लाभ उठाया। आदिवासियों में अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए ऋषभदेव में विशाल स्तर पर सम्मेलन का आयोजन किया एवं उनकी समस्याओं को हल करने के लिए कांग्रेस सरकार को चुनौती दी, इसी प्रकार का एक सम्मेलन मेवाड़ में मावली नामक स्थान पर किया गया। शेखावत ने 1985 में निम्बाहेड़ा क्षेत्र से चुनाव लड़ा एवं विजयी रहे, मेवाड़ के महाराणा महेन्द्रसिंह को 1989 के लोकसभा चुनाव के लिए चित्तौड़गढ़ लोकसभा क्षेत्र से खड़ा किया और वे विजयी रहे, 1991 तथा 1998 में केन्द्र की राजग सरकार में वित्तमंत्री रहे जसवन्त सिंह का भी उसी क्षेत्र से निर्वाचन हुआ जबकि वे बाड़मेर जिले के हैं।

कोटा संभाग में भी अपनी स्थिति को प्रभावशाली बनाने के प्रयत्न किए गए यद्यपि इस संभाग में भाजपा का प्रभाव जनसंघ काल से ही रहा है। जाटों में अपने प्रभाव का विस्तार करने के लिए उनके प्रभावी नेता नाथूराम मिर्धा से शेखावत ने अपने सम्बन्ध मजबूत किए उनके निकटस्थ मित्र चन्द्रराज सिंधवी को भी भाजपा में सम्मिलित कर लिया। इसके अतिरिक्त कई अन्य जिलों जैसे सिरोही, अजमेर, पाली, सवाईमाधोपुर आदि में भी अपनी पैठ जमाने का प्रयास किया। जाट नेता डॉ. रामप्रताप, डॉ. रतनलाल जाट व सांवरलाल तथा गुर्जर नेता नाथूसिंह, कालूलाल, शिवचरण सिंह आदि भी भाजपा में सम्मिलित होते गए।

उपरोक्त पृष्ठभूमि के कारण भाजपा संगठन मजबूत होता गया, 1985 के विधानसभा चुनाव में भी उसकी स्थिति मजबूत हुई परन्तु 1990 के विधानसभा चुनाव में कांग्रेस परास्त हो गयी, इसके भी अनेक कारण रहे, भाजपा की रामलहर, कांग्रेस पर बोफोर्स तोपों की दलाली का आरोप, पिछले 5 वर्षों में अस्थायी मुख्यमंत्रियों का दौर, भाजपा तथा जनतादल के मध्य गठबन्धन। 1990 के नवम विधानसभा चुनाव में कांग्रेस को 200 में से मात्र 50

स्थान व 38.64 प्रतिशत मत प्राप्त हुए, भाजपा ने सर्वाधिक 85 स्थान व 25.25 प्रतिशत एवं जनता दल ने 55 स्थान 21.63 प्रतिशत मत प्राप्त किए। 1989 में सम्पन्न लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस को एक भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ जबकि भाजपा एवं जनता दल को क्रमशः 13–11 स्थान प्राप्त किए।

1990 के विधानसभा चुनाव में राजनीतिक दलों की स्थिति को निम्न सारणी से समझा जा सकता है –

क्र.सं.	राजनीतिक दल	कुल प्रत्याशी	विजयी प्रत्याशी	प्राप्त मत	मत प्रतिशत
1	इन्दिरा कांग्रेस	199	50	4953908	33.58
2	भारतीय जनता पार्टी	128	85	3707703	25.13
3	जनता दल	119	54	3166412	21.46
4	जनता पार्टी (जी.पी.)	44	–	47648	0.32
5	लोकदल (बहुगुणा)	28	–	26120	0.18
6	मा.क.पा	19	01	145767	0.99
7	भा.क.पा.	40	–	118741	0.80
8	संगठन कांग्रेस (सं.)	17	–	89350	0.61
9	निर्दलीय	2103	09	2223426	15.07

[14]

राजस्थान के राज्यपाल देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने भैरोसिंह शेखावत को भाजपा विधायक दल का नेता निर्वाचित होने की सूचना दी, 3 मार्च, 1990 को ही उन्हें सरकार निर्मित करने के लिए निमंत्रित किया, 4 मार्च, 1990 को शेखावत को राज्यपाल ने मुख्यमंत्री पद की शपथ प्रदान की। शेखावत के साथ तीन अन्य मंत्रियों भंवरलाल शर्मा, ललित किशोर चतुर्वेदी (भाजपा) तथा नत्थीसिंह (जद) ने शपथ ग्रहण की।

भैरोसिंह ने अपने मंत्रिमण्डल का प्रथम विस्तार 14 मार्च, 1990 को किया जिसमें पुष्पा जैन, रामकिशोर मीणा, विजयसिंह झाला, चतुर्भुज वर्मा, कृष्णकुमार गोयल (भाजपा) दिग्विजय सिंह, डॉ. चन्द्रभान, एवं सुमित्रासिंह (जनतादल) को केबिनेट मंत्री एवं हरलाल सिंह खर्रा, रमजान खां, कालूलाल गुर्जर, कुन्दनलाल मिगलानी, मोहनलाल मेघवाल, जीवराज कटारा, चुन्नीलाल गरासिया (भाजपा), फतहसिंह (जद), राज्यमंत्री के पद पर नियुक्त किए गए। हरिशंकर भाभड़ा को विधानसभा अध्यक्ष चुना गया जो 28 दिसम्बर, 1993 तक पद पर बने रहे, जनतादल के यदुनाथ सिंह को उपाध्यक्ष चुना गया।

भैरोसिंह शेखावत मंत्रिमण्डल का द्वितीय विस्तार 30 मई, 1990 को श्रीमती विद्या पाठक, हरिकुमार औदिच्य (भाजपा), सम्पतराय, केदारनाथ, श्रीमती मदन कौर (जद) को केबिनेट मंत्री तथा जोगेश्वर गर्ग, शांतिलाल चपलोत (भाजपा), रामेश्वर दयाल यादव,

नफीस अहमद खां, देवीसिंह भाटी व गोपाल सिंह खंडेला (जद) को राज्यमंत्री नियुक्त किया, अतः अब मंत्रिपरिषद् में 17 केबिनेट व 14 राज्यमंत्री हो गए थे।

उपरोक्त राजनीतिक गतिविधियों के अतिरिक्त भाजपा ने रामंदिर निर्माण की मांग को उठाकर हिन्दू जनता को उद्वेलित करने का प्रयास किया। भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी ने सोमनाथ से अयोध्या तक की यात्रा प्रारम्भ कर रखी थी। इस रथ यात्रा के दौरान आडवाणी को 28 अक्टूबर 1990 को जनता दल के मुख्यमंत्री लालूप्रसाद यादव ने बिहार में गिरफ्तार कर लिया, इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप केन्द्र में भाजपा ने राष्ट्रीय मोर्चा की वी.पी.सिंह सरकार से समर्थन वापस ले लिया, जिससे केन्द्र सरकार अल्पमत में आ गयी। केन्द्र की नीतियों का अनुकरण करते हुए राजस्थान में भी भाजपा को समर्थन प्राप्त कर रही जनता पार्टी ने अपना समर्थन वापस ले लिया, इसी संदर्भ में नत्थी सिंह, सम्पतराम, केदारनाथ शर्मा, दिग्विजय सिंह, चन्द्रभान, सुमित्रासिंह, मदनकौर, फतेहसिंह, गोपालसिंह खण्डेला, रामेश्वरदयाल सभी मंत्रियों ने 26 अक्टूबर को व नफीस अहमद खां ने 27 अक्टूबर, 1990 को मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिए, जिन्हें मुख्यमंत्री की अनुशंसा पर राज्यपाल ने स्वीकृत किया। एकमात्र अपवाद देवीसिंह भाटी का रहा, जिन्होनें केन्द्रीय दलीय निर्देश के बाद भी अपने पद से त्यागपत्र नहीं दिया। मंत्रिपरिषद् से उपरोक्त मंत्रियों के त्यागपत्र के बाद शेखावत सरकार अल्पमत में आ गयी, मुख्यमंत्री ने राज्यपाल देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय से व्यक्तिशः भेंटकर आश्वस्त किया कि वे विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध कर देगें और राज्यपाल ने 8 नवम्बर, 1990 को विधानसभा का विशेष सत्र आहूत किया। 2 नवम्बर, 1990 को जनता दल के विधायकों की बैठक हुई और यह निर्णय लिया गया कि 8 नवम्बर को विधानसभा में भाजपा के विरूद्ध मतदान किया जाएगा परन्तु दिग्विजय सिंह के नेतृत्व में 18 विधायकों ने इस बैठक का बहिष्कार किया और निर्णय का विरोध किया। 5 नवम्बर को 20 बागी विधायकों की बैठक हुई जिसमें एक नवीन दल स्थापित कर भाजपा सरकार को समर्थन देने की घोषणा की तथा दिग्विजय सिंह को नया नेता चुना गया। इस प्रकार जनतादल विभाजित हो गया। इस बैठक में दिग्विजय सिंह, लालचन्द डूडी, अब्दुल हादी, गंगाराम चौधरी, जगमाल सिंह यादव, जगतसिंह दायमा, सम्पतसिंह, डॉ. जितेन्द्रसिंह, मान्धाता सिंह, उम्मेदसिंह, प्रो. सांवरलाल जाट, गणपतराम, डॉ. रतनलाल जाट, भंवरलाल शर्मा, चुन्नीलाल इंदलिया, बाबूलाल खांडा, मिश्रीलाल चौधरी, गुलाम मुस्तफा, डूंगरराम पंवार, शंभूदयाल बडगुजर उपस्थित थे। पृथक् हुए जनता दल विधायकों ने अपने दल का नाम जनता दल (दिग्विजय) रखा।

8 नवम्बर, 1990 को शेखावत द्वारा प्रस्तुत विश्वास प्रस्ताव सफल रहा, 80 की अपेक्षा 116 सदस्यों का विश्वास प्रस्ताव विधानसभा ने स्वीकृत कर लिया, 200 सदस्यों की विधानसभा में भाजपा के 84, जनता दल (दि.) के 26 तथा 6 निर्दलीय विधायकों ने प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया। 24 नवम्बर को मुख्यमंत्री ने मंत्रिपरिषद् का पुनर्गठन किया, जिसमें 7 केबिनेट मंत्री, 7 राज्यमंत्री व 3 उपमंत्री सम्मिलित किए, इस प्रकार मंत्रिपरिषद् की कुल संख्या 37 हो गयी थी। नए मंत्रियों में जनता दल (दिग्विजय)के निम्न मंत्री थे, दिग्विजय सिंह, गंगाराम चौधरी, भंवरलाल शर्मा, लालचन्द डूंडी, जगमाल सिंह यादव, सम्पतसिंह, रामनारायण विश्नोई (केबिनेट मंत्री) एवं नफीस अहमद खां, उम्मेदसिंह, जगतसिंह दायमा, मान्धाता सिंह, डॉ.रतनलाल जाट व बाबूलाल खांडा राज्यमंत्री, उपमंत्री मिश्रीलाल चौधरी व डूंगरराम पंवार थे। दो निर्दलीयों मदनमोहन सिंघल को राज्य उपमंत्री व रामप्रताप कासनिया को उपमंत्री बनाया गया, जनता दल (दि0) में 26 सदस्यों में से 15 को मंत्रिमण्डल में लिया जा चुका था।

भैरोसिंह शेखावत ने अपनी राजनीतिक कुशलता एवं चातुर्य से सरकार बचा ली थी, परन्तु कुछ समय में ही पार्टी में असंतोष उत्पन्न होने लगा, इसका प्रमुख कारण था, 84 सदस्यीय भाजपा विधायक दल में मात्र 20 ही मंत्रिपरिषद् में थे, जनता के मध्य भी तबादलों, बिजली आदि आधारभूत समस्याएं थी। 3 दिसम्बर, 1990 को विधायकों की बैठक में इस असंतुष्टि का प्रगटीकरण हुआ, क्षेत्रीय नेताओं ने सरकार की आलोचना की, परन्तु वरिष्ठ नेताओं के अनुनय–विनय से असंतुष्ट विधायकों को संतुष्ट करने का प्रयास किया गया।

विश्वनाथ प्रताप सिंह के समय लागू मण्डल आयोग की सिफारिशों से भारत देश व राजस्थान की राजनीति में जातिवाद का वीभत्स रूप दृष्टिगोचर हुआ। जनतादल (दिग्विजय) के समर्थन से चल रही सरकार के बाद भी शेखावत ने दो मंत्री संपतसिंह और जगमाल सिंह में अपना विश्वास समाप्त हो जाने पर 9 जनवरी, 1922 को त्यागपत्र ले लिए गए। भैरोसिंह शेखावत ने सदैव ही राजनीतिक गतिविधियों एवं सरकार के मध्य सीमा रेखा बनाए रखी। भाजपा के तत्कालीन राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ. मुरली मनोहर जोशी की 'एकता यात्रा' में सहभागिता करने हेतु दो राज्य मंत्रियों जोगेश्वर गर्ग एवं चुन्नीलाल गरासिया ने 24 जनवरी, 1992 को अपने पद त्याग दिए, त्यागपत्र स्वीकृत करने के पश्चात् ही उन्हें यात्रा में भाग लेने की अनुमति प्राप्त हुई। इसी प्रकार भाजपा के वरिष्ठ मंत्री ललित किशोर चतुर्वेदी ने अयोध्या में राम मन्दिर निर्माण के लिए प्रायोजित कार सेवा में सम्मिलित होने के लिए मंत्रिपरिषद् से त्याग पत्र दिया। 17 फरवरी 1992 को भाजपा के कैलाश मेघवाल को

मंत्रिपद की शपथ दिलाई गयी, उपरोक्त फेरबदल के अतिरिक्त सरकार में कोई फेरबदल नहीं किया गया।

अयोध्या में राम मंदिर निर्माण को लेकर सम्पूर्ण भारत वर्ष में एक धार्मिक वातावरण तैयार हो रहा था, देशभर से हजारों कार सेवक अयोध्या में एकत्रित हुए थे, राजस्थान से भी एक बड़ा समूह था, उसमें जिलों के नेता तथा पूर्व मंत्री भी थे। विवादग्रस्त ढ़ाँचे की सुरक्षा को लेकर अयोध्या में भारी संख्या में सशस्त्र पुलिस जमा थी। विवादित ढ़ाँचे को ध्वस्त कर दिया गया, जिसकी विश्व भर में घोर प्रतिक्रिया हुई, अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिक हिंसा हुई, राजस्थान में जयपुर तथा टोंक जिलों में हिंसा हुई।

6 दिसम्बर 1992 को अयोध्या में घटी घटनाओं के पश्चात् केन्द्र सरकार द्वारा प्रतिबन्धित पांच संगठनों की गतिविधियों पर प्रभावी रोक लगाने में राज्य सरकार के विफल रहने की राज्यपाल की रिपोर्ट पर केन्द्र सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 356 के उपबन्धों के अधीन 15 दिसम्बर, 1992 की रात्रि को राष्ट्रपति द्वारा जारी उद्घोषणा के अनुसार राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किए जाने के साथ ही फरवरी, 1990 में निर्वाचित राज्य की नवीं विधानसभा को भंग कर दिया था। शासन कार्य में राज्यपाल की सहायता हेतु केन्द्र ने राज्य के पूर्व मुख्यसचिव वी.वी.एल. माथुर, पूर्व गृह आयुक्त एल.एन. गुप्ता एवं राज्य अन्वेषण ब्यूरो के पूर्व महानिदेशक ओ.पी. टंडन को राज्यपाल का सलाहकार नियुक्त कर दिया, 20 अगस्त 1993 को आर.जे.मजीठिया, एल.एन. गुप्ता के स्थान पर राज्यपाल के सलाहकार नियुक्त किए गए।

15 जून, 1993 से अगले 6 माह तक राज्य में राष्ट्रपति शासन जारी रखने के लिए संसद के दोनों सदनों द्वारा उद्घोषणा के अन्तर्गत प्रस्तुत संकल्पों का अनुमोदन कर दिया गया। 12 अक्टूबर, 1998 को भारत निर्वाचन आयोग ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की उपधारा, 2 के अधीन दसवीं विधानसभा के चुनाव के लिए शासकीय राजपत्र में अधिसूचना प्रकाशित की।

इस प्रकार भाजपा–जनता दल (दि.) गठबन्धित सरकार का द्वितीय कार्यकाल भी समय पूर्व ही समाप्त हो गया, राष्ट्रपति शासन लगभग 1 वर्ष तक रहा। मुख्यमंत्री शेखावत ने अपने प्रथम कार्यकाल (1977–1980) में राज्य के चहुंमुखी विकास हेतु 'अन्त्योदय और काम के बदले अनाज' जैसी योजनाओं का प्रवर्तन और कार्यान्वयन किया जिनकी सर्वत्र प्रशंसा हुई और अनेक राज्यों ने भी उसका अनुसरण किया। इसी प्रकार अपने द्वितीय कार्यकाल में शेखावत ने 'गरीब को गणेश' मानकर विकास का नया अभियान आरम्भ किया, उन्होंने गांव, गरीब और किसान को विकास योजनाओं और लोक कल्याणकारी कार्यक्रमों

का मुख्य आधार बनाया, इसके अतिरिक्त 'अपना गांव अपना काम, तीस जिले तीस काम' एवं भागीरथ योजना सहित अनेक नवीन कल्याणकारी योजनाओं का प्रारम्भ किया, जिससे विकास कार्यक्रमों में व्यापक जनसहभागिता प्राप्त हुई।

15 दिसम्बर, 1992 से लेकर 4, दिसम्बर, 1993 तक लगभग 1 वर्ष तक राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू रहा, इसके कालखण्ड में भाजपा ने संगठन को सशक्त व सुदृढ़ कर अपने पक्ष में राजनीतिक वातावरण निर्मित किया। शेखावत ने गांव, कस्बे, शहर सभी स्थानों पर जनजागृति के कार्य को आरम्भ किया, उनकी प्रत्येक स्थान पर सभाएं हुई, एक वर्ष तक शेखावत ने जनता तथा कार्यकर्ताओं से प्रत्यक्ष संवाद स्थापित किया, जिससे कि भाजपा के पक्ष में उत्तम राजनीतिक वातावरण तैयार हुआ। परिणामस्वरूप भाजपा ने प्रथम समय विधानसभा की 200 सीटों में से 197 स्थान पर उम्मीदवार खड़े किए तथा डीग, चौहटन एवं बाड़मेर में निर्दलीय प्रत्याशियों क्रमशः कुंवर अरूणसिंह, भगवानदास डोसी एवं गंगाराम चौधरी को समर्थन दिया तथा वे तीनों विजयी रहे। विधानसभा की कुल 96 सीटें भाजपा ने तथा 76 सीटें कांग्रेस ने जीतीं, सीटों की संख्या भाजपा के अब तक के इतिहास में सर्वाधिक है।

यदि 1993 के विधानसभा चुनाव का विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट है कि राजस्थान की राजनीति गठबंधन राजनीति से द्विदलीय व्यवस्था की ओर उन्मुख हो रही थी, इन चुनावों में प्रमुख प्रतिस्पर्धा कांग्रेस और भाजपा के मध्य थी। 1990 में भाजपा व जनता दल की मिली जुली सरकारें गठित हुई थी परन्तु 1993 के चुनावों में जनता दल को मात्र 6 सीटें प्राप्त हुई जबकि 1990 में 55 स्थान प्राप्त हुए थे, वोट प्रतिशत भी 21.63 से कम होकर 6.87 प्रतिशत ही रह गया था। अन्य छोटे दलों ने भी कोई राजनीतिक प्रभाव नहीं छोड़ा, इस प्रकार राजस्थान की राजनीति में द्विदलीय व्यवस्था स्थापित हुई।

कांग्रेस पार्टी 1990 व 1993 दोनों ही विधानसभा चुनावों में स्पष्ट बहुमत से काफी दूर रही, भाजपा के द्वारा चलाए राम मंदिर अभियान से सवर्ण जातियाँ भाजपा के पक्ष में हुई और कांग्रेस पार्टी को हानि हुई। कांग्रेस को उनके बागी उम्मीदवारों और भाई भतीजावाद के कारण भी भारी नुकसान उठाना पड़ा।

कांग्रेस पार्टी ने राजस्थान में प्रभावशाली नेतागणों के 17 रिश्तेदारों को 1993 के चुनाव में टिकट वितरित किए, उनके विरोध में लगभग 50 कांग्रेसी सदस्यों ने जिनमें कुछ पूर्व मंत्री एवं पूर्व विधायक थे, जिन्होनें कांग्रेस के अधिकृत प्रत्याशियों के विरूद्ध चुनाव लड़ा। अनेक बागी प्रत्याशी जीत गए और प्रभावशाली नेताओं के सम्बन्धी हार गए। तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री राजेश पायलेट की पत्नी रमा पायलेट, केन्द्रीय राज्यमंत्री अबरार

अहमद की पत्नी यास्मीन अबरार, पूर्व मुख्यमंत्री हरिदेव जोशी, पूर्व केन्द्रीय मंत्री बूटा सिंह के बेटे, लोकसभा के पूर्व अध्यक्ष बलराम जाखड़ के दो भतीजे, जाट नेता नाथूराम मिर्धा के भतीजे चुनाव हारने वालों में से थे। दो पूर्व मुख्यमंत्री हीरालाल देवपुरा तथा जगन्नाथ पहाड़िया भी पराजित हो गए थे।[15]

कांग्रेस के ही समान भारतीय जनता पार्टी को 1993 के चुनावों में बागी प्रत्याशियों से संघर्ष करना पड़ा, कुल 24 बागियों में 6 पूर्व विधायक थे, उनमें से 3 निर्वाचित भी हो गए। मुख्यमंत्री शेखावत ने दो चुनाव क्षेत्रों बाली तथा गंगानगर से चुनाव लड़ा था किन्तु वे गंगानगर विधानसभा क्षेत्र से चुनाव हार गए, झालावाड़ की तत्कालीन सांसद वसुन्धरा राजे ने धौलपुर (वहाँ की महारानी) से उम्मीदवार बनी परन्तु वे हार गयी। शेखावत मंत्रिमण्डल (1990) के अनेक सदस्य भी हार गए।

1993 के चुनावों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि कांग्रेस के लिए सुदृढ़ एवं सुरक्षित समझे जाने वाले उदयपुर, जोधपुर तथा बीकानेर संभाग में भाजपा ने पहले की अपेक्षा अधिक सीटें बढ़ाकर अपने प्रभाव में वृद्धि की तथा हाड़ौती क्षेत्र में अपना प्रभाव बनाये रखा, जयपुर में भाजपा कांग्रेस के समान ही रही। उदयपुर की 38 सीटों में से भाजपा ने दो स्थान में वृद्धि कर 22 स्थान प्राप्त किए, कांग्रेस के पास 12 ही स्थान रह गए जबकि इसी क्षेत्र के कारण मोहनलाल सुखाड़िया निरन्तर 17 वर्ष तक मुख्यमंत्री बने रहे। मारवाड़ (जोधपुर) की 42 सीटों में से भाजपा ने कांग्रेस से 2 अधिक 19 स्थान प्राप्त किए, जबकि 1990 की विधानसभा में उसके पास एक भी सीट नहीं थी, कांग्रेस को 17 सीटें प्राप्त हुई। इस संभाग से जनता दल का अस्तित्व समाप्त हो गया, शेखावाटी क्षेत्र में कांग्रेस को 34 तथा भाजपा को 33 स्थान प्राप्त हुए, जनतादल के पास पूर्व में 24 स्थान थे जो कि कम होकर केवल 2 ही रह गए। हाड़ौती क्षेत्र में भाजपा को 3 स्थान की हानि हुई और कांग्रेस को 3 का लाभ फिर भी भाजपा को कुल 12 व कांग्रेस को मात्र 5 स्थान प्राप्त हुए, इस संभाग में से भी जनता दल का अस्तित्व नष्ट हो गया।[16]

यद्यपि इन विधानसभा चुनावों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला था, कांग्रेस के पास स्पष्ट बहुमत के लिए 25 विधायकों की कमी थी परन्तु वह फिर भी सरकार निर्मित करने के लिए आशान्वित थी, क्योंकि केन्द्र में कांग्रेस की सरकार थी और राज्यपाल बलिराम भगत कांग्रेस के पूर्व नेता थे, यद्यपि यह ज्ञातव्य है कि राज्यपाल निष्पक्ष व्यक्ति होते हैं। 28 नवम्बर 1993 को परिणामों की घोषणा के पश्चात् भाजपा ने 29 नवम्बर को राष्ट्रीय अध्यक्ष अटल बिहारी वाजपेयी की उपस्थिति में भैरोसिंह शेखावत को सर्वसम्मति से विधायक दल का नेता चुन लिया एवं इसकी लिखित सूचना प्रदेशाध्यक्ष रामदास अग्रवाल ने

राज्यपाल को प्रेषित कर दी थी एवं अनुरोध किया कि विधानसभा में सर्वाधिक संख्या वाले दल के नेता शेखावत को सरकार गठन के लिए आमंत्रित किया जाए। शेखावत को भाजपा के निर्वाचित पद विधायकों व तीन निर्दलीय विधायकों का समर्थन प्राप्त था, उक्त निर्दलीय भाजपा के समर्थन से ही निर्वाचित हुए थे और चुनाव के पूर्व ही भाजपा के साथ रहने की घोषणा कर चुके थे, जो कि गंगाराम चौधरी (बाड़मेर), भगवानदास डोसी (चौहटन, बाडमेर), कुंवर अरूण सिंह (डीग, भरतपुर) थे। मतदान 199 स्थानों पर हुआ था क्योंकि धौलपुर जिले के राजाखेड़ा निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव प्रक्रिया प्रारम्भ होने के पश्चात् भाजपा के प्रत्याशी महेन्द्र सिंह की मृत्यु हो गई थी, अतएव स्पष्ट बहुमत के लिए 100 विधायकों की ही आवश्यकता थी। भाजपा 98 विधायकों के समर्थन का दावा प्रस्तुत कर चुकी थी 30 नवम्बर को रामदास अग्रवाल ने राज्यपाल को एक पत्र प्रेषित किया जिसके अनुसार 5 ओर निर्दलीय विधायकों ने भाजपा को समर्थन प्रदान किया था, इस प्रकार भाजपा समर्थक विधायकों की संख्या 103 हो गयी थी। उस समय तक कांग्रेस पार्टी विधायक दल के नेता का चुनाव भी नहीं कर पायी थी, अतः नेतृत्व की समस्या थी, चुनाव परिणाम के 3 दिन पश्चात् पूर्व मुख्यमंत्री हरिदेव जोशी को नेता घोषित किया जा सका। इस घटनाक्रम से राज्यपाल पर संदेह के समाचार जनता में जाने लगा, जयपुर में राजनीतिक अनिश्चितता बढ़ने लगी एवं ऊहापोह की स्थिति बन गयी। अन्ततः पाँच दिनों की अनिश्चितता की स्थिति के पश्चात् राज्यपाल बलिराम भगत ने 3 दिसम्बर 1993 को भैरोंसिंह शेखावत को सरकार निर्माण के लिए आमंत्रित किया एवं 4 दिसम्बर को उन्होंने मुख्यमंत्री पद की शपथ ली।

11 दिसम्बर, 1993 को शेखावत ने अपने मंत्रिमण्डल का निर्माण किया, जिसमें भंवरलाल शर्मा, ललित किशोर चतुर्वेदी, देवीसिंह भाटी, गुलाबचन्द कटारिया (भाजपा) सुजानसिंह यादव तथा गंगाराम चौधरी (निर्दलीय) केबीनेट मंत्री बने एवं नाथूसिंह गुर्जर, राजेन्द्र सिंह राठौड़, जसवन्तसिंह विश्नोई, श्रीकिशन सोनगरा, नन्दलाल मीणा, डॉ. रामप्रताप, अनंग कुमार जैन, मदन दिलावर, अचलाराम मेघवाल, प्रो. सांवरमल जाट (भाजपा) तथा रोहिताश्व कुमार, ज्ञानसिंह चौधरी, श्रीमती शशि दत्ता (निर्दलीय) राज्यमंत्री बने तथा गुरजन्तसिंह, मंगलाराम कोली (निर्दलीय) उप मंत्री बने।

22 दिसम्बर को भाजपा के ही अर्जुन सिंह देवड़ा को राज्यमंत्री नियुक्त किया, दो माह पश्चात् मंत्रिमण्डल का तृतीय समय विस्तार हुआ और 20 फरवरी, 1994 को कैलाश मेघवाल तथा रघुवीर सिंह कौशल को मंत्रीपद प्रदान किया। 6 अक्टूबर, 1994 को विधानसभा अध्यक्ष हरिशंकर भाभड़ा स्वेच्छा से मंत्रिमण्डल में सम्मिलित हो गए, उन्हें

उपमुख्यमंत्री का पद प्रदान किया। भाभड़ा के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए उपाध्यक्ष शांतिलाल चपलोत को सर्वसम्मति से 7 अप्रैल, 1995 को अध्यक्ष चुना गया, 4 मई, 1995 को समर्थन लाल मीणा को उपाध्यक्ष चुना गया।

सरकार उलटने का असफल प्रयास, यद्यपि शेखावत विशाल व्यक्तित्व से पूर्ण थे, परन्तु उनके विरूद्ध कुछ महत्वाकांक्षी विधायक षड़यंत्र कर रहे थे। अक्टूबर 1994 में हृदय की बीमारी के उपचार के लिए जब शेखावत अमरीका के क्लीवलैण्ड में गए तब उन्हें अपदस्थ करने के दो विफल प्रयत्न हुए। भाजपा विधायक दल में ब्राह्मण गुट बन गया था जो कि विधायक दल के नेता को परिवर्तित करना चाहते थे, इनमें प्रमुख थे, उपमुख्यमंत्री हरिशंकर भाभड़ा, वरिष्ठ मंत्री ललित किशोर चतुर्वेदी, वरिष्ठ विधायक घनश्याम तिवाड़ी, पूर्व मंत्री भंवरलाल शर्मा एवं तत्कालीन प्रदेशाध्यक्ष रामदास अग्रवाल भी थे। भाजपा विधायक दल दो गुटों में विभक्त हो गया था, उपरोक्त गुट के अतिरिक्त द्वितीय गुट भी था, जिसमें तत्कालीन निर्दलीय राज्यमंत्री शशि दत्ता एवं जाट विधायक डॉ. शंकर भाणोदा के नेतृत्व में 5–7 विधायकों ने शेखावत के विरूद्ध विद्रोह का प्रयास किया। इस प्रकार की जानकारी मिलने के पश्चात् शेखावत अगले कार्यक्रम को रद्द कर तुरन्त ही राजस्थान आ गए। अपार आत्मविश्वास से भरे हुए शेखावत ने हतोत्साहित भाजपा नेताओं को पुनः ऊर्जावान बनाया इससे शेखावत के विरूद्ध जाने वाले विधायक भी इनके साथ हो गए। विधायक शशि दत्ता के त्यागपत्र को स्वीकृत करने से एक अच्छा संदेश गया टूटने वाले विधायकों का षड़यंत्र असफल हो गया। विधानसभा में बहुमत स्थापित हो गया उपरोक्त प्रयास विफल रहे।

शेखावत के कार्यकाल में 73वाँ व 74वाँ संविधान संशोधन लागू हुआ, जिसमें पंचायतीराज संस्थाओं व नगरीय स्थानीय स्वशासन को नवीन दिशा प्राप्त हुई तथा इन संस्थाओं को संवैधानिक मान्यता प्राप्त हुई। 73वाँ संविधान संशोधन 1992, इस संशोधन द्वारा संविधान में एक नया भाग, भाग 9 और 16 अनुच्छेद एवं एवं एक नयी ग्यारहवीं अनुसूची जोड़ी गयी, इसके द्वारा पंचायतों के गठन, संरचना, निर्वाचन, सदस्यों की योग्यताएं, पंचायतों की शक्तियाँ उत्तरदायित्व एवं प्राधिकार आदि प्रावधान हैं। इस संशोधन द्वारा अनुच्छेद 243(घ) में अनुसूचित जातियों, जनजातियों व महिलाओं के लिए 1/3 स्थान आरक्षित किए गए हैं। 11वीं अनुसूची में 29 मदें हैं, भूमि सुधार, लघु सिंचाई, पशुपालन, मात्स्यिकी, शिक्षा, महिला और बाल विकास आदि।

74वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1 जून, 1993 को पारित हुआ। इस अधिनियम द्वारा एक भाग 9क और 18 अनुच्छेद तथा एक अनुसूची 12वीं जोड़ी गयी। इस संशोधन

अधिनियम द्वारा नगरों में नगरपालिकाओं के गठन, संरचना, निर्वाचन, सदस्यों की योग्यताएं, नगर पंचायतों की शक्तियां प्राधिकार एवं उत्तदायित्वों के विषय में उपबन्ध किए गए हैं, आरक्षण का प्रावधान 73वें संविधान संशोधन के समान है। 12वीं अनुसूची में 18 मदें है, नगर योजना, भूमि के उपयोग का विनियमन, मार्ग और पुल, जलप्रदाय, लोकस्वास्थ्य, अग्निशमन सेवाएं, नगर वानिकी आदि।

शेखावत के शासनकाल में उपरोक्त दोनों अधिनियमों को लागू कर लोकतन्त्र को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया गया, इसी के साथ शेखावत ने जनसंख्या नियंत्रण के दृष्टिकोण से जनप्रतिनिधियों के लिए दो संतान से अधिक वाले नागरिक को चुनाव लड़ने के अधिकार से वंचित करने का प्रावधान किया था। तत्कालीन प्रधानमंत्री पी.वी. नरसिम्हाराव ने उनके इस कार्य की अत्यन्त प्रशंसा की एवं देश के अन्य राज्यों को अपनाने की सलाह दी। मुख्यमंत्री ने साक्षरता की दर बढ़ाने के लिए अथक प्रयास किए इसके लिए लोक जुम्बिश, शिक्षा कर्मी एवं जन मंगल जैसी योजनाएं प्रारम्भ की, फलस्वरूप 1991 की राजस्थान की जनगणना में साक्षरता 38 प्रतिशत थी, जो 2001 से बढ़कर 61.5 प्रतिशत हो गयी। भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए सूचना के अधिकार को लागू करने का निर्णय लिया एवं उद्योगों, खानों सड़कों एवं पर्यटन के विकास के लिए नवीन नीतियाँ निर्धारित की। पंचवर्षीय योजनाओं के प्रावधानों में भी शेखावत ने स्वयं के प्रयत्नों द्वारा अभूतपूर्व वृद्धि करवायी। 8वीं पंचवर्षीय योजना (1992–1997), 11,500 करोड़ रूपये की थी जबकि 9वीं पंचवर्षीय योजना (1997–2002) में ढ़ाई गुना वृद्धि करके 27,650 करोड़ रूपये की योजना आयोग से स्वीकृत करवायी।

उपरोक्त उपलब्धियों के पश्चात् भी 1998 के चुनावों में भाजपा की पराजय के अनेक कारण थे, उदाहरणार्थ – महँगाई में वृद्धि करना, कार्यकर्ताओं की उपेक्षा हुई, राजकीय पदों पर नियुक्ति नहीं हुई, इससे कार्यकर्ताओं में अपेक्षित उत्साह का अभाव रहा, मुख्यमंत्री की पारदर्शिता पर किसी को संदेह नहीं था परन्तु अनेक मंत्रीगण भ्रष्टाचार में लिप्त थे और उनके विरूद्ध कार्यवाही का अभाव रहा, पार्टी में दो गुट थे, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का गुट शेखावत से प्रसन्न नहीं था, इस गुट ने चुनाव में विजय प्राप्त करवाने के लिए आवश्यक परिश्रम नहीं किया वरन् अनेक स्थानों पर तो दल के अधिकृत उम्मीदवारों को हटाने का प्रयत्न भी किया, फलस्वरूप सरकार के विकास कार्य चुनाव जीतने में सहायक नहीं हो सकें।

भैरोसिंह शेखावत –

राजनीतिक स्थिति, 1952 से 1972 तक राजस्थान विधानसभा में विधायक रहे, 1974–1977 तक मध्यप्रदेश से राज्यसभा के सदस्य, 1977 से 2000 तक राजस्थान विधानसभा के सदस्य, 22 जून, 1977 से 16 फरवरी 1980 तक राजस्थान के मुख्यमंत्री, 1980 से 1990 तक विपक्ष के नेता, 4 मार्च, 1990 से 15 दिसम्बर, 1992 तक राजस्थान के मुख्यमंत्री (द्वितीय पारी), 4 दिसम्बर, 1998 से 29 नवम्बर 1998 तक राजस्थान के मुख्यमंत्री (तृतीय पारी), दिसम्बर 1998 से अगस्त 2002 विपक्ष के नेता, 19 अगस्त 2002 से 2007 तक भारत के उपराष्ट्रपति एवं राज्यसभा के सभापति रहे।

ग्यारहवीं विधानसभा का चुनाव तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष अशोक गहलोत के नेतृत्व में लड़ा गया तथा वे मुख्यमंत्री बने। 200 सदस्यों की विधानसभा में प्रथम समय कांग्रेस के 153 विधायक निर्वाचित हुए जो कि अब तक के इतिहास का कीर्तिमान था, जबकि इससे पूर्व की विधानसभा में भारतीय जनता पार्टी के 112 सदस्य निर्वाचित हुए थे, परन्तु ग्यारहवीं विधानसभा के 25 नवम्बर, 1998 को सम्पन्न चुनावों में भाजपा के मात्र 33 विधायक ही निर्वाचित हुए। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के एक, जनता दल के तीन, बहुजन समाज पार्टी के प्रथम समय दो, राष्ट्रीय जनता दल के एक एवं सात निर्दलीय निर्वाचित हुए। 1952 के बाद 1998 में सर्वाधिक मतदान 63.49 प्रतिशत हुआ।

अशोक गहलोत ने औपचारिक रूप से कांग्रेस विधायक दल का नेता निर्वाचित होने के पश्चात् 1 दिसम्बर, 1998 को मुख्यमंत्री पद की शपथ ग्रहण की, मंत्रिमण्डल में मुख्यमंत्री सहित बीस मंत्री तथा तेरह राज्यमंत्री थे। केबिनेट मंत्री, श्रीमती कमला किशन मोटवानी, खेतसिंह राठौड़, गुलाबसिंह शक्तावत, गोविन्द सिंह गुर्जर, चन्दनमल बैद, डॉ. चन्द्रभान, छोगाराम बाकोलिया, श्रीमती जकिया, तैय्यब हुसैन चौधरी, प्रद्युम्न सिंह, बनवारी बैरवा, डॉ. बुलाकीदास कल्ला, भीखा भाई, रामकिशन वर्मा, रामसिंह विश्नोई, शांति धारीवाल, डॉ. सी. पी. जोशी व हरेन्द्र मिर्धा, राज्यमंत्री, श्रीमती इन्दिरा मायाराम, चन्द्रशेखर, अब्दुल अजीज, डॉ. जितेन्द्रसिंह, दीपेन्द्र सिंह शेखावत, दयाराम परमार, परसादीलाल मीणा, श्रीमति बीनाकाक, भंवरलाल मेघवाल, भगराज चौधरी, हीरालाल इन्दौरा, राजेन्द्र चौधरी, हरिसिंह।

गहलोत मंत्रिमण्डल की मुख्य विशेषता इस प्रकार है – मुख्यमंत्री ने प्रारम्भ के कुछ महीनों में मंत्रियों के त्यागपत्र तथा अन्य कारणों से विभाग के पुनर्वितरण मे ंदेरी होने पर कुछ मंत्रालय अपने अधीन रख लिए अन्यथा नैतिक आधार पर एक भी विभाग मुख्यमंत्री ने अपने पास नहीं रखा केवल पर्यवेक्षण किया, मंत्रिमण्डल के निर्माण में समाज के सभी वर्गों व क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा गया।

मंत्रिमण्डल में द्वितीय विस्तार 13 मई, 2002 को किया गया, इस दौरान गुजरात में दंगे हुए थे, गोधरा रेल अग्निकाण्ड की राजस्थान में तीखी प्रतिक्रिया हुई, अयोध्या से लौट रहे हिन्दु कारसेवकों को रेल के एक डिब्बे में जला देने से राजस्थान में रोष फैल गया, यद्यपि स्थिति नियंत्रण में रही। गहलोत ने हिन्दू वर्ग को संतुष्ट करने के लिए मंत्रिमण्डल में विस्तार किया, उस दौरान सम्मिलित किए गए मंत्रियों के नाम इस प्रकार है – केबिनेट मंत्री, जनार्दन सिंह गहलोत, माधवसिंह दीवान, रामनारायण चौधरी, राज्यमंत्री से केबीनेट मंत्री हीरालाल इन्दौरा तथा परसादीलाल मीणा को बनाया गया। राज्यमंत्री, के.सी. विश्नोई, परसराम मोरदिया, तकीउद्दीन अहमद, रघुवीर सिंह, रतनलाल ताम्बी, रामगोपाल बैरवा, राधेश्याम गंगानगर, रामस्वरूप मीणा, शैलेन्द्र जोशी, हबीबुर्रहमान, हेमाराम चौधरी, संसदीय सचिव, श्रीमती ममता शर्मा व श्रीमती विजयलक्ष्मी विश्नोई।

राज्य के विकास के लिए गहलोत सरकार द्वारा लिए महत्वपूर्ण निर्णय, गहलोत सरकार ने राज्य के विकास के लिए 'आधारभूत ढ़ाँचा' मजबूत करने की दृष्टि से ऊर्जा में वृद्धि के लिए राजस्थान राज्य विद्युत मण्डल को भंग कर पांच कम्पनियों को निर्मित करने का कानून पारित कर लागू किया। ऊर्जा क्षेत्र में इस प्रकार का सुधार विश्व बैंक की परियोजना के अनुकूल किया गया था, जिसका उद्देश्य विद्युत को सार्वजनिक क्षेत्र से बाहर निकाल कर निजी क्षेत्र को अधिकृत करना था जिससे उत्पादन में वृद्धि हो और सभी क्षेत्रों में निर्बाध रूप से बिजली आपूर्ति हो सके। प्रशासनिक सुधार आयोग को प्रदान की गयी सूचना के आधार पर राजस्थान राज्य विद्युत मण्डल को प्रारम्भ में एक सौ करोड़ रूपये का घाटा होता था यह बढ़कर 1750 करोड़ रूपये वार्षिक का हो गया। यद्यपि प्रशासनिक सुधार आयोग ने मण्डल भंग करने तथा विद्युत उत्पादन में वृद्धि का कार्य ही निजी क्षेत्र को सौंपने की सिफारिश अपने प्रतिवेदन में की थी।[17]

किन्तु राज्य सरकार ने प्रतिवेदन आने से पूर्व ही मण्डल को निरस्त कर कम्पनियाँ निर्मित करना उचित समझा।

विद्युत उत्पादन में वृद्धि गहलोत सरकार की प्रमुख उपलब्धि कही जा सकती है। 1998 तक राजस्थान को लगभग सभी स्त्रोतों से 3356 मेगावाट विद्युत प्राप्त हो रही थी। जिसमें 2003 तक 1200 मेगावाट की वृद्धि सुनिश्चित की गयी। 95 प्रतिशत गाँवों का विद्युतीकरण किया गया। परन्तु ग्रामीण जनजीवन विद्युत की अनियमित आपूर्ति से रूष्ट था।

गहलोत शासन के इन 5 वर्षों में बहुत अधिक राजनीतिक उतार–चढ़ाव दृष्टिगोचर नहीं होते वरन् अकाल के पश्चात् भी विकाल का सुप्रबन्धन जारी रहा तथा अनेक उपलब्धियां प्राप्त हुई।

आधारभूत कार्य, शहरों में बढ़ती हुई जनसंख्या एवं शहरों के विस्तार और अतिक्रमण के कारण यातायात की समस्या गम्भीर होती जा रही थी, उसके समाधान हेतु गहलोत सरकार ने एक अभियान प्रारम्भ किया जिसे जयपुर में 'ऑपरेशन पिंक' कहा गया। नगरों के आधुनिकीकरण एवं समयानुरूप परिवर्तन को दृष्टि में रखते हुए शेखावत सरकार ने छह नगरों के लिए 625 करोड़ रूपये की योजना तैयार की, जिसमें एशियन बैंक से राशि प्राप्त होनी थी, परन्तु योजना स्वीकृत नहीं हो पायी, गहलोत सरकार ने इसका नवीनीकरण व विस्तारीकरण किया एवं 1530 करोड़ रूपये की आर्थिक सहायता राज्य के छह विशाल नगरों, जयपुर, अजमेर, उदयपुर, बीकानेर, जोधपुर एवं कोटा के लिए एशियन विकास बैंक से प्राप्त किए, इस महत्वपूर्ण परियोजना के अन्तर्गत पेयजल व्यवस्था सुचारू करने अपवाह प्रणाली, विकास, सड़कों व पार्किंग का प्रबन्धन, कच्ची बस्ती परियोजना के अगले चरण में राज्य के अन्य दस शहरों को भी सम्मिलित किया गया। ऐतिहासिक नगरों की विरासत को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से, उनका जीर्णोद्धार कर पर्यटन विकास को बढ़ावा दिया एवं दर्शनीय बनाया गया, इसके अन्तर्गत विश्व विरासत नगर योजना के अन्तर्गत जयपुर के लिए एक विज्ञप्ति यूनेस्कों को प्रस्तुत की गयी। सड़कों के विस्तारीकरण का कार्य विस्तृत रूप से किया गया। दसवीं पंचवर्षीय योजना में नवीं से दोगुनी धनराशि का प्रावधान किया गया, नवीं योजना में यह राशि 4.8 प्रतिशत थी जिसे दसवीं में 8 प्रतिशत कर दिया गया, कांग्रेस सरकार ने दिसम्बर, 1998 से जनवरी 2003 तक 2 हजार 93 करोड़ रूपये खर्च किए, जून 2002 तक 6805 किलोमीटर लम्बी सड़कों का निर्माण किया गया, इससे 4887 ग्रामीण क्षेत्रों को जोड़ा गया, इसी कालखण्ड में 19337 किलोमीटर सड़कों का नवीनीकरण एवं सुदृढ़ीकरण किया गया। अकाल राहत कार्यो के अन्तर्गत 32000 किलोमीटर ग्रेवल सड़कों का निर्माण किया गया, प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना के अन्तर्गत एक हजार से अधिक की जनसंख्या वाले 417 ग्रामों को जोड़ा गया, इस योजना के अन्तर्गत वर्ष 2001–2002 में देश में निर्मित सड़कों में से 69 प्रतिशत का निर्माण राजस्थान में हुआ था। गहलोत सरकार ने 2002 में राजस्थान सड़क अधिनियम 2002 बनाकर लागू किया। निजी निवेशक आकर्षित हुए एवं 143 करोड़ का निवेश करके 18 परियोजनाओं को सम्पूर्ण किया था। आधारभूत ढ़ाँचा सुदृढ़ करने की दृष्टि से सड़क को ऊर्जा के पश्चात् द्वितीय प्राथमिकता प्रदान की गयी।

राजस्थान में अकाल, सन् 2002–03 का अकाल विगत एक सौ वर्षों में सबसे अधिक भीषणतम था, जिसमें अनावृष्टि के कारण राज्य के सभी 32 जिलों की 3/4 से अधिक 4.48 करोड़ जनसंख्या तथा 4.52 करोड़ पशुधन प्रभावित हुआ था, भूमिगत जल 3.2 मीटर से 5.5 मीटर तक सूख गया था, जल स्त्रोतों में संग्रहित जल अपनी क्षमता से नीचे 32 प्रतिश्त रह गया था, इस अकाल के कारण कृषि और पशुपालन पर निर्भर रहने वाले लगभग 1 करोड़ परिवार प्रभावित हुए थे, उनमें से 54 लाख भूमिहीन खेतीहर श्रमिक थे जो लघु एवं सीमान्त श्रेणी के कृषक थे एवं गरीबी रेखा से नीचे को दृष्टिगत रखकर 16 अगस्त, 2002 से ही राहत कार्य प्रारम्भ कर दिए थे और केन्द्र सरकार से अकाल पीड़ित लोगों की रोजगार, पशुधन की रक्षा, असहायों को आर्थिक सहायता, पेयजल, दवाईयों अन्य प्रकार की राजकीय सहायता के लिए 7515.76 करोड़ रूपये की सहायता राशि उपलब्ध कराने का ज्ञापन प्रस्तुत किया।

इस शताब्दीं के भीषण अकाल की कुशल व्यवस्था के कारण समाचार पत्र 'इण्डिया टुडे' ने अपने सर्वेक्षण में अशोक गहलोत को 'नम्बर वन' मुख्यमंत्री घोषित किया।

प्रशासनिक सुधार, प्रशासन की कुशलता में वृद्धि के लिए पूर्व मुख्यमंत्री शिवचरण माथुर की अध्यक्षता में प्रशासनिक सुधार आयोग का गठन किया था, जिसने 3 वर्षों में सरकार को कुल ग्यारह प्रतिवेदन प्रस्तुत किए जो इस प्रकार है – राजस्व प्रशासन, रजिस्ट्रेशन एवं स्टाम्प्स, नगरी सम्पत्ति पर कर, गृहकर, भू एवं भवन कर, शहरी जमाबन्दी का निर्धारण, राजकर्मियों का स्थानान्तरण, जन अभाव अभियोगों का निराकरण, विद्युत क्षेत्र में सुधार, पंचायतीराज, पुलिस, राजकीय वाहनों के खर्च में मितव्ययता, आदर्श स्थानान्तरण नीति, पेट्रोल, गैस तथा लिग्नाइट के सम्बन्ध में थे।

साधारण जन के सरकारी कार्यालयों में वर्षों से अटके मामलों को सुलझाने जैसे नागरिकता प्रमाण–पत्र का निर्माण, राशनकार्ड, अन्य प्रमाण पत्र लेना या दस्तावेजों की प्रतियां लेना आदि के लिए प्रशासन गाँवों की ओर एवं प्रशासन शहरों की ओर के शिविर लगाए गए, हर तहसील तथा नगरों में इस प्रकार के शिविरों द्वारा आम जनता के लगभग 70 लाख मामले निर्णीत किए गए थे।

सूचना का अधिकार, भ्रष्टाचार की समाप्ति के लिए भैरोसिंह सरकार के समय देश की संघर्षशील सामाजिक कार्यकर्ता अरूणाराय के नेतृत्व में सूचना का अधिकार अभियान प्रारम्भ किया था। गहलोत सरकार ने इस अधिकार को मान्यता प्रदान कर सन् 2000 में 'राजस्थान सूचना अधिकार अधिनियम' विधानसभा से पारित कराया था, संसद ने भी सन् 2005 में सम्पूर्ण भारत वर्ष के लिए इस प्रकार का अधिनियम लागू किया है।

तकनीकी एवं उच्च शिक्षा का विस्तार, गहलोत शासन काल में साक्षरता एवं उच्च शिक्षा की सुविधाओं में वृद्धि हुई। राजस्थान में 1998–99 तक इंजिनियरिंग की 8 शैक्षणिक संस्थाएं थीं, जिनमें 1606 विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर सकते थे, गहलोत सरकार ने उनमें वृद्धि करके 2002–03 तक 30 कर दी एवं 7684 स्थानों की सुविधा प्रदान की गयी, एम.बी. ए. की दस संस्थाओं में वृद्धि कर बीस कर दिया गया एवं सीटों की संख्या 481 के स्थान पर 1078 कर दी गयी, एम.सी.ए. के 5 के स्थान पर 15 शैक्षिक संस्थान तथा सीटों की संख्या 270 से बढ़ाकर 890 कर दी गयी, फार्मेसी की शैक्षिक संस्थाओं में वृद्धि कर 10 से 13 कर दिया एवं सीटें 700 से 960 की गयी, पॉलीटेक्निक की सीटें 2150 से 2450 की गयी। आई.टी.आई. की 138 संस्थाओं में वृद्धि कर 153 कर दिया गया एवं सीटें 12156 से 13184 की गयीं। इस प्रकार से 13 मेडिकल कॉलेज, 20 डेन्टल, 6 नर्सिंग कॉलेज, 20 नर्सिंग स्कूल खोलने के लिए अनापत्ति प्रमाण पत्र जारी किए गए।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में ऐतिहासिक कार्य हुए, 2001–02 में जोधपुर में विधि विश्वविद्यालय, 2002–03 में कोटा एवं बीकानेर में बहुसंकाय विश्वविद्यालय, जोधपुर में आयुर्वेद विश्वविद्यालय तथा उदयपुर में कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किए गए।

विभिन्न आयोगों की स्थापना, प्रथम महिला आयोग के लिए सन् 1999 मे कानून निर्मित किया गया, 2001 में राजस्थान राज्य अल्पसंख्यक आयोग अधिनियम का निर्माण किया, इसी प्रकार से अनुसूचित जाति, जनजाति एवं अन्य पिछड़ी जाति आयोगों को वैधानिक स्वरूप प्रदान किया गया।

इन पाँच वर्षों में कांग्रेस सरकार का विकास का लक्ष्य सुस्पष्ट था, गहलोत सरकार ने आधारभूत ढ़ाँचा सुदृढ़ करने पर बल दिया, इसके लिए 7 क्षेत्र निश्चित किए थे, प्रथम बिजली, द्वितीय सड़क, तृतीय नगरीय विकास, चतुर्थ जल, पंचम आई.टी. एवं टेलीकॉम, षष्ठ शिक्षा तथा सप्तम् स्वास्थ्य। समाज के निर्बल वर्ग की स्थिति में सुधार भी प्रमुख ध्येय था, गरीबी रेखा से नीचे जीवन यापन करने वाले 23 लाख परिवारों को मेडिकल रिलीफ कार्ड वितरित किए, गम्भीर रोगों के ईलाज के लिए मुख्यमंत्री जीवन रक्षा कोष की स्थापना की गयी। 5000 के राष्ट्रीय औसत से भी नीचे 4344 की जनसंख्या पर एक स्वास्थ्य उपकेन्द्र स्थापित किया गया, सरकारी नौकरियों में महिलाओं का आरक्षण 20 से बढ़ाकर 30 प्रतिशत तथा विकलांगों के लिए 3 प्रतिशत रोजगार देने का आदेश जारी किया गया। उच्चतम न्यायालय के आदेशानुसार 60 हजार विद्यालयों के 70 लाख छात्रों को 'मिड डे मील' दिया जाने लगा, आई.सी.डी.एस. कार्यक्रम के अन्तर्गत 30 लाख बालकों को पौष्टिक पदार्थ दिए जाने के आदेश हुए।

उपरोक्त उपलब्धियों के पश्चात् भी बारहवीं विधानसभा के लिए 2003 में सम्पन्न चुनाव में सत्तारूढ़ कांग्रेस दल को पराजय का सामना करना पड़ा, इसका विश्लेषण करने पर निम्न कारण उजागर होते हैं –

गहलोत सरकार के समक्ष कर्मचारियों ने अनेक मांगे प्रस्तुत की, जैसे– गहलोत सरकार ने अनेक वर्षों से मिल रहे बोनस, एल.टी. प्रिवीलेज्ड लीव आदि का नकद भुगतान समाप्त कर दिया था, उन्हें पुनः प्रारम्भ करने, वेतन–भत्ते मे वृद्धि की मांग आदि को लेकर कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी, परन्तु सरकार ने इन्हें नहीं माना, सेवानिवृत्ति की आयु 60 से हटाकर 58 कर दी गयी, उपरोक्त कारणों से समस्त कर्मचारी वर्ग रूष्ट हो गया एवं सरकार से प्रतिशोध लेने का निर्णय लिया, इसकी घोषणा कर्मचारी नेताओं ने मतदान से पूर्व प्रेस–कांफ्रेंस करके की थी।

द्वितीय महत्वपूर्ण कारण अति आत्मविशवास एवं आन्तरिक फूट रहा। मुख्यमंत्री गहलोत से व्यक्तिशः किसी को कोई शिकायत नहीं थी, वरन् उनके कार्य करने की क्षमता, सादगी, सुशासन, सद्व्यवहार, अकाल का प्रबन्धन, शहरों का सौन्दर्यीकरण तथा इण्डिया टुडे द्वारा देश का नम्बर वन मुख्यमंत्री घोषित किए जाने से जनता बहुत प्रभावित थी। इसी कारण कांग्रेस कार्यकर्ता अति विश्वस्त थे कि वे चुनाव निश्चित रूप से जीतेंगे, दूसरी ओर अनेक कार्यकर्ता निवर्तमान विधायकों से रूष्ट थे, परिणामस्वरूप अनेक बागी सामने आए, भीतरघात हुआ एवं इन्हीं कारणों से कांग्रेस के दौ सो में से 144 प्रत्याशियों को हार का सामना करना पड़ा।

तृतीय कारण शिक्षित बेरोजगारी की बढ़ती हुई समस्या थी, उद्योगपतियों का आरोप था कि गहलोत सरकार के समय साठ हजार छोटे कारखाने बन्द हो गये थे, इससे हजारों लोग जो इन कारखानों में कार्यरत थे बेरोजगार हो गए, सरकार ने खराब वित्तीय स्थिति, भीषण अकाल तथा राज्य कर्मचारियों की संख्या में कटौती करने की दृष्टि से स्वीकृत पदों पर भी नवीन नियुक्तियाँ नहीं हो सकी, जिससे शिक्षित बेरोजगार युवा वर्ग में सरकार के विरूद्ध जबरदस्त आक्रोश था।

चतुर्थ कारण वसुन्धरा राजे सिन्धिया द्वारा चुनाव से पूर्व सौ दिनों की सम्पूर्ण राजस्थान में परिवर्तन यात्रा करना रहा, उन्होंने अनेक सभाएं की आमजनता की समस्याओं को सुलझाने का ठोस आश्वासन दिया, लाखों महिलाओं से प्रत्यक्ष मिली। परिणामस्वरूप महिला मतदान में 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

उपरोक्त कारणों के कारण कांग्रेस पार्टी को 2003 के विधानसभा चुनावों में पराजय का सामना करना पड़ा, दोनों उपमुख्यमंत्री श्रीमती कमला और बनवारी लाल बैरवा, गृहमंत्री

गुलाब सिंह शक्तावत, सार्वजनिक निर्माण मंत्री हरेन्द्र मिर्धा, पर्यटन मंत्री शान्ति धारीवाल, संसदीय मंत्री खेतसिंह राठौड़, अन्य मंत्री छोगाराम बाकोलिया, हीरालाल इन्दौरा, तैय्यब हुसैन, राजेन्द्र चौधरी, रतनलाल ताम्बी, माधव सिंह दीवान, बीनाकाक, दयाराम परमार, जनार्दन सिंह गहलोत, डॉ. चन्द्रभान, मास्टर भंवरलाल, दीपेन्द्र सिंह शेखावत, परसादीलाल मीणा, रामस्वरूप मीणा, शैलेन्द्र जोशी, रामगोपाल बैरवा, रामकिशन वर्मा, के.सी. विश्नोई, विधानसभा के उपाध्यक्ष देवेन्द्र सिंह तथा दोनों सचेतक भी चुनाव में पराजित हो गये, वयोवृद्ध नेता एवं पूर्व मुख्यमंत्री हीरालाल देवपुरा भी हार गए।

मुख्यमंत्री सहित केवल आठ मंत्री चुनाव में विजयी हुए, वित्तमंत्री प्रद्युम्न सिंह, ऊर्जा मंत्री रामनारायण चौधरी, पंचायतीराज मंत्री गोविन्द सिंह गुर्जर, कृषि मंत्री रामसिंह विश्नोई, जनस्वास्थ्य अभियांत्रिकी मंत्री डॉ. सी.पी.जोशी, शिक्षा मंत्री बी.डी.कल्ला एवं राज्य मंत्री रघुवीर सिंह मीणा।

2003 के विधानसभा चुनाव में कांग्रेस को 35.64 प्रतिशत मत प्राप्त हुए जबकि 1998 के चुनाव में 44.95 प्रतिशत मत प्राप्त हुए थे। अनुसूचित जाति एवं जनजाति क्षेत्रों में प्रायः कांग्रेस का ही वर्चस्व रहता है, परन्तु जब–जब भी इन क्षेत्रों में कांग्रेस की पराजय हुई राजस्थान में गैर कांग्रेसी दलों की सरकार बनी उदाहरण स्वरूप 1977, 1990, 1993, 2003। बारहवीं विधानसभा 2003 में कांग्रेस अनुसूचित जाति के 35 क्षेत्रों में से मात्र 5 तथा जनजाति के 24 में से 5 क्षेत्रों में ही विजय प्राप्त कर सकी, जबकि भारतीय जनता पार्टी में अनुसूचित जाति के 26 तथा जनजाति के 18 विधायक विजयी रहे। दिसम्बर 2003 के 12वीं विधानसभा के चुनाव भाजपा के पक्ष में रहे, भाजपा की इन चुनावों में 39.34 प्रतिशत मत प्राप्त हुए जबकि 1998 में 33.28 प्रतिशत मत प्राप्त हुए थे, 6.11 मतों की वृद्धि हुई एवं कांग्रेस से मात्र 3.70 प्रतिशत ही अधिक थे। महिला मतदाताओं में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, इस समय 61 प्रतिशत महिलाओं ने मतदान किया जबकि 1998 में यह 57 प्रतिशत था, 4 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

पूर्व मुख्यमंत्री भैरासिंह शेखावत 19 अगस्त, 2002 को उपराष्ट्रपति नियुक्त किए गए। भाजपा के तत्कालीन प्रदेशाध्यक्ष एम. वैकय्या नायडू ने जयपुर में 12 सितम्बर 2002 को जिला अध्यक्षों एवं महामंत्रियों की सभा में वसुन्धरा राजे सिन्धिया को प्रदेशाध्यक्ष मनोनीत किया गया इससे पूर्व उपमुख्यमंत्री हरिशंकर भाभड़ा, तत्कालीन राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष रामदास अग्रवाल, तत्कालीन प्रदेशाध्यक्ष ललित किशोर चतुर्वेदी एवं शिक्षा मंत्री घनश्याम तिवाड़ी जैसे बड़े नेता निराश हुए। भाजपा नेताओं की आन्तरिक गुटबन्दी के कारण कार्यकारिणी के निर्माण में वसुन्धरा राजे को सात माह का समय लगा।

जयपुर में 23 नवम्बर, 2002 को सम्पन्न किसान रैली में तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री साहिब सिंह वर्मा ने वसुन्धरा को भावी मुख्यमंत्री के रूप में प्रस्तुत किया, इस घोषणा से सभी वरिष्ठ नेता क्रुद्ध हो गए, हरिशंकर भाभड़ा, भैरोसिंह मंत्रिमण्डल में उपमुख्यमंत्री होने से अपना पक्ष सुदृढ़ समझते थे, रामदास अग्रवाल राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष होने के कारण, ललित किशोर चतुर्वेदी शेखावत काल में भी अपनी दावेदारी प्रस्तुत कर चुके थे, गुलाबचन्द कटारिया शेखावत के पश्चात् विधानसभा में प्रतिपक्ष के नेता थे। हरिशंकर भाभड़ा ने समाचार पत्र के समक्ष रोषभरी प्रतिक्रिया व्यक्त की, इससे भाजपा के एकता के प्रयासों में व्यवधान उपस्थित हुआ, परन्तु साहिब सिंह वर्मा की उपरोक्त घोषणा का राष्ट्रीय मुख्यालय से खण्डन नहीं किया गया, भाभड़ा तो 2003 विधानसभा का चुनाव भी हार गए।

15 दिसम्बर 2002 को हुए तीन क्षेत्रों बानसूर, बाली एवं सागवाड़ा के उपचुनाव में भाजपा को विजय प्राप्त हुई, जिससे पार्टी कार्यकर्ताओं में उत्साह का संचार हुआ। एक वर्ष पश्चात् होने वाले विधानसभा चुनावों का उत्तरदायित्व भाजपा के अत्यन्त कुशल एवं चुनाव विशेषज्ञ प्रमोद महाजन को सौंपा गया। 'परिवर्तन किया जाय' प्रमुख मुद्दा बनाया गया, इसके लिए वसुन्धरा की सौ दिनों की राजस्थान यात्रा का कार्यक्रम तैयार किया गया, इसका प्रारम्भ 27 अप्रैल, 2003 को राजसमन्द जिले में स्थित चारभुजाजी के मन्दिर से किया गया। परिवर्तन यात्रा के दौरान राजस्थान के प्रभारी प्रमोद महाजन ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा उसके आनुषंगिक संगठनों का विधानसभा चुनावों में भाजपा के लिए सक्रिय रूप से सहयोग प्राप्त करने के लिए जयपुर में बैठक आयोजित की तथा बैठक के पश्चात् महाजन ने सूचना दी कि संघ परिवार इस चुनाव में अपनी पूर्ण शक्ति भाजपा की जीत के लिए लगा देंगे।

19 अक्टूबर, 2003 को जयपुर में मुस्लिम महिलाओं को जोड़ने के लिए मुस्लिम महिला सम्मेलन का आयोजन किया वसुन्धरा ने जातीय आधार पर भी समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया, जयपुर के निकट एक ग्राम में यादव महासभा का कार्यक्रम रखा गया, जिसमें यादव जाति ने वसुन्धरा राजे को बहिन घोषित किया।

राज्य कर्मचारियों को दीपावली पर्व पर बोनस, एवं अन्य माँगें जैसे समर्पित अवकाश का दो वर्षो में भुगतान, अल्पवेतन भोगी कर्मचारियों को प्रतिवर्ष अनाज क्रय करने के उद्देश्य से अग्रिम राशि प्रदान करने की घोषणा की और भाजपा शासन में इन्हें प्रदान भी किया गया।

जाटों को प्रसन्न करने के लिए कृषकों को 325 करोड़ रूपये की सहायता, पाँच अरब का किसान कल्याण कोष, 250 करोड़ का आपदा सहायता कोष, फसल बीमा के लिए

75 करोड़ तथा अधिकृत भण्डार गृहों में फसल जमा करने पर उसकी कीमत का 75 प्रतिशत भुगतान का वचन दिया।

अकाल राहत कार्य के लिए 250 करोड़ का कोष, ट्रेड फेयर ऑथोरिटी का निर्माण, 250 करोड़ रूपये का आधारभूत ढाँचा विकास कोष आदि के अनेक आश्वासन जनसाधारण को प्रदान किए।

वसुन्धरा राजे के 1 वर्ष के कठोर प्रयासों का परिणाम 1 दिसम्बर 2003 को हुए 12वीं विधानसभा के चुनाव में भाजपा की विजय के रूप में परिलक्षित हुआ 120 सीटों पर विजय प्राप्त की और कांग्रेस 153 से घटकर मात्र 56 सीटें ही प्राप्त हो सकी।

स्थानीय निकाय चुनाव, भारतीय जनात पार्टी के शासन काल में दो चरणों में शहरी स्थानीय निकाय एवं एक चरण में पंचायतीराज संस्थाओं के चुनाव सम्पन्न हुए, जिनमें भाजपा का वर्चस्व रहा। नवम्बर 2004 में 45 स्थानीय निकाय चुनाव, जिनमें 33 में से भाजपा तथा 11 में कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए जबकि कांग्रेस शासनकाल के दौरान 25 स्थानों पर कांग्रेस व 17 स्थानों पर भाजपा थी। जयपुर व कोटा के नगर निगमों में भाजपा के महापौर जबकि जोधपुर में कांग्रेस के महापौर चुने गए, नौ नगरपरिषदों में 6 में भाजपा व 3 में कांग्रेस का आधिपत्य रहा।

अगस्त 2005 में सम्पन्न हुए स्थानीय निकाय चुनावों में पुनः भाजपा का वर्चस्व रहा। भाजपा को 126 स्थानीय निकायों में से केवल 41 में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ था। परन्तु निर्दलीयों के समर्थन से 81 में भाजपा के अध्यक्ष चुने गए जबकि कांग्रेस केवल 33 पर ही वर्चस्व स्थापित कर पायी। यदि तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखा जाए जब कांग्रेस सरकार के समय 2000 में चुनाव हुए तब भाजपा को 49 और कांग्रेस को 59 स्थान प्राप्त हुए।

उपरोक्त दोनों स्थानीय निकाय चुनावों में 183 में से भाजपा को 114 तथा कांग्रेस को 44, 12 स्थान निर्दलीयों को तथा एक स्थान पर स्थानीय संगठन को विजय प्राप्त हुई, जबकि सन् 2000 में भाजपा को 66 तथा कांग्रेस को 84 निर्दलीय को 18 व 3 में स्थानीय मंचों को नगरपालिकाओं में विजय प्राप्त हुई।

फरवरी 2005 में पंचायतीराज संस्थाओं के चुनाव सम्पन्न हुए, राजस्थान में पंचायतीराज की त्रिस्तरीय व्यवस्था, 237 पंचायत समितियों के चुनावों में भाजपा के 109, कांग्रेस के 71, निर्दलीय 13 व अन्य 44 प्रधान एवं उपप्रधान निर्वाचित हुए। इसी प्रकार 32 जिला प्रमुखों के पदों पर भाजपा के 13, कांग्रेस के 16 व 3 निर्दलीय उम्मीदवार चुने गए।

इस प्रकार स्पष्ट है वर्ष 2004 व 2005 में सम्पन्न चुनावों में भाजपा ने अपना वर्चस्व स्थापित किया।

भाजपा को शासन को दो वर्ष तक कोई बहुत बड़े राजनीतिक विरोध का सामना नहीं करना पड़ा, परन्तु जन असंतोष, उनकी समस्याओं एवं सरकार की कार्यशैली के कारण आलोचनाओं का सामना अवश्य करना पड़ा। इंदिरा गांधी नहर परियोजना द्वारा सिंचित हनुमानगढ़ एवं गंगानगर जिलों में सितम्बर 2004 से पानी को लेकर आन्दोलन हुआ आन्दोलन के प्रथम चरण में अनूपगढ़, घड़साना तथा रावला प्रमुख केन्द्र थे, सरकार ने आन्दोलन को शक्ति के द्वारा दबाने का प्रयास किया, उसमें पुलिस ने गोली चलायी, छह व्यक्ति मारे गए, एवं सैंकड़ो व्यक्ति गिरफ्तार किए गए। आन्दोलनकारियों को संतुष्ट करने के लिए जिले के उच्चाधिकारी को स्थानान्तरित किया गया, जनता के क्रोध को शांत करने के लिए मंत्री स्तरीय समझौता वार्ताएं की गयी एवं न्यायिक जांच बैठायी गयी, परन्तु जुलाई 2005 में आन्दोलन पुनः आरम्भ हो गया, क्योंकि संघर्ष समिति के अनुसार समझौते का पालन नहीं हो रहा था। सरकार ने आन्दोलन का राजनीतिक तौर पर जवाब देने के प्रयास किए, आन्दोलन के नेता जेलों में थे, कृषकों के पड़ाव हो रहे थे, सरकार का कथन था कि मांगे क्रियान्वित की जा चुकी है, जितना पानी मिल रहा है उतना दिया जा रहा है, जितना पानी मिल रहा है उतना दिया जा रहा है, मुख्यमंत्री ने कांग्रेसाध्यक्ष सोनिया गांधी से आग्रह किया कि वह पंजाब से अधिक पानी दिलवाएं तभी राजस्थान की जनता संतुष्ट होगी परन्तु कांग्रेस ने इसे राजनीतिक दांवपेच बताया। अगस्त 2005 में मुख्यमंत्री ने अनूपगढ़ में विशाल सभा आयोजित कर आन्दोलन के नेतृत्व कर्ताओं पर आरोप लगाया कि यह आन्दोलन भू–माफिया चला रहे हैं, अन्ततः इस आन्दोलन का समाधान किसानों के राजधानी जयपुर में बिजली की दरों में वृद्धि के विरोध में आयोजित महापड़ाव के समय सम्पन्न समझौते से हुआ और गिरफ्तार नेताओं को रिहा किया गया।

पानी के लिए एक अन्य आन्दोलन सोहेला गाँव (टोंक) में 13 जून, 2005 को प्रारम्भ हुआ, टोंक के कृषकों की माँग थी कि बीसलपुर परियोजना का पानी पहले सिंचाई तथा पेयजल के लिए उस क्षेत्र की जनता को देना चाहिए, उसके पश्चात् अन्य स्थानों पर दिया जाना चाहिए, आन्दोलन तीव्र हो गया, पुलिस द्वारा चलायी गोली में 5 व्यक्ति मारे गए, मुख्यमंत्री ने गंगानगर हनुमानगढ़ की गलती को नहीं दोहराया वे स्वयं वहाँ गयी एवं आर्थिक सहायता की घोषणा कर जनता के रोष को शांत किया।

इस समय खण्ड में बिजली की दरों में वृद्धि के कारण जनता में आक्रोश बढ़ा, चुनाव के समय सरकार ने बिजली की दरें नहीं बढ़ाए जाने तथा कृषकों को सस्ती दरों

तथा 5–6 घण्टे बिजली प्रतिदिन दिए जाने का आश्वासन दिया था, परन्तु चुनावों के पश्चात् दरों में वृद्धि कर दी गयी तत्पश्चात् इसका विरोध राजनीतिक स्तर पर प्रारम्भ हो गया, कृषकों ने भी प्रदर्शन किए। वामपंथी पार्टी ने इस आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान किया। 28 जुलाई, 2005 को मार्क्सवादी कम्प्युनिस्ट पार्टी के विधायक अमराराम ने सीकर जिला मुख्यालय पर किसानों की विशाल आमसभा मे कलेक्टर को ज्ञापन प्रदान कर सरकार को चेतावनी दी कि यदि विद्युत दरों में वृद्धि की गयी तो जयपुर में भी महासम्मेलन किया जाएगा। चुंकि सरकार ने चुनाव सम्पन्न होने के पश्चात् सरकार ने विद्युत दरों में वृद्धि कर दी, प्रतिक्रिया स्वरूप अखिल भारतीय कृषक सभा के तत्वावधान में जयपुर में 8 जिलों के कृषकों का महासम्मेलन 1 सितम्बर को आरम्भ हुआ, इसी प्रकार का महापड़ाव भाखड़ा किसान संघर्ष समिति, सीटू तथा वामपंथी संगठनों ने हनुमानगढ़ जिले में भी अयोजित किया, इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सरकार ने विद्युत दरों में वृद्धि को स्थगित कर दिया एवं इंदिरा गांधी नहर परियोजना के जल विवाद को लेकर किए आन्दोलन में गिरफ्तार सात सौ व्यक्तियों को रिहा कर दिया गया।

भाजपा सरकार की आबकारी नीति को लेकर राजनीतिक तथा जन साधारण के स्तर पर भी घोर आलोचना हुई, भाजपा के प्रदेशाध्यक्ष ललित किशोर चतुर्वेदी तथा रामदास अग्रवाल ने भी रोष प्रकट किया। भाजपा विधायकों में असंतुष्टि, सत्ता संगठन में रोज आलोचना एवं मनमुटाव प्रारम्भ से ही था, शनैः–शनैः उसमें वृद्धि हुई, प्रारम्भ में नेता मंत्री नहीं बनाए जाने के कारण हताश थे, क्योंकि उनकी दबाव की राजनीति व्यर्थ रही, एवं केन्द्र से भी समर्थन प्राप्त ना हो सका, द्वितीय रोष राज्य मंत्रियों में प्रकट किया, कि मात्र एक राज्यमंत्री प्रताप सिंह सिंघवी के अतिरिक्त शेष ग्यारह राज्यमंत्रियों के पास स्वतन्त्र प्रभार नहीं होने से वे अधिकार विहिन है, वासुदेव देवनानी एवं भवानी जोशी (दोनों राज्य मंत्री) ने सार्वजनिक समरोहों में भी स्वयं की निराशा प्रकट की। राजनीतिक नियुक्तियों को लेकर भी रोष प्रकट किया गया, किन्तु मुख्यमंत्री वसुन्धरा राजे ने सत्यनारायण गुप्ता को जन अभाव अभियोग सुनने का प्रभारी एवं मंत्री स्तर और चन्द्रराज सिंघवी को बीस सूत्री कार्यक्रम क्रियान्वयन समिति का उपाध्यक्ष निर्मित करने के अतिरिक्त अन्य किसी को भी दिसम्बर 2005 तक पद प्रदान नहीं किए, इस प्रकार पार्टी में आन्तरिक कलह एवं द्वेष में वृद्धि हुई।

उपरोक्त घटनाक्रम के तहत् दिसम्बर 2008 में भाजपा चुनाव में परास्त हुई एवं 13वीं विधानसभा में कांग्रेस की सरकार निर्मित हुई।

वसुन्धरा राजे की राजनीतिक यात्रा, वे सर्वप्रथम 1985 में धौलपुर निर्वाचन क्षेत्र से भाजपा के टिकट से विधायक बनीं तत्पश्चात् 1989, 1991, 1996, 1998 और 1999 में सांसद बनीं। अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार में विभिन्न मंत्रालयों, विदेश, कार्मिक तथा लघु उद्योग में राज्यमंत्री के रूप में सक्रिय रहीं। भैरोसिंह शेखावत के उपराष्ट्रपति चयन के पश्चात् राजस्थान की राजनीति में नेतृत्व की रिक्तता की पूर्णता के लिए उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ समझा गया।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय संघ के राज्यों में राजस्थान मुख्यमंत्री के पद को अपना वर्तमान स्वरूप ग्रहण करने में विशिष्ट प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ा, क्योंकि स्वतन्त्रता से पूर्व राज्यों की प्रकृति एवं संरचना भिन्न थी, राजस्थान पुनर्गठन की प्रक्रिया लम्बे समय तक चली एवं अनेक चरणों में सम्पन्न हुई, इसके पूर्व यहाँ राजाओं का शासन था जो कि सर्वाधिकार सम्पन्न थे, राजा ही मंत्री तथा अन्य महत्वपूर्ण पदाधिकारियों को नियुक्त करते थे। जयपुर, जोधपुर बीकानेर तथा मेवाड़ में मंत्री परिषद् होती थी जिसमें सर्वोपरि स्थान प्रधानमंत्री का हुआ करता था, वस्तुतः प्रधानमंत्री को जो अधिकार प्राप्त थे वे मुख्यमंत्री समकक्ष थे।

अंग्रेजों के शासन काल में परिस्थितियों में परिवर्तन आया, सैद्धान्तिक रूप से तो रियासतें अपने आन्तरिक मामलों में स्वायत्त थी परन्तु ब्रिटिश शासकीय प्रतिनिधियों की उपस्थिति उन्हें नियंत्रित करती थी, वस्तुतः किसी भी स्थिति में उनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन की सर्वोपरिता को बनाए रखना था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् राज्य पुनर्गठन के कार्य में राजस्थान को वर्तमान स्वरूप ग्रहण करने में अनेक वर्ष लग गए। 1947 से 1956 तक विभिन्न चरणों में राजस्थान का एकीकरण हुआ। राजस्थान के एकीकरण का प्रारम्भ यद्यपि स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात् प्रारम्भ हो गया था तथापि विधानसभा के प्रथम चुनाव केन्द्र के ही समान 1952 में ही हो पाए, इस कालखण्ड में कांग्रेस का अन्तरिम शासन रहा, जिसे भारत का तत्कालीन रियासती मंत्रालय दिशा–निर्देश प्रदान करता था। राजस्थान के प्रथम मुख्यमंत्री श्री हीरालाल शास्त्री ने 7 अप्रैल, 1949 को कार्यभार ग्रहण किया, उनके मंत्रिमण्डल को जनता का समर्थन प्राप्त नहीं था अतः इन्हें अनेक प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ा, अतः उन्हें 5 फरवरी 1951 को त्यागपत्र देना पड़ा, उनके स्थान पर आई.सी.एस. अधिकारी श्री एस. वैंकटाचारी को मुख्यमंत्री बनाया गया। मंत्रिमण्डल ने वैंकटाचारी के नेतृत्व में 26 अप्रैल, 1951 तक कार्य किया, तत्पश्चात् श्री जयनारायण व्यास ने कार्यभार ग्रहण किया। राजस्थान के प्रथम निर्वाचित मुख्यमंत्री श्री टीकाराम पालीवाल रहे, जिन्होंने 1 नवम्बर 1952

को शपथ ग्रहण की। राजस्थान के निर्माण समय से लेकर ही कांग्रेस के नेताओं मे प्रारम्भ से ही नेतृत्व को लेकर तीव्र मतभेद रहा अतः आरम्भिक वर्षों में राजनीतिक स्थायित्व का अभाव रहा। 1954 में जब श्री मोहनलाल सुखाड़िया मुख्यमंत्री बने उसके पश्चात् ही राजस्थान में स्थायित्व का दौर प्रारम्भ हुआ।

राजस्थान के मुख्यमंत्री

क्र.सं.	मुख्यमंत्री का नाम	कब से	कब तक
1	श्री हीरालाल शास्त्री	7 अप्रैल, 1949	5 जनवरी, 1951
2	श्री एस. वैंकटाचारी	5 जनवरी, 1951	26 अप्रैल, 1951
3	श्री जयनारायण व्यास	26 अप्रैल, 1951	3 मार्च, 1952
4	श्री टीकाराम पालीवाल	3 मार्च, 1952	31 अक्टूबर, 1952
5	श्री जयनारायण व्यास	1 नवम्बर, 1952	6 नवम्बर, 1954
6	श्री मोहनलाल सुखाड़िया	13 नवम्बर, 1954	4 अप्रैल, 1957
7	श्री मोहनलाल सुखाड़िया	7 अप्रैल, 1957	11 मार्च, 1962
8	श्री मोहनलाल सुखाड़िया	12 मार्च, 1962	13 मार्च, 1967
9	श्री मोहनलाल सुखाड़िया	28 अप्रैल, 1967	8 जुलाई, 1971
10	श्री बरकतुल्ला खां	9 जुलाई, 1971	15 मार्च, 1972
11	श्री बरकतुल्ला खां	16 मार्च, 1972	11 अक्टूबर, 1973
12	श्री हरिदेव जोशी	11 अक्टूबर, 1973	29 अप्रैल, 1977
13	श्री भैरोसिंह शेखावत	22 जून, 1977	16 फरवरी, 1980
14	श्री जगन्नाथ पहाड़िया	6 जून, 1980	13 जुलाई, 1981
15	श्री शिवचरण माथुर	14 जुलाई, 1981	23 फरवरी, 1985
16	श्री हीरालाल देवपुरा	23 फरवरी, 1985	10 मार्च, 1985
17	श्री हरिदेव जोशी	10 मार्च, 1985	20 जनवरी, 1988
18	श्री शिवचरण माथुर	20 जनवरी, 1988	29 नवम्बर, 1989
19	श्री हरिदेव जोशी	4 दिसम्बर, 1989	1 मार्च, 1990
20	श्री भैरोसिंह शेखावत	4 मार्च, 1990	15 दिसम्बर, 1992
21	श्री भैरोसिंह शेखावत	4 दिसम्बर, 1993	30 नवम्बर, 1988
22	श्री अशोक गहलोत	1 दिसम्बर, 1998	7 दिसम्बर, 2003
23	श्रीमती वसुन्धरा राजे	8 दिसम्बर, 2003	दिसम्बर, 2008

[18]

मार्च 1990 में भाजपा व जनता दल के गठबन्धन से भैरोसिंह शेखावत के नेतृत्व में सरकार का निर्माण किया गया, जो कि दिसम्बर 1992 तक अस्तित्व में रही, उसके पश्चात् 15 दिसम्बर, 1992 से 4 दिसम्बर, 1993 तक 1 वर्ष के लिए राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। 1993 के विधानसभा चुनाव एवं उसके पश्चात् के चुनावों का यदि विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट होगा कि राजस्थान की राजनीति गठबन्धन राजनीति से द्विदलीय व्यवस्था की ओर अग्रेषित हुई, इन चुनावों में प्रमुख प्रतिद्वन्दी दल भाजपा एवं कांग्रेस रहे। 1993 के चुनावों में पुनः भाजपा के नेतृत्व में भैरोसिंह शेखावत ने मुख्यमंत्री पद संभाला, शेखावत के मुख्यमंत्रित्व काल की प्रमुख विशेषता यह रही कि उस समय पंचायतीराज व

नगरीय स्वशासन से सृदृढ़ करने वाले 73वें व 74वें संविधान संशोधन हुए। ग्यारहवीं विधानसभा के चुनाव दिसम्बर 1998 में सम्पन्न हुए इनमें कांग्रेस विजयी रही एवं 2002 में से 153 सीटों पर विजय प्राप्त कर ऐतिहासिक कीर्तिमान की स्थापना की एवं अशोक गहलोत के नेतृत्व में सरकार का निर्माण किया। गहलोत के कार्यकाल में आधारभूत ढ़ाँचे को सुदृढ़ किया एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'राजस्थान सूचना अधिकार अधिनियम' सन् 2000 में विधानसभा द्वारा पारित किया गया।

12 वीं विधानसभा के चुनाव दिसम्बर 2003 में सम्पन्न हुए अैर राजस्थान के इतिहास में प्रथम बार महिला मुख्यमंत्री निर्वाचित हुई एवं पुनः भाजपा के नेतृत्व में सरकार का गठन किया गया। वसुन्धरा राजे के 200 में से 120 सीटों पर विजय प्राप्त हुई और कांग्रेस को 153 सीटों से घटकर मात्र 56 सीटें प्राप्त कर सकी, किन्तु 13वीं विधानसभा दिसम्बर 2008 में अशोक गहलोत के नेतृत्व में कांग्रेस की सरकार का गठन हुआ।

संदर्भ सूची –

1. जोहरी, जे.सी. : इंडियन गर्वमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स, विशाल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1974, पृ0 385
2. डॉ0 बसु, डी.डी. : भारत का संविधान एक परिचय, सातवां संस्करण, वाधवा एण्ड कम्पनी, नागपुर, 2001, पृ0 229
3. उपर्युक्त : पृ0 231
4. इन्टरनेट
5. उपर्युक्त
6. उपर्युक्त
7. उपर्युक्त
8. डॉ0 बसु, डी.डी. : उपर्युक्त, पृ0 229
9. इन्टरनेट
10. डॉ0 राव, के.वी. : चूजिंग अ चीफ मिनिस्टर, जर्नल ऑफ दि सोसायटी फार स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्ट्स, अप्रैल–जून, 1972 नं0 2, पृ0 74
11. डॉ. राव, के.वी. : नान मेम्बर चीफ मिनिस्टर, जर्नल ऑफ दि सोसायटी फार स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्ट्, जनवरी–मार्च, 1972 नं. 1, पृ. 84
12. रिपोर्ट ऑफ दि कमिटि ऑफ गवर्नर्स : द रोल ऑफ गवर्नर्स, 1959, पृ0 36
13. उपर्युक्त : पृ0 34–35
14. इन्टरनेट

15. सिंह, नरेन्द्र कुमार : इण्डिया टुडे, 15 दिसम्बर 1993, पृ0 46–47
16. उपर्युक्त : पृ0 47
17. माथुर, शिवचरण : प्रशासनिक सुधार आयोग, प्रथम प्रतिवेदन, मार्च–जून, 2000, विद्युत क्षेत्र, पृ0 333, 337
18. इन्टरनेट

षष्ठम् अध्याय

राजस्थान की राजनीति और जाति

भारतीय समाज जातीय सामाजिक इकाईयों से गठित और विभक्त है, श्रम विभाजनगत आनुवंशिक समूह भारतीय ग्राम की कृषि केन्द्रित व्यवस्था की विशेषता रही है। यहाँ की सामाजिक व्यवस्था में श्रम विभाजन सम्बन्धी विशेषीकरण जीवन के सभी अंगो में विद्यमान है और आर्थिक कार्यों का ताना–बाना इन्हीं आनुवंशिक समूहों से निर्मित होता है। यह जातीय समूह एक ओर तो अपने आन्तरिक संगठन से संचालित तथा नियमित है और दूसरी ओर उत्पादन सेवाओं के आदान प्रदान और वस्तुओं के विनिमय द्वारा परस्पर सम्बद्ध है। समान परम्परागत व्यवसाय समान धार्मिक विश्वास, सामाजिक प्रतीक और धार्मिक प्रथाएँ एवं व्यवहार, खानपान के नियम, जातीय अनुशासन और सजातीय विवाह इन जातीय समूहों की आंतरिक एकता को स्थिर तथा दृढ़ करते हैं। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण समाज की दृष्टि में प्रत्येक जाति का सोपानवत् सामाजिक संगठन में एक विशिष्ट स्थान तथा मर्यादा है जो इस सर्वमान्य धार्मिक विश्वास से पुष्ट है कि प्रत्येक मनुष्य की जाति तथा जातिगत व्यवसाय दैवीय विधान से निर्दिष्ट है और व्यापक सृष्टि के अन्य नियमों की भांति प्रकट तथा अटल है।

एक ग्राम में स्थित परिवारों का ऐसा समूह वास्तव में अपनी बड़ी जातीय इकाई का अंग होता है जिसका संगठन तथा क्रियात्मक सम्बन्धों की दृष्टि से एक सीमित क्षेत्र होता है, जिसकी परिधि सामान्यतः 20–25 मील होती है। उस क्षेत्र में जाति विशेष की एक विशिष्ट आर्थिक तथा सामाजिक मर्यादा होती है, जो उसके सदस्यों को जन्म से तथा परम्परा से प्राप्त होती है। यह जातीय मर्यादा जीवन पर्यन्त यथावत् रहती है और जातीय व्यवसाय छोड़कर दूसरे व्यवसाय अपनाने से तथा आमदनी के उतार चढ़ाव से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह मर्यादा जातीय व्यवसाय, आर्थिक स्थिति, धार्मिक संस्कार, सांस्कृतिक परिष्कार और राजनीतिक सत्ता से निर्धारित होती है और निर्धारकों में परिर्वतन आने से इसमें परिवर्तन भी संभव है। एक जाति स्वयं अनेक उपजातियों में विभक्त रहती है, इस विभाजन का आधार बहुधा एक ही व्यवसाय के अन्दर विशेषीकरण के भेद प्रभेद होते हैं किन्तु भौगोलिक स्थानान्तरण में भी एक ही परम्परागत व्यवसाय करने वाली एकाधिक जातियों को साथ–साथ रहने का अवसर दिया है। यदा–कदा जब किसी जाति का एक अंग अपने परम्परागत व्यवसाय के स्थान पर दूसरा व्यवसाय अपना लेता है, कालक्रम में वह एक पृथक् जाति बन जाती है, उच्च हिन्दू जातियों में गोत्रीय विभाजन विद्यमान है।

शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से जाति शब्द संस्कृत की 'जनि'(जन) धातु में 'क्ति' प्रत्यय लगाकर निर्मित हुआ है। जाति मनुष्यों के अंतर्विवाही समूह या समूहों का योग है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता अर्जित न होकर जन्म से प्राप्त होती है, जिसके सदस्य समान पैतृक व्यवसाय करते हैं और जिसकी विभिन्न शाखाएँ समाज के अन्य समूहों की अपेक्षा एक दूसरे से अधिक निकटता का अनुभव करती हैं।

भारत में जाति प्रागैतिहासिक काल से मिलती है इसकी उत्पत्ति के कारण और काल के विषय में अनेक मत हैं, जो सभी अनुमान पर आधारित हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि श्वेतवर्ण विजेता आर्यों और श्यामवर्ण विजित अनार्यों के संघर्ष से आर्य और दास दो जातियों का उदय हुआ तथा कालक्रम में वर्ण सांकर्य, धर्म, व्यवसाय, श्रम विभाजन संस्कृति, प्रवास तथा भौगोलिक पार्थक्य से हजारों जातियां उत्पन्न हुई। द्वितीय प्रबल मत है कि जाति का उदय अनार्य समाज में आर्यों के आगमन से पूर्व हो चुका था और आर्यों के आगमन ने उसमें अपना योगदान किया। इस मत के समर्थकों का कहना है कि 'माया' 'जीवत्ववाद' 'अभिनिषेध' आदि की भावनाओं से प्रभावित विभिन्न समूह जब एक दूसरे के सम्पर्क में आए तो वे अपने विश्वास, संस्कृति, धार्मिक कर्मकाण्ड आदि के कारण एक दूसरे से पृथक् बने रहे क्योंकि अनेक जातीय समूहों का विश्वास था कि खाद्य पदार्थों तथा व्यवसायिक उपकरणों पर परकीय प्रभाव अनिष्टकारी होता है अतः छुआछूत और अंतर्विवाह (सजातीय विवाह) संयुक्त समाज के अंग बने। संयोग से जाति को कर्मवाद का आधार भी प्राप्त हो गया। व्यवसाय, क्षेत्रीयता वर्णसांकर्य आदि अनेक तत्वों ने उसे प्रभावित, परिवर्तित और दृढ़ किया। आर्यों के आगमन ने इसे नवीन रूप दिया और जाति प्रथा आर्यों में भी प्रविष्ट हुई। वैदिक साहित्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भ में भारतीय आर्यों में तीन वर्ग थे, जो समस्त विश्व के आर्यों की विशेषता थी और जो जातियों से मूलतः भिन्न थे।

हिन्दू शास्त्रों के मत से जाति का मूल वर्णों में है, ऋग्वेद के 10 वें मण्डल के पुरूषसुक्त के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय), जंघाओं से वैश्य, पैरों से शुद्र उत्पन्न हुए। इस प्रकार मानव सृष्टि के प्रारम्भ से ही चार वर्णों की उत्पत्ति मानी गई है। मनु आदि स्मृतिकारों ने प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के सामाजिक और व्यक्तिगत कार्य, जीविका, शिक्षा, दीक्षा, संस्कार और कर्तव्य तथा अधिकार सम्बन्धी नियमों का विधान किया है वर्ण व्यवस्था में पुरोहित तथा अध्यापक वर्ग ब्राह्मण, शासक तथा सैनिक वर्ग राजन्य या क्षत्रिय, उत्पादक वर्ग वैश्य और शिल्पी एवं सेवक वर्ग शुद्र वर्ण हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि वैदिक आर्य समाज में तीन अस्पष्ट वर्ग थे। वास्तव में उस समय

गौरवर्ण आर्य और श्यामवर्ण दास दो ही वर्ग थे। दास वर्ण बाद में शुद्र वर्ण हुआ और इसके साथ आर्यों के तीन वर्गों ने मिलकर चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की। जो जनजातियाँ आर्य समाज से दूर रहीं उन्हें वर्णव्यवस्था में सम्मिलित नहीं किया गया, वर्णों में अंतर्विवाहका निषेध नहीं था और इस निषेध का ना होना मूल आर्य समाज की परम्परा के अनुकूल था। हिन्दू धर्मशास्त्रों ने जातियों को नहीं वर्णों को मान्यता दी है, यद्यपि स्वयं वेदों और स्मृतियों में अनेक जातियों का उल्लेख है जो वस्तुतः या तो अनार्य सभ्य जातियाँ हैं या सभ्य समाज के सम्पर्क में आए अनार्य जनजातीय समूह है। जाति भेद का मूल आर्यों में नहीं था अतः जाति शास्त्रकारों द्वारा अपेक्षित रही है। आर्यमूल की उच्च जातियों में जातीय पंचायतों की अनुपस्थिति भी मूल आर्य समाज की जाति विहीन स्थिति की द्योतक है। परन्तु हिन्दू समाज में जातियों का मौलिक महत्व है और ये वर्णों से भिन्न है। हिन्दूओं के कर्मवाद ने जाति व्यवस्था को धार्मिक आश्रय प्रदान किया और यह आश्रय जाति को दृढ़ तथा स्थायी बनाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जाति के साथ सामान्य हिन्दू का तादात्म्य धर्म की उपेक्षा एवं अवज्ञा कर सकता है। किन्तु जातीय बंधनों, प्रथाओं व आचार व्यवहार का उल्लंघन इसके लिए कठिन है।

ईसाइयों, मुसलमानों, जैनों और सिखों में भी जातियां हैं और उनमें भी उच्च निम्न तथा शुद्ध–अशुद्ध जातियों का भेद विद्यमान है, फिर भी उनमें जाति का वैसा कठोर रूप और सूक्ष्म भेद–प्रभेद नहीं है जैसा हिन्दुओं में है। ईसा की 12 वीं शती में दक्षिण में वीर शैव सम्प्रदाय का उदय जाति के विरोध में हुआ था किन्तु कालक्रम में उसके अनुयायियों की एक पृथक् जाति बन गई जिसके अन्तर्गत अनेक जाति भेद हैं। सिखों में भी जातीय समूह बने हुए हैं और यही स्थिति कबीर पंथियों की है। गुजरात की मुसलिम बोहरा जाति की मस्जिदों में यदि अन्य मुसलमान नमाज पढ़े तो वे स्थान को जल से शुद्ध करते हैं, बिहार राज्य में सरकार ने 27 मुसलमान जातियों को पिछड़े वर्गों की सूची में रखा है। केरल के विभिन्न प्रकार के ईसाई वास्तव में जातीय समूह हो गए हैं। मुसलमानों और सिक्खों की भाँति यहाँ के ईसाइयों में अछूत समुह भी है जिसके गिरजाघर पृथक् हैं किन्तु मुसलमानों और सिखों के जातिभेद हिन्दुओं के जातिभेद से अधिक मिलते जुलते हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दू धर्म के अनुयायी जब–जब इस्लाम या सिख धर्म स्वीकार करते हैं तो वहाँ भी अपने जातीय समूहों को बहुत कुछ सुरक्षित रखते हैं और इस प्रकार सिखों या मुसलमान की एक जाति निर्मित हो जाती है।

जाति और लोकतांत्रिक राजनीति की अन्योन्यक्रिया को आम तौर पर राजनीति में 'जातिवाद' की संज्ञा दी जाती है, पर वास्तव में यह 'जातियों का राजनीतिकरण' है।

भारतीय जातिप्रथा और आधुनिक संसदीय राजनीति की अन्योन्यक्रिया ने समाज परिवर्तन की प्रक्रिया को जन्म दिया है। जाति और राजनीति के इस मेल के कारण लोकतंत्र में आम जनता सक्रिय हुई और इस राज्य व्यवस्था को उसकी विशिष्ट पहचान प्राप्त हुई।[1]

जाति प्रथा के विकास के सिद्धान्त :–

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जाति की भूमिका अत्यन्त प्राचीनकाल से है इसका अस्तित्व हजारों वर्षों से है। सभी भारतीयों को जन्म से एक जाति मिल जाती है जो सामाजिक अन्तःक्रिया में व्यक्ति विशेष की विशिष्ट पहचान बन जाती है। जाति प्रथा के प्रारम्भ के सम्बन्ध में विद्वानों में विरोधाभास है, इसके विकास को स्पष्ट करने के लिए अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं जिनमें से प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार है –

प्रथम, आर्य उद्‌गम का सिद्धान्त है, इसके अनुसार जाति भेदभाव का बीज आर्यों के भारत में आने के बाद रोपा गया। आर्यों ने यह महसूस किया कि आदिवासियों के सम्पर्क में आने से उनके रक्त की शुद्धता खतरे में पड़ जाएगी। इसलिए जाति व्यवस्था का प्रारम्भ आर्यों और आदिवासियों के बीच कठोर सामाजिक भेदभाव कायम करने की आवश्यकता से हुआ। द्वितीय, व्यावसायिक सिद्धान्त है, इस सिद्धान्त के मुख्य प्रतिपादक जे.सी. नेसफील्ड हैं। इनका विचार है कि समाज में जाति व्यवस्था का आरम्भ कार्य के बंटवारे के साथ हुआ। विभिन्न कालों में अलग–अलग व्यवसायों की शुरूआत होने के साथ ही नई जातियां उत्पन्न हुई और उन्हें व्यवसाय के अनुरूप जाति व्यवस्था के पदसोपान में स्थान मिलता गया। तृतीय, होमो हायरारकिकस का सिद्धान्त है, इसका प्रतिपादन लुईस ड्युमोण्ट द्वारा किया गया। ये जाति व्यवस्था को वस्तुओं की प्रकृतिक अवस्था के रूप में देखते हैं। इनके विचार में असमानता मानवों के लिए स्वाभाविक है। चतुर्थ, मार्क्सवादी दृष्टिकोण है,डी.डी. कौशाम्बी और आर.एस. शर्मा जैसे मार्क्सवादियों ने जाति व्यवस्था के आरम्भ की व्याख्या आर्थिक आधार पर की है।[2]

उपर्युक्त सिद्धान्तों में से किसी एक को पूर्ण सत्य मानना उचित नहीं है, परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर दो बातें स्पष्ट रूप से कही जा सकती है।

प्रथम, जाति व्यवस्था विश्व की उत्पत्ति के साथ अस्तित्व में नहीं आयी क्योंकि इस सम्बन्ध में वर्णन आर्यों के भारत आगमन के पश्चात् प्राप्त होता है।

द्वितीय, यह सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक निर्णय से अचानक आए परिवर्तन का परिणाम नहीं वरन् शनैः–शनैः विकास के फलस्वरूप प्राप्त अवस्था है।

वर्ण एवं जाति के मध्य अन्तर, वैदिक कालखण्ड में समाज वर्ण व्यवस्था पर आधारित था जिसमें मुख्य रूप से चार वर्ण थे – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र।

श्रीमद्भागवत् गीता एवं मनुस्मृति में भी इसी प्रकार का वर्णन है। चारों वर्णों के अपने पृथक् व्यवसाय थे। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जन्म निर्धारित नहीं वरन् कर्म निर्धारित थी। वैदिकोत्तर युग में जन्म आधारित व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ, शनैः–शनैः यह विश्वास दूर होता गया कि जाति प्रथा ईश्वरीय देन है, वर्ण व्यवस्था के परिणामस्वरूप पश्चात्वर्ती वर्षों में भारतीय समाज हजारों जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया। जातिगत बन्धन जटिल होते गए, जिसके कारण सामाजिक भेदभाव एवं आर्थिक विषमता में वृद्धि होती गयी। वर्ण एवं जाति के मध्य अन्तर इस प्रकार है– प्रथम, सर्वप्रथम वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति हुई और वर्णों से जाति की उत्पत्ति हुई। द्वितीय, वर्ण व्यवस्था कर्म आधारित थी जबकि जाति व्यवस्था जन्म आधारित थी। तृतीय, वर्णों की संख्या चार है जबकि वर्णों से निकली जातियाँ एवं उपजातियाँ अनेक हैं।

जी.एस. धुर्ये के अनुसार 'जाति' को परिभाषित करने की कोई भी कोशिश इसकी जटिलता के कारण नाकाम हो जाएगी।[3] एडमण्ड आर.लीच का अभिमत है कि 'जाति' एक सांस्कृतिक परिघटना है।[4]

भारतीय संविधान के द्वारा धर्मनिरपेक्ष और जातिनिरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की है किन्तु भारत देश के राजनीतिक तथा सामाजिक सभी क्षेत्रों में जाति का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, सभी राज्यों की राजनीति जाति से प्रभावित दिखायी देती है, विशेष रूप से आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार, राजस्थान, हरियाणा आदि राज्य। राजस्थान में जातिगत आधार पर संघर्ष प्रमुख रूप से राजपूत और जाटों के मध्य रहा, परन्तु वर्तमान में गुर्जर, मीणा एवं अन्य पिछड़ी जातियाँ भी राजनीति को प्रभावित कर रही है। बिहार उन राज्यों में है जहां सबसे पहले जाति का राजनीतिकरण हुआ और वर्तमान में भी राजपूत, कायस्थ, यादव, ब्राह्मण एवं पिछड़े वर्गों के मध्य तीव्र संघर्ष है, हरियाणा की राजनीति में जाट, अहीर एवं अनेक दलित वर्ग प्रमुख राजनीतिक प्रतिद्वन्दी हैं, गुजरात में पाटीदार एवं अनाविल जाति, आन्धप्रदेश में रेड्डी और कम्मा जाति, कर्नाटक में लिंगायत एवं वोक्कलिंगा जाति राजनीति क्षेत्र में प्रभावी भूमिका निभाती हैं तमिलनाडु में ब्राह्मणों, महाराष्ट्र में मराठा व ब्राह्मण जाति में सदैव संघर्ष रहा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह कल्पना की गयी कि भारतीय लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में जाति का प्रभाव समाप्त हो जाएगा किन्तु स्वाधीनता के छः दशकों में जातिगत प्रभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। इस सम्बन्ध में रजनी कोठारी का अभिमत है कि– प्रथम, कोई भी सामाजिक तन्त्र कभी पूर्णतया समाप्त नहीं होता, अतः इस प्रकार का प्रश्न करना कि क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है, अर्थशुन्य है। द्वितीय, जाति व्यवस्था

आधुनिकरण और सामाजिक परिवर्तन में अवरोध नहीं है वरन् इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है।[5]

सांविधानिक प्रावधान – स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान के द्वारा सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए वैधानिक प्रावधान किए गए थे। इसका प्रमुख उद्देश्य अनुसूचित जाति और जनजाति के लोगों की समस्याओं का निवारण कर, उन्हें समाज की मुख्यधारा में जोड़ने के लिए प्रयास करना है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15, 16, 17, 18, 25, 19, 38, 46, 330, 332, 334, 358 व 325 के द्वारा वंचित वर्ग के लिए वैधानिक प्रावधान किए गए हैं –

अनुच्छेद 15 के अन्तर्गत (i) राज्य किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग जन्म स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा।

दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश से मना नहीं किया जायेगा।

पूर्ण अथवा आंशिक रूप से राज्य विधि के द्वारा पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए निर्मित कुओं, तालाबों, स्नानघरों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों में उपयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध अथवा शर्त नहीं लगाएगा।

अनुच्छेद 16 के अनुसार राज्य के अधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्तियों में समस्त नागरिकों के लिए अवसर की समानता उपलब्ध होगी, केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान, निवास अथवा इसमें से किसी के आधार पर किसी भी नागरिक के लिए राज्य की किसी नौकरी अथवा पद के सम्बन्ध में न तो अपात्रता होगी ना ही भेदभाव किया जाएगा।

अनुच्छेद 17 के अनुसार अस्पृश्यता का अन्त किया गया था जिसका किसी भी प्रकार से आचरण निषिद्ध किया गया। अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो कानून के अनुसार दण्डनीय है।

अनुच्छेद 18 के अन्तर्गत अस्पृश्यता की व्यवसायिक निर्योग्यता को समाप्त किया जा चुका है और उनके स्थान पर किसी प्रकार का व्यवसाय अपनाने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है।

अनुच्छेद 29 के अनुसार राज्य निधि द्वारा पोषित अथवा राज्य की निधि से सहायता प्राप्त करने वाली किसी भी शिक्षण संस्थान में किसी भी नागरिक को केवल धर्म, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी एक अथवा अधिक आधार पर वंचित नहीं किया जाए।

अनुच्छेद 38 के अनुसार राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का भरसक प्रयत्न करेगा जिससे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय की स्थापना हो।

अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य समाज दुर्बल वर्गों का विशेष रूप से अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति की शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष जानकारी उपलब्ध कराएगा। आर्थिक हितों की विशेष सावधानी के साथ उन्नति करेगा एवं सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

अनुच्छेद 335 में स्पष्ट है कि संघ अथवा राज्य सरकार के कार्यों से सम्बन्धित सेवाओं एवं पदों के लिए नियुक्ति करने में पिछड़ी जातियों के हितों का ध्यान रखा जाएगा।

अनुच्छेद 338 के अनुसार अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए राष्ट्रीय आयोग होगा उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा, आयोग का यह दायित्व होगा कि वह अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कार्यकलापों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को प्रतिवर्ष या जब आयोग उचित समझे, प्रतिवेदन दे, राष्ट्रपति ऐसे सभी प्रतिवेदनों को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रख पाएगा।

अनुच्छेद 339(1) के अनुसार राष्ट्रपति राज्यों के अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देने के लिए आयोग की नियुक्ति किसी भी समय पर करेगा एवं संविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की समाप्ति पर करेगा। आदेश में आयोग की संरचना शक्तियां और प्रक्रिया निश्चित की जा सकेगी तथा राष्ट्रपति इन उपबन्धों को समाविष्ट करेंगें जिन्हें वे आवश्यक समझें।[6]

अनुच्छेद 330, 332, 334 के अनुसार अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए संविधान लागू होने की तिथि से 10 वर्ष तक लोकसभा, विधानसभाओं, ग्रामपंचायतों और स्थानीय निकायों में स्थान सुरक्षित रहेगा। कालान्तर में यह अवधि 10–10 वर्ष के लिए बढ़ा दी गई है। वर्तमान में इस अवधि को 2010 के लिए बढ़ा दिया गया है।

जाति एवं राजनीति में अन्तःक्रिया – भारतीय राजनीति में बढ़ते हुए जातिगत प्रभाव को ही जाति का राजनीतिकरण कहा जाता है, लोकतांत्रिक राजनीति में जातियाँ अपने संगठन के माध्यम से अपना आधार सुदृढ़ करती है। जातियाँ सुसंगठित होकर राजनीति में भाग लेती हैं एवं राजनीतिक दल जातिगत समुदायों को प्रभावित और अपने पक्ष में करके सत्ता प्राप्त करते है। भारतीय राजनीति जाति आधारित समाज व्यवस्था को प्रकट करती है।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में जाति के प्रभाव का विस्तृत विशलेषण प्रो0 रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स' में इस प्रकार किया है[7] –

रजनी कोठारी ने स्पष्ट किया है कि ''जाति एवं राजनीति परस्पर अन्तर्विरोधी नहीं है जो व्यक्ति राजनीति में जातिवाद को आरोपित करते हैं, वे राजनीति एवं जाति के स्वरूप को नहीं समझ पाए हैं।'' भारत की जनता जातियों के आधार पर ही संगठित है, अतः राजनीति को जाति संस्था का उपयोग करना ही होता है अतः राजनीति में जातिवाद का अर्थ जाति का राजनीतिकरण है। जाति को अपने दायरे में रखकर राजनीति उसे अपने कार्य में लेने का प्रयास करती है, दूसरी ओर राजनीति द्वारा जाति को देश की व्यवस्था में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार राजनीति में जातिवाद एवं जाति का राजनीतिकरण दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ परिलक्षित होती है।

जाति व्यवस्था एवं राजनीति की अन्तःक्रिया के रूप में रजनी कोठारी के मतानुसार तीन रूप हैं –

लौकिक रूप – रजनी कोठारी ने स्पष्ट किया है कि जाति व्यवस्था की कुछ बातों पर सबका ध्यान केन्द्रित होता है जैसे – जाति के भीतर विवाह, छुआछूत एवं रीति–रिवाजों के द्वारा जाति की पृथक् इकाई को कायम रखने का प्रयत्न आदि किन्तु इस तथ्य की ओर बहुत कम व्यक्तियों का ध्यान केन्द्रित होता है कि जातियों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता एवं गुटबन्दी रहती है, अतएव प्रत्येक जाति प्रतिष्ठा और सत्ता प्राप्त करने के लिए संघर्षरत रहती है, जाति के लौकिक संगठन के दो रूप थे – प्रथम, शासकीय रूप अर्थात् जाति एवं गांव की पंचायत, द्वितीय, जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से गठजोड़ व प्रतिद्वन्द्विता।

इन संगठनों का बलशाली होना या पतन इस बात पर निर्भर करता है कि स्थानीय स्तर के नेताओं के समाज की केन्द्रस्थ सत्ता से सम्बन्ध किस प्रकार थे।

एकीकरण पक्ष, जाति का द्वितीय पहलू एकीकरण अर्थात् व्यक्ति को समाज से बाँधने का है, जाति जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान निश्चित कर देती है इससे प्रत्येक व्यक्ति का अपनी जाति से लगाव उत्पन्न हो जाता है और एक दूसरे से आपस में बँधे रहते हैं। व्यक्ति की अपनी निष्ठा अपने छोटे से समूह या जाति से रहती है किन्तु यह भी सत्य है कि बड़ी या उच्चतर निष्ठाओं की प्रेरणा व्यक्ति को जातिगत ढाँचे से ही प्राप्त होती है। लोकतंत्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है, इससे विभिन्न समूहों या जातियों में एक दूसरे से मिलने और गठबन्धन की प्रेरणा होती है। भारत देश की प्रवृत्ति सदैव अनेकता में एकता को प्राप्त करने की रही है और आज लोकतंत्रीय राजनीति में इस तथ्य पर बल दिया जाता है।

चेतना पक्ष– जातिप्रथा का तृतीय तत्व चेतना बोध है, राजनीति सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विरोध की स्थिति परिवर्तित होती रहती है। एक और जाति किसी वर्ण से जुड़ी रहती है तथा दूसरी ओर किसी व्यवसाय, वर्ग, मत या रीतिरिवाज से सामाजिक व्यवहार में अलग–अलग स्तर पर विभिन्न रूप धारण करने के कारण जाति व्यवस्था में सोच और परिवर्तनशीलता आ रही है।

समाज में उर्ध्वगामिता की इच्छा के अनेक रूप हैं, एक प्रवृत्ति ब्राह्मणीकरण या संस्कृतिकरण की है और दूसरी पाश्चात्यीकरण और लौकिकीकरण की है। आर्थिक उन्नति राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से अधिकांशतः अब्राह्मण जातियाँ, ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति त्याग देती है एवं अन्य अब्राह्मण जातियों से मिलकर राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त करने और अपनी स्थिति सुधारने की चेष्टा करती है। इसके अतिरिक्त कभी जाति अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना सम्बन्ध पौराणिक पुरूषों से जोड़ने का प्रयत्न करती है, जैसे गुजरात के पाटीदार, बंगाल के महिष्य और राजस्थान के जाट।

जाति और राजनीति की पारस्परिक क्रिया के चरण – जाति राजनीतिकरण दर्शाने के पश्चात् डॉ0 रजनी कोठारी ने जाति और राजनीति में अन्तः क्रिया के तीन चरणों का वर्णन किया है कि किस प्रकार से प्राचीन समाज नवीन राजनीतिक व्यवस्था के समीप आया। इसके विभिन्न चरण इस प्रकार है[8] –

प्रथम चरण – सर्वप्रथम शक्ति और प्रभाव की स्पर्धा प्रतिष्ठित या जमी हुई जातियों तक सीमित रहीं, प्रारम्भ में शिक्षा का लाभ उच्च जातियों के बुद्धिजीवी व्यक्तियों द्वारा उठाया गया। जहां नई शिक्षा और उससे प्राप्त होने वाली पद–प्रतिष्ठा केवल एक जाति या उपजाति तक सीमित रही, वहां अन्य ऊंची जातियों में जो पहले समाज में प्रतिष्ठा और प्रभावपूर्ण स्थान रखती थी, उसके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हुई और इन ऊंची जातियों में अधिकार और पद प्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक संगठन निर्मित किया, इससे दो उच्च जातियों में प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई।

महाराष्ट्र में ब्राह्मण पाटीदार, आन्ध्रप्रदेश में कम्मा–रेड्डी एवं केरल में एजबा–नायर द्वन्द इसके उदाहरण हैं, इस क्रिया में एक जाति की प्रधानता प्राप्त कर लेने पर दूसरे से उसकी प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो जाती है, इसके परिणामस्वरूप नवीन और पेचीदे गठबन्धन बन रहे हैं।

द्वितीय चरण – इस चरण में पद एवं लाभ के आकांक्षियों की संख्या में वृद्धि होती है और विभिन्न जातियों के व्यक्ति आते हैं स्वयं का गुट मजबूत करने के लिए उन जातियों की

सहायता ली जाती है जो अब तक दायरे से बाहर थी। जाति व्यवस्था की शक्ति और पद का ढांचा अब अधिक जटिल हो जाता है, पारस्परिक आर्थिक सहायता जैसे अपने परिजनों को सरकारी नौकरी दिलवाना, विपत्ति में सहायता करना, आश्रय–आश्रित सम्बन्ध तथा जातियों के संघ और महासंघों का संगठन इस नई व्यवस्था के अंग बन जाते हैं।

जिन क्षेत्रों में भूमि या अन्य आर्थिक आधार पर अनेक जातियों में पूर्व से सम्बन्ध रहता है, वहां राजनीति की नवीन जातीय संगठन निर्मित करने की आवश्यकता इतनी नहीं रहती, पहले से विद्यमान जाति श्रृंखलाएं ज्यों की त्यों राजनीतिक क्षेत्र में आ जाती है।

नए राजनीतिक संस्थानों की स्थापना से जातियों की गुटबन्दी और प्रतिद्वन्द्विता नवीन रूप धारण करती है, प्रान्त की राजनीति में प्रभावशाली जातियों में प्रतिद्वन्द्विता प्रकट होती है जैसे आन्ध्र में कम्मा–रेड्डी, गुजरात में पाटीदार–अनाविल, कर्नाटक में लिंगायत –वोक्कलिंगा और मद्रास तथा बिहार में विभिन्न जातियों मे प्रत्येक स्तर पर राजनीतिक गुटबन्दी और जाति या वर्ण सम्बन्धों के कारण नवीन संगठन जन्म लेते हैं इसी कारण नेताओं और प्रमुख व्यक्तियों तक का प्रभाव बढ़ता है।

द्वितीय चरण के प्रारम्भ में शक्ति और प्रभाव की होड़ थोड़ी उच्च जातियों तक ही सीमित रही, किन्तु शनैः–शनैः प्रतिस्पर्द्धी नेताओं ने अपना गुट मजबूत करने के लिए निम्न जातियों को भी राजनीति में खींच लिया। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए निम्न जातियों के प्रमुख लोगों को छोटे राजनीतिक पदों और लाभ में कुछ हिस्सा दिया गया।

तृतीय चरण, इस चरण में एक ओर राजनीतिक मूल्यों की प्रधानता हुई है और जाति से लगाव कम हुआ है, दूसरी और शिक्षा परिवर्तित पैमाने और शहरीकरण के कारण समाज में परिवर्तन आया। जाति बिरादरी की भावना ढीली होने लगी, सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित न रहा, राजनीति में व्यापकता आयी।

नई शिक्षा और नए सामाजिक व्यवहार से उत्पन्न होने वाली नई प्रवृत्तियां विस्तृत होने लगी। आधुनिकता का एक आवश्यक तत्व है, विभिन्न क्षेत्रों और कार्यों का स्पष्ट पृथक्करण। पहले राजनीतिक, शैक्षिक और बौद्धिक संचार के कार्य सामाजिक वर्ग या जाति के अन्दर होते थे, अब इनका अलग–अलग क्षेत्र निर्मित हो गया है। राजनीति एक प्रभावशाली तत्व है, परन्तु अब इसको आधुनिकता के एक साधन के रूप में देखा जाता है, इसे जाति को नष्ट करने या उसका स्थान लेने वाली शक्ति के स्थान पर नए समाज की स्थापना में सहायता के रूप में देखा जा सकता है।

दूसरी ओर राजनीतिक प्रवृत्तियों ने नवीन संगठनों और नई निष्ठाओं को जन्म दिया है जो पुरातन निष्ठाओं को काटती है, जाति अब राजनीतिक समर्थन या शक्ति का एकमात्र आधार नहीं रही यद्यपि राजनीति में इनका अत्यधिक उपयोग किया जा रहा है।

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में इसका अत्यधिक उपयोग किया जा रहा है। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जाति प्रथा पर पृथक्ता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा, बाद में जाति भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनीतिक संगठन में सहायता दी। आधुनिक राजनीति में भाग लेने से लोगों की दृष्टि में परिवर्तन हुआ, समझ विस्तृत हुई कि आज के युग में केवल जाति और सम्प्रदाय से कार्य नहीं चल सकता। जहां जाति बड़ी होती है वहां इसमें एकता नहीं होती, उसमें जातियों के भेद होते है। जब जातियों की संख्या छोटी होती है तब वह अपने बल पर चुनाव नहीं जीत सकता, यदि कोई उम्मीदवार मात्र अपनी ही जाति का पक्ष लेता है तो दूसरी जातियां उसके विरूद्ध हो जाती है इसी कारण चुनावी राजनीति में अनेक जातियों का गुट निर्मित करना पड़ता है, इससे विभिन्न जातियों में एकता होती है राजनीति दल की शक्ति तभी कायम रहती है, जब समाज के सभी प्रमुख वर्ग अर्थात् सभी जातियों के लोग उसको समर्थन दें।

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका – भारतीय राजनीति पर जाति व्यवस्था का प्रभाव समय व्यतीत होने पर बढ़ रहा है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् वयस्क मताधिकार के अधार पर होने वाले निर्वाचनों में जातिगत संस्थाएं एकाएक महत्वपूर्ण बन गयी क्योंकि उनके पास भारी संख्या में मत थे और लोकतंत्र में सत्ता प्राप्ति हेतु ये अत्यन्त आवश्यक थे। वर्तमान में यह तथ्य विचारणीय है कि जाति व्यवस्था का आधुनिक राजनीति में किस प्रकार का स्वरूप होगा भारतीय राजनीति को प्रभावित करने में जाति की भूमिका का विवेचन निम्न है –

जाति आधारित राजनीतिक दलों का विकास, राजनीतिक क्षेत्र में सफलता अर्जित करने के लिए जाति प्रधान राजनीतिक दलों का विकास हो रहा है, नेतागण जाति की भावनाओं को उभार कर राजनीतिक लाभ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और उस आधार पर निर्वाचनों में विजय को प्राप्त करते है उदाहरण स्वरूप बहुजन समाजवादी पार्टी, समाजवादी पार्टी, शिवसेना, राष्ट्रीय जनतादल, लोकदल पार्टी आदि।

राजनीतिक दलों में जाति के आधार पर निर्णय, भारत में सभी राजनीतिक दल अपने उम्मीदवारों का चयन करने में जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं, जिस चुनाव क्षेत्र में जिस जाति विशेष का बहुमत होता है उसी जाति के प्रत्यशी को वहाँ से खड़ा किया जाता है, 1996, 1970, 1977, 1980, 1984, 1989 के आम चुनाव में जाति की महत्वपूर्ण भूमिका

परिलक्षित होती है। क्षेत्रीय जाति के समर्थन द्वारा ही 1962 में गुजरात के चुनाव में स्वतंत्र पार्टी ने सफलता प्राप्त की, 1971 के आम चुनाव में कांग्रेस ने हरिजन, ब्राह्मण एवं मुसलमान शक्तिपुंज द्वारा, 1977 में जनता पार्टी की सफलता मुसलमान व हरिजनों के समर्थन से, 1980 की सातवें लोकसभा चुनाव में इन्दिरा गांधी ने हरिजन, ब्राह्मण, मुसलमान का जातीय समर्थन प्राप्त कर सफलता प्राप्त की। 1989 के लोकसभा चुनावों में बिहार और उत्तर प्रदेश में जनता दल की सफलता, जाट व राजपूत जाति के समर्थन पर आधारित थी, उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी का उदय व सफलता दलित जातियों के समर्थन पर निर्भर है, मायावती ने 2007 के उत्तर प्रदेश विधान सभा चुनाव में दलित, ब्राह्मण, मुसलमान संघ द्वारा भारी बहुमत प्राप्त किया।

जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार, चुनावों में जाति का प्रयोग एक साधन के रूप में किया जाता है, उम्मीदवार जिस चुनाव क्षेत्र में खड़े हुए हैं इस क्षेत्र में जाति विशेष की भावनाओं को उकसाया जाता है ताकि सम्बन्धित जाति विशेष के सम्पूर्ण मत प्राप्त किए जा सकें। जातियां अपनी मत शक्ति के कारण भारतीय राज व्यवस्था पर प्रभाव डालने में सक्षम भूमिका निभाती हैं, जाति समुदायों ने जाति को नवीन सफूर्ति प्रदान की है और भारतीय जनतन्त्र में जातियों को महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के योग्य बनाया है।

आरक्षण के माध्यम से हितपूर्ति, दुर्बल वर्गों को समाज की मुख्यधारा में जोड़ने के लिए सभी राजनीतिक दलों के द्वारा आरक्षण की सीमा बढ़ाने के प्रयास किए जा रहे है। आरक्षण के माध्यम से राजनीतिक दल जाति समूहों को वोट बैंक के रूप में प्रयोग कर रहे हैं, इसका प्रारम्भ वी.पी. सिंह द्वारा मण्डल आयोग की रिपोर्ट लागू करने से हुआ, इसके लागू करने से देशभर में जातीय संघर्ष हुआ। 1989 में मण्डल आयोग द्वारा अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण प्रदान करने से भारतीय राजनीति प्रभावित हुई। राजस्थान में गुर्जर समाज द्वारा 2007 में 'अन्य पिछड़े वर्ग' में सम्मिलित किए जाने की मांग को लेकर आन्दोलन किया गया।

मंत्रिमण्डल के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व, केन्द्र एवं राज्य के मंत्रिमण्डल में विविध जातियों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाता है, उदाहरणस्वरूप ब्राह्मण, जाट, कायस्थ, राजपूत, हरिजन, मीणा आदि जातियों को इनकी शक्ति के आधार पर प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है।

प्रशासन एवं जाति – लोकसभा एवं विधानसभा में भी जातिगत आरक्षण है, केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी सेवाओं एवं पदोन्नति में भी आरक्षण व्यवस्था है। अनु0 330, 332 व 334 के अनुसार अनुसूचित जातियों, जनजातियों के लिए संविधान लागू होने की तिथि से 10 वर्ष

तक लोकसभा विधानसभाओं, ग्रामपंचायतों और स्थानीय निकायों में स्थान सुरक्षित रहेगा, कालान्तर में यह अवधि शनैः–शनैः 10 वर्ष के लिए बढ़ायी जाती रही है, वर्तमान में इस अवधि को 2010तक बढ़ा दिया गया है।

राज्य राजनीति में जाति, राज्यों की राजनीति पर जातिगत प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है, किसी भी राज्य की राजनीति जाति के प्रभाव से मुक्त नहीं है परन्तु विशेष रूप से बिहार, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा एवं राजस्थान की राजनीति का विश्लेषण जातिगत संदर्भ के बिना संभव नहीं है। तमिलनाडु में ब्राह्मण–अब्राह्मण के मध्य केरल में हिन्दू–ईसाइयों, आन्ध्रप्रदेश में कम्मा–रेड्डी, राजस्थान में जाट–राजपूत, कर्नाटक में लिंगायत–वोक्कलिंगा, बिहार में राजपूत–ब्राह्मण–कायस्थ के मध्य सदैव संघर्ष रहा है। देश के दो विशाल राज्यों उत्तर प्रदेश एवं बिहार में जाति की राजनीति को अधिक बढ़ावा मिला है, उत्तरप्रदेश में चरण सिंह और बिहार में कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में जाति व्यवस्था प्रभावशाली हुई है। हरियाणा में देवीलाल, बिहार में लालूप्रसाद यादव, उत्तर प्रदेश में मुलायम सिंह यादव व मायावती ने जातिगत वोटों के आधार पर ही सत्ता प्राप्त की है। रजनी कोठारी ने मत व्यक्त किया है कि ''राजनीति नहीं है जो जाति परस्त हो गई है, बल्कि यह जाति है जो राजनीति परस्त हो गई है।''[9]

भारत के विभिन्न राज्यों में जाति के चार स्वरूप विकसित हुए है[10] –

जातिवाद का प्रथम स्वरूप दक्षिणी भारत और विशेषकर तमिलनाडु में दिखाई देता है जहां ब्राह्मणों और निम्न जातियों के मध्य संघर्ष रहा है, तमिलनाडु में प्रारम्भ से ही राजनीति पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व रहा और इसके विरूद्ध काफी दिनों से आन्दोलन चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप स्वामी नायकर द्वारा द्रविड कड़गम नामक संगठन की स्थापना की गयी जो बाद में द्रविड़ मुनेत्र कडगम दल के रूप में विकसित हुआ, तमिलनाडु में यह आन्दोलन ब्राह्मणों को पद से हटाने के लिए था, सन् 1914 में ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मण विरोधी भावना के राजनीतिक महत्व को दृष्टि में रखते हुए अन्य राजनीतिक दल भी जाति युद्ध में संलग्न रहे हैं। यहां तक कि कांग्रेस पार्टी के द्वारा राजगोपालाचारी (जो ब्राह्मण थे) के राजनीतिक प्रभाव को कम करने के लिए कामराज नाडार को राजनीति में ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया गया, संक्षेप में स्वतन्त्रता से पूर्व तथा स्वतन्त्रता के पश्चात् तमिलनाडु में ब्राह्मण और निम्न जातियों के मध्य घोर टकराव रहा और इस संघर्ष में ब्राह्मणों को पराजित होना पड़ा।

जातिवाद का द्वितीय स्वरूप महाराष्ट्र में परिलक्षित होता है, महाराष्ट्र की राजनीति तमिलनाडु से कुछ भिन्न रही है, यद्यपि यहां मराठा और ब्राह्मणों के मध्य संघर्ष रहा है और

इस संघर्ष में मराठा जाति ने ब्राह्मणों के शताब्दियों से चले आ रहे प्रभुत्व का अन्त किया। बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक दलों में भी ब्राह्मणों का आधिपत्य था, उदाहरण स्वरूप तिलक, गोखले, गोलवलकर, एस.एन. डांगे आदि ब्राह्मण थे। स्वतन्त्रता के पश्चात् मराठा जाति ने ब्राह्मणों को पराजित कर दिया और यह आन्दोलन 1960 में अपनी पूर्णता को पहुंच गया, जब महाराष्ट्र नामक पृथक् राज्य की स्थापना की गयी।

गुजरात, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक जातिवाद का तीसरा प्रतिनिधि स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, इन तीनों ही राज्यों में तीन मध्यम जातियां राजनीति संघर्ष में रत दिखायी देती है। आन्ध्रप्रदेश में यह टकराव कम्मा और रेड्डी जातियों के मध्य पाया जाता है, 1934 में आन्ध्र में साम्यवादी दल की स्थापना के पश्चात् से इस दल का नेतृत्व कम्मा जाति के पास रहा जबकि कांग्रेस पार्टी में रेड्डी जाति का प्रभुत्व रहा। कर्नाटक में यह विरोध लिंगायत तथा ओकलिंगा जातियों के मध्य पाया जाता है। गुजरात में पाटीदार और क्षत्रिय जातियों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा पायी जाती है। तीनों राज्यों गुजरात, आन्ध्र व कर्नाटक में यह विशेषताएं दिखाई देती है कि नई राज्यों में राजनीतिक क्षेत्र में केवल दो जातियों का प्रभूत्व जो अपनी प्रथाओं सामाजिक स्थिति और सामाजिक आर्थिक साधनों की दृष्टि से एक–दूसरे से बहुत मिलती जुलती है। दूसरे शब्दों में तमिलनाडु और महाराष्ट्र में जहां असमान जातियों के मध्य टकराव पाया जाता है, वहां इन राज्यों में, यह प्रतिस्पर्द्धा लगभग दो समान जातियों के मध्य पायी जाती है।

बिहार की स्थिति उपरोक्त राज्यों से भिन्न है, यहीं उच्च जातियों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और कायस्थ सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों के धारक हैं और उनके बीच राजनीतिक प्रतियोगिता पायी जाती है, निम्न जातियां अब भी पिछड़ी स्थिति में है। राजस्थान और मध्यप्रदेश में भी राजनीति पर उच्च जातियों का एकाधिकार है और पिछड़ी जातियाँ उभरने का प्रयत्न कर रही हैं। अतः इन राज्यों में राजनीतिक प्रतियोगिता उच्च जातियों के बीच है और कोई भी एक जाति अपने प्रभुत्व को स्थापित करने की स्थिति में नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जाति एवं राजनीति के मध्य अन्तःक्रिया के कारण जाति का भारतीय राजनीति पर प्रभाव स्वाभाविक है। अनेक विद्वानों का मानना है कि जाति विविध समुदायों में मात्र अन्तर्कलह को बढ़ावा ही नहीं देती वरन् व्यक्ति को राजनीति से सम्बन्धित एवं समुदाय को संगठित करती है।

आरक्षण की राजनीति – भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए तो पर्याप्त उपबन्ध है, परन्तु अन्य पिछड़ा वर्ग को भी समाज की मुख्य धारा में सम्मिलित करने

के लिए प्रयास किए गए है। अन्य पिछड़ा वर्ग अनुसूचित जाति एवं जनजाति से अलग एक कोटि है, जिसमें शैक्षणिक और सामाजिक रूप से पिछड़े समुदायों की गणना की जाती है, इन समुदायों को 'पिछड़ा वर्ग' कहा जाता है।

संविधान में पिछड़े वर्गों की स्थिति के अन्वेषण के लिए आयोग की नियुक्ति के सम्बन्ध में अनुच्छेद 340 में उपबन्ध है। 1953 में काका साहेब कालेलकर की अध्यक्षता में एक आयोग की नियुक्ति की गई थी, इस आयोग को सौंपे गए कार्य निम्नलिखित थे[11] –

(अ) वह कौनसा परीक्षण होगा जिसके द्वारा जनता के किसी वर्ग या समूह को पिछड़ा कहा जा सकता है।

(ब) पूरे भारत के लिए ऐसे पिछड़े समुदायों की सूची तैयार करना।

(स) पिछड़े वर्ग की कठिनाईयों की परीक्षा और उनकी स्थिति सुधारने के लिए सिफारिश करना।

आयोग ने अपनी रिपोर्ट सरकार को 1955 में दी किन्तु आयोग ने अपनी सिफारिश में जो परीक्षण बताए थे सरकार को वे बहुत अस्पष्ट और अव्यवहारिक प्रतीत हुए। अतएव राज्य सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि वे उनके द्वारा बनाई गई सूची के अनुसार ऐसे वर्गों की सहायता करें।

द्वितीय आयोग, भारत में दक्षिण के राज्यों में 1960 के दशक से अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए आरक्षण के प्रावधान चला आ रहा है, किन्तु उत्तर भारत के राज्यों में इस प्रकार की कोई नीति नहीं थी। केन्द्र की जनता पार्टी (1977–79) की सरकार ने पिछड़े वर्ग के लिए आवाज उठायी। बिहार के मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर ने बिहार में 'ओबीसी' को आरक्षण देने की नीति लागू की, इसके पश्चात् 1978 में बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल की अध्यक्षता में केन्द्र सरकार द्वारा एक आयोग की स्थापना की तथा यह आयोग मण्डल कमीशन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आयोग को निम्न कार्य सौंपे गए –

1. भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य शैक्षणिक और सामाजिक पिछड़ेपन का पता लगाना।
2. पिछड़े वर्ग की पहचान।
3. पिछड़ेपन को दूर करने के सुझाव।

आयोग ने 1980 में रिपोर्ट प्रस्तुत की जब तक जनता पार्टी की सरकार गिर चुकी थी। आयोग द्वारा सर्वेक्षण से स्पष्ट हुआ कि पिछड़ी जातियों की शिक्षा संस्थाओं व सरकारी सेवाओं में बहुत कमी है इस कारण आयोग ने शिक्षा संस्थाओं व सरकारी सेवाओं में 27%

आरक्षण की सिफारिश की, इसके अतिरिक्त भी मण्डल आयोग द्वारा अनेक सुझाव दिए गए जिनमें भूमि सुधार भी एक था।

अगस्त 1990 में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार द्वारा मण्डल आयोग की सिफारिशों में से केन्द्रीय सरकार और इसके संस्थानों, सेवाओं में अन्य पिछड़ा वर्ग को आरक्षण की सिफारिश को लागू किया गया, इस निर्णय से उत्तर भारत के अनेक राज्यों में विद्रोह उभरा। इस फैसले को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गई और यह प्रकरण 'इन्दिरा साहनी' केस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सर्वोच्च न्यायालय ने नवम्बर 1992 में सरकार के निर्णय को उचित बताया।

1989 में मण्डल आयोग की सिफारिशों के लागू होने से आरक्षण की राजनीति अधिक प्रभावी रूप से देश के सम्मुख आयी यद्यपि आरक्षण किसी न किसी रूप में संविधान के लागू होने से ही विद्यमान है परन्तु 1989 के पश्चात् की राजनीति में इस मुद्दे ने अहम भूमिका निभाई। आरक्षण की नीति के विभिन्न आयाम निम्न है[12] –

आरक्षण भारत की विशेष परिस्थितियों में धार्मिक और जातिगत निरपेक्षता से सम्पन्न एक ऐसी नीति है जिसके प्रभाव से हमारा समाज पहले की अपेक्षा अधिक समावेशनकारी हुआ है। धीमी गति से अमल और अनेक बेईमानियाँ करने के बावजूद इस नीति के कारण न केवल दलितों, आदिवासियों और पिछड़ों को वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र को लाभ पहुँचा है, आरक्षण ने भारतीय मध्यमवर्ग की प्रकृति और संरचना परिवर्तित की है, निचली जातियों को प्रगति करने के लिए संस्कृतिकरण की आवश्यकता नहीं होती। राजनीतिक व्यवस्था पर इसका असर गहन और स्थायी है। इन सफलताओं के पश्चात् भी इस नीति में कुछ निहित स्वार्थों ने घुसपैठ भी कर ली है। जिसके कारण आरक्षण का स्वरूप विकृत हो गया है। आरक्षण से सम्बन्धित प्रमुख मुद्दे निम्न है –

नीति के प्रावधान और मूलाधार – भारत में विशेष अवसर के सिद्धान्त पर आधारित नीतियां पिछले साठ सालों से विकसित हो रही, इसके अन्तर्गत उन समुहों को प्रत्येक स्तर पर विधायिकाओं में सरकारी सेवाओं में और शिक्षा संस्थानों में आरक्षण का प्रावधान है जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से हाशिए पर है। कमजोर समुहों को सामाजिक और राजनीतिक रूप से मजबूत करने और उनके लिए आर्थिक अवसर में वृद्धि करने के लिए इसी नीतिगत आग्रह ने अनेक कानूनों, सुधारक कार्यक्रमों और प्राथमिकता देने वाली योजनाओं को जन्म दिया है। इन नीतियों पर अमल राज्य सरकारें व केन्द्र सरकार भी करती है। यद्यपि भारत में इन नीतियों का प्रारम्भ 20वीं सदीं के पूर्व पहले दशक में मैसूर राज्य द्वारा किया गया था। (जिसके अन्तर्गत सरकारी सेवाओं मे विभिन्न समुदायों के लिए

कोटे निर्धारित किए गए थे)। विद्यमान नीतियों के विधिक प्रभाव और वैधता का आधार भारतीय संविधान के प्रावधानों में निहित है। इन नीतियों का लक्ष्य है –

छुआछूत के द्वारा प्रताड़ित रही अनुसूचित जातियों (जो सामाजिक रूप से अलग डाल दी गई थी और जिन पर कर्मकांडीय बहिर्वेशन थोप दिया गया था), और अनुसूचित जाति, जनजाति कहे जाने वाले आदिवासियों में (जो भौगोलिक और सांस्कृतिक अलगाव में डाल दिए गए थे) सामाजिक और धार्मिक दुर्बलताओं को खत्म करना।

सामाजिक रूप से सभी कमजोर और वंचित समुदायों (जिनमें अनुसूचित जातियों और जनजातियों के अतिरिक्त अन्य पिछड़े वर्ग में आने वाली खेतीहर और दस्तकार जातियां सम्मिलित है) को शिक्षा, सरकारी नौकरी और विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व के मामले में प्राथमिकता देकर भागीदारी के समान अवसर प्रदान करना।

संविधान में सामाजिक रूप से वंचित और कमजोर वर्गों के रूप में वर्णित इन सभी समुदायों को अगर आवश्यकता हो तो विधायिकाओं द्वारा कानून निर्मित कर और कार्यपालिका द्वारा आदेश जारी करके सभी तरह के सामाजिक अन्याय और शोषण से सुरक्षा की गारंटी करना।

संविधान सभा की बहसों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि हमारे संविधान निर्माता नीतियों के माध्यम से अन्ततः सामाजिक समता के सिद्धान्त पर आधारित सभी भारतीयों का राजनीतिक समुदाय बनाने के लक्ष्य से प्रतिबद्ध थे।

अमल के दौरान इस नीति का दायरा विस्तृत हुआ है, ठोस रूप से आरक्षण तो इस विस्तृत दृष्टिकोण का एक मात्र पहलू है। अन्य पहलूओं में अनेक प्रकार के कानून बनाना सम्मिलित है। इनमें छुआछूत के विरूद्ध कड़े दण्ड की व्यवस्था करने वाला 1955 का छुआछूत अपराध अधिनियम, 1976 का नागरिक अधिकार सुरक्षा कानून और 1989 का अत्याचार निवारक कानून भी है, 1952 के अपराधी जनजाति कानून को संशोधित किया गया है ताकि, कथित अपराधी जनजातियों की कानूनी दुर्बलताएं समाप्त की जा सकें और बेगार प्रथा समाप्त की जा सके। ऐसे कानून भी पास किए गए जिनके कारण आदिवासियों से गैर–आदिवासियों को जमीन स्थानान्तरित होने पर रोक लगी, सूदखोरी को विनियमित किया गया और समाज के कमजोर वर्गों को ऋण राहत व कानूनी सहायता के प्रावधान निर्मित करने में सहायता प्राप्त हुई। पिछड़े समुदायों को शारीरिक सुरक्षा और व्यवसाय गतिशीलता प्रदान करने के लिए जमीनों का आवंटन, आवासन, छात्रवृत्तियां, आर्थिक रियायतों और कर्जों की व्यवस्था की गई।

इस समग्र नीति का सर्वाधिक विवादास्पद पहलू आरक्षण का प्रावधान था। यद्यपि नीति के अन्य हिस्सों को जिन मूल्यों और मूलाधारों के बिना पर लगाया गया था, उन्हीं के आधार पर आरक्षण की नीति बनाई गई, परन्तु जो इसके लाभार्थी नहीं थे, उन पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा वजह यह थी कि गैर–लाभार्थी के लिए सत्ता की राजनीतिक और नौकरशाहाना संरचनाओं में स्पर्द्धा और तीखी हो गई, समाजिक प्रगति करना उनके लिए और कठिन हो गया।

आरक्षण नीति का मूल्यांकन –

स्वतंत्रता के पश्चात् से अपनायी गयी आरक्षण की नीति के अनेक उपलब्धियों के साथ–साथ कमियां भी है अतः आरक्षण की नीति का मूल्यांकन निम्न प्रकार से है[13] –

आरक्षण की नीति से न केवल दलितों, आदिवासियों और पिछड़ों को वरन् समग्र राष्ट्र को लाभ हुआ है।

प्रथम तथ्य तो यह है कि आरक्षण ने भारतीय मध्यवर्ग की प्रकृति और संरचना को परिवर्तित किया है, अब वह अधिक समावेशी हो गया है। आजादी के समय भारतीय मध्यवर्ग एक जाति समान छोटी सी सामाजिक संरचना सदृश्य था। इसके लगभग सभी सदस्य अंग्रेजी शिक्षित, शहरी और द्विज होते थे। आरक्षण के कारण अब निचली जातियों के काफी सदस्यों ने मध्यवर्ग में प्रवेश पा लिया है। अध्ययन पीठ का अध्ययन दिखाता है कि भारतीय मध्यवर्ग में आरक्षण से लाभान्वित द्वितीय और तृतीय पीढ़ी के लोग सम्मिलित हैं।

दूसरे, आजादी के समय दलितों, आदिवासियों और पिछड़े वर्गों के लिए प्रगति की संभावनाएं सीमित थी। वे अपनी जाति की संरचना के भीतर ही सामूहिक तौर पर प्रगति कर सकते थे। आरक्षण के जरिए मध्य वर्ग के द्वार खुल जाने के कारण न केवल प्रगति की संभावनाएं बढ़ी हैं वरन् प्रगति करने के लिए उन्हें जाति प्रथा द्वारा स्वीकृत कर्मकांडीय संस्तुति, जैसे कि संस्कृतीकरण का सहारा भी नहीं लेना पड़ रहा है। इस परिघटना ने सामाजिक गतिशीलता का स्वरूप परिवर्तित कर दिया है। अब निचली जातियों के सदस्य व्यक्ति के तौर पर मध्यवर्गीय बन सकते हैं, इसी कारण जाति प्रथा की आर्थिक और सांस्कृतिक जड़ें काफी हिल गई हैं।

तृतीय, पचास साल से चल रहे आरक्षण ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर गहरा और स्थायी असर डाला है। शैक्षिक और व्यवसायगत अवसरों की उपलब्धि ने उत्पीड़ित समुदायों में एक नये राजनीतिक नेतृत्व को जन्म दिया है। उत्तर भारत में दलितों की ताकतवर पार्टी बहुजन समाज पार्टी दलित और पिछड़े सरकारी कर्मचारियों को ट्रेड युनियन

की तरह सम्बद्ध करने के प्रयासों का परिणाम है। आरक्षण के अनेक वर्षों में लगभग सभी राज्यों में और हाल ही में केन्द्र में राजनीतिक सत्ता की संरचना परिवर्तित हो गयी है। अंग्रेजी शिक्षित द्विजों की राजनीतिक हुकूमत समाप्त हो रही है। सभी स्तरों पर आरक्षण से लाभान्वित जातियों और समुदायों के सदस्य सत्तासीन हो रहे हैं। हालांकि नौकरशाही में उनकी नियुक्तियाँ कुछ कम अहम पदों पर हैं। परिणाम के तौर पर निचले समुदायों द्वारा समर्थित अनेक पार्टियां राजनीतिक मंच पर दिखाई दे रही हैं। ये दल किसी भी पारस्परिक किस्म के राजनीतिक सम्बन्ध से कड़ी मुखालफत करते हैं। इस नए परिवर्तन से पहले भारतीय राजनीति में निचले तबकों और ग्रामीण समुदायों के नेतृत्व का सम्बन्ध अंग्रेजी शिक्षित द्विज अभिजनों से स्तम्भीय या ऊंच–नीच वाला होता था, अब इस प्रकार की परिस्थिति नहीं है। इन वर्गों के नेता चुनाव में अपने हितों और अस्मिताओं की आक्रामक दावेदारी करते हैं। इसका एक मतलब यह निकाला जा सकता है कि आरक्षण से हुए इस सशक्तिकरण के जरिए इस नये राजनीतिक वर्ग ने सत्ता पर कांग्रेस के एकाधिकार को तोड़ने में भारी योगदान दिया है। अन्ततः कांग्रेसी एकाधिकार अपनी प्रकृति में द्विज और अभिजनोन्मुखी थी। आज यही राजनीतिक वर्ग विभिन्न जातीयता आधारित दलों का नेतृत्व करते हुए एक साथ जातीयता और सामाजिक न्याय की राजनीति कर रहा है। परिणाम यह निकला कि इस तरह की राजनीति जातीय बहुसंख्यकवादी हिन्दूत्व आन्दोलन के खिलाफ मुख्य ताकत के रूप में उभरी है। कुल मिलाकर आरक्षण ने समाज के पुराने शक्ति संतुलन को बदल दिया है, ऐसा स्तर न्यूनतम रह गया है और नागरिक टकराव भी कम से कम दिखाई पड़ता है। दीर्घकालीन दृष्टिकोण से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अभी तक अलग–थलग पड़े रहे समूहों के राजनीतिक समावेशन की पहल सामाजिक नीति के माध्यम से हुई है और इसे उपलब्ध कराने में स्पर्द्धामूलक लोकतांत्रिक राजनीति की भूमिका रही है। इस समावेशन का नतीजा जाति के पुनरूत्पादन की प्रक्रिया भंग करने में निकला है, वरना जाति बीच–बीच में विचाधारात्मक रूप से स्पष्ट सत्ता की जन्म आधारित संरचनाओं के रूप में अवतार लेती रहती। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इस नीति के ऐसे परिणाम नहीं भी निकल सकते थे, अगर उसका आधार स्पर्द्धामूलक लोकतांत्रिक राजनीति में न होता।

वास्तव में आरक्षण ने एक श्रेणी के रूप में व्यक्तियों को और उस प्रक्रिया में उनके परिवारों को विशेष रूप से लाभान्वित किया है, इसका सर्वाधिक निर्णायक प्रभाव यह पड़ा है कि सभी लाभान्वित श्रेणियों के लिए शिक्षा एक सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य बन गई है। उनकी दृष्टि में अब शिक्षा एक ऐसा माध्यम बन गई है जिससे वे आधुनिक बन कर सामाजिक रूप से प्रगति कर सकते हैं।

प्रत्येक ऊर्ध्वगामी समुदाय की तरह इन समुदायों में भी इस प्रक्रिया ने एक 'मलाईदार परत' को जन्म दिया है, जिससे अपेक्षा की जाती है कि वह न केवल समाज के अन्य सदस्यों के लिए उदाहरण बनेगी, वरन् उन्हें व्यवस्था के भीतर प्रवेश करने के अवसर भी उपलब्ध कराएगी। आरक्षण के लाभार्थियों का सत्ता के भीतर एक ऐसा शक्तिशाली वर्ग बनता जा रहा है जो द्विज अभिजनों के दावों को भी पराजित करने में सक्षम हैं चूँकि नौकरशाही और राजनीतिक दायरे में बहुत बड़ी संख्या में आरक्षण से लाभान्वित लोग आ रहे हैं, इसलिए अब उनके लिए अपने बिरादरानों का सत्ता के ढ़ाँचे में प्रवेश करना आसान हो गया है। इस मामले में गुजरात के सूरत जिले का उदाहरण दृष्टव्य है, साठ के दशक में वहां 40 फीसदी प्राईमरी अध्यापक आदिवासी समाज से आए थे इस परिघटना ने दीर्घकालीन स्तर पर दक्षिण गुजरात के आदिवासियों के लिए सत्ता के द्वार खोल दिए, बीस साल में ऐसे अनेक आदिवासी आरक्षण का सहारा लेकर ना केवल अध्यापक वरन् विधायक और सांसद बने, इससे भी अधिक राज्य के मंत्री और मुख्यमंत्री भी बन गए। जब सत्ता में उनकी संख्या अधिक हो गई तो उनके लिए सत्ता के अन्य सूत्रों के साथ जुड़ना संभव हो गया, वे निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने लगे। एक अन्य उदाहरण उत्तर प्रदेश की राजनीति में मायावती और बहुजन समाज पार्टी की राजनीतिक सफलताओं के सामाजिक प्रभव के रूप में देखा जा सकता है।

इन लाभों के बाद भी आरक्षण की नीति अपने कुछ महत्वपूर्ण लक्ष्यों को वेधने मे पूर्ण रूपेण सफल नहीं मानी जा सकती। ऊंचे स्तर की सरकारी सेवाओं में आरक्षण का कोटा पूरा नहीं भरा जा सका है, अनेक समुदाय आरक्षण का लाभ इसलिए नहीं उठा पाते हैं क्योंकि उनके पास शिक्षा का न्यूनतम स्तर है ही नहीं। आरक्षण के साथ–साथ उठाए जाने वाले पूरक प्रयास काफी नहीं, स्पष्ट है कि इन खामियों के पश्चात् भी आरक्षण की नीति ने उत्पीड़ित समुदायों की प्रगतिकांक्षाओं को ठोस आधार प्रदान किया है। आरक्षण की वजह से इन समुदायों को बेहतर साक्षरता और जीवन शैली हासिल करने की प्रेरणा मिली है। पश्चिमी और दक्षिणी राज्यों में तो इस नीति के बेहतर कार्यान्वयन ने अनुसूचित जातियों और पिछड़े वर्गों का जीवन पहले की अपेक्षा कहीं स्तरीय बना दिया है, यहां तक कि अनेक स्थानों पर उनकी महत्ता द्विजों से तुलनीय हो हो गई है।

यद्यपि पिछड़े वर्गों का आरक्षण एक स्थापित नीति है, सभी राजनीतिक दल उसे स्वीकार करते हैं संसद उसका नवीनीकरण कर चुकी है एवं कानूनी व राजनीतिक रूप से उसके लिए कोई खतरा नहीं है, पर आरक्षित श्रेणियों के कुछ समुदायों ने घुसपैठ कर ली है, अगर यह होता रहा तो आरक्षण बेतुका और अर्थहीन हो कर रह जाएगा। यह दुष्प्रभाव

चुनावी राजनीति पर वोट बैंक की राजनीति का है। अपने संख्या बल के आधार पर कोई भी समुदाय अपने पारम्परिक रूप से शुद्र दर्जे का लाभ उठा कर आरक्षण की दावेदारी करने लगता है, जबकि वह वास्तव में पिछड़ा नहीं होता। यहां तक कि उसकी हैसियत आर्थिक और सामाजिक रूप से आगे बढ़े द्विजों जैसी होती है, दिल्ली और राजस्थान के जाट इसका उदाहरण है, इन दोनों स्थानों में जाटों को पिछड़ा वर्ग श्रेणी में सम्मिलित कर लिया गया है, राजस्थान के जाटों में सभी पिछड़े नहीं है, यहां तो जाटों के राजपरिवार और राजवंश तक हैं। दिल्ली के जाट किसी भी रूप में पिछड़े नहीं है, शहरी क्षेत्रों में रहने के कारण उन्हें बेहतर अवसर प्राप्त होते हैं, शहरीकरण के प्रयास के कारण उन्हें अपनी जमीनों की उच्च कीमतें प्राप्त हुई हैं। साथ ही हरियाणा और उत्तरी दिल्ली के जाट आर्य समाज आन्दोलन से प्रभावित रहे हैं जिसके कारण भी उन्हें अपने पिछड़ेपन से मुक्ति प्राप्त करने में सहायता मिलती है। दिल्ली के जाट राजनीतिक रूप से ताकतवर और संख्याबल के धनी है। कुल मिलाकर यह पिछड़ा बनने की स्पर्द्धा आरक्षण की नीति को भारी हानि पहुंचा सकती है।

हो सकता है कि कुछ जातियों में बीस या तीस फीसदी परिवार अभी भी पिछडी जीवन स्थितियों में भरण–पोषण करने पर मजबूर हो, परन्तु तथ्य यह है कि ऐसी जातियों के मध्य सामाजिक और शैक्षिक पिछड़े किस प्रकार से छाँटे जाएँ, इसका आधार क्या हो? शैक्षिक पिछड़ों की पहचान किसी जाति में स्नातकों की संख्या या विद्यालय जाने वाले या बीच में विद्यालय छोड़ देने वाले विद्यार्थियों की संख्या के आधार पर एक सीमा तक की जा सकती है, परन्तु सामाजिक रूप से पिछड़ों की पहचान करना अत्यन्त कठिन है। मण्डल आयोग ने इस तरह के पिछड़ेपन को बाल विवाह के प्रचलन या विधवा विवाह के विरोध से जोड़ कर देखा था, परन्तु इसके पश्चात् भी यह पहचान अभी भी समस्याग्रस्त बनी हुई है।

सर्वोच्च न्यायालय के एक आदेश के पश्चात् केन्द्र और राज्यों में पिछड़ा वर्ग आयोगों के बनने से तकनीकी रूप से सभी जातियों को, चाहे वे ब्राह्मण हो या शुद्र, सुविधा हो गई है कि वे स्वयं के पिछड़े होने का दावा प्रस्तुत कर सकती हैं। कानून के अनुसार किसी समुदाय के पिछड़े होने या न होने का आयोग द्वारा किया गया निर्णय सरकार के लिए बाध्यकारी होता है। चूँकि राजनेता ही आयोग के सदस्यों को तीन साल के लिए नियुक्त करते हैं, इसलिए राजनीतिक उद्दश्यों से आयोग को अपनी बात मनवाने के लिए विवश करने के उदाहरण भी हैं। यह समस्या पिछड़ा वर्ग आयोग को स्थायी संस्था के रूप में स्थापित करने पर भी प्रश्नचिन्ह लगाती है। एक निश्चित अवधि के लिए आयोग बना

कर उसका एजेण्डा निश्चित किया जाना चाहिए ताकि नीति को अधिक तर्क संगत बनाया जा सके।

जहां तक पिछड़ेपन की सीमा से ऊपर उठ चुके समुदायों का प्रश्न है, वास्तव में पिछड़ेपन से जुझ रहे समुदाय आयोग के पस जा कर अपील कर सकते हैं, कि अमुक समुदाय अब पिछड़ा नहीं रह गया है, वे तथ्य प्रस्तुत कर सकते हैं कि उस समुदाय में इतने डॉक्टर, वकील, इंजीनियर और स्नातक है, इसलिए अब उसे पिछड़ा नहीं समझा जाना चाहिए। आयोग के समक्ष अगर यह दावा किया जाए कि सैनी समुदाय अब पिछड़ा नहीं रह गया है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। यहां तक कि व्यक्ति के तौर पर या कोई गैर सरकारी संगठन भी इस तरह का प्रतिवेदन दे सकता है।

यह आश्चर्य की बात है कि राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग ने आज तक अत्यधिक पिछड़े वर्गों की अलग से पहचान नहीं की है। अति पिछड़ों की पहचान करके आयोग पिछड़े नहीं रह गए समुदायों को निकालने की प्रक्रिया को अधिक सकारात्मक रूप प्रदान कर सकता है। अति–पिछड़े की पहचान करने में एक तथ्य की सावधानी रखनी होगी, उत्तर और दक्षिण की स्थिति में इस प्रश्न पर भिन्नता है। दक्षिण में आरक्षण नीतियों के दीर्घकालीन और बेहतर कार्यान्वयन के कारण बहुत से अति पिछड़े समुदाय अब पिछड़े नहीं रह गए है, जैसे केरल के एझव लोग। वे किसी समय बहुत पिछड़े थे, पर विशेष अवसरों की प्राप्ति, आधुनिकीकरण और श्रीनारायण गुरू के धार्मिक सुधार आन्दोलन के कारण आज यह समुदाय डॉक्टरों और वकीलों से भरपूर है कर्नाटक के लिंगायत भी इसका एक उदाहरण है।

इन सभी कमियों के उपरान्त भी विशेष अवसरों की नीति को बनाए रखने और मजबूत करने की आवश्यकता आज पहले की अपेक्षा अधिक है। अर्थव्यवस्था राज्य के नियंत्रणों से मुक्त होती जा रही है, ऐसी स्थिति में सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह कमजोर वर्गों की बाजार की सर्वभक्षी प्रक्रियाओं से रक्षा करें ताकि वे उत्तरोत्तर फैलती हुई अर्थव्यवस्था में पूर्णरूप से भागीदारी कर सकें। कोई भी आर्थिक सुधार तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक दलितों, आदिवासियों और पिछड़े वर्गों की उनमें साझेदारी न हो। उदारीकरण का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सरकार शासन करना बन्द करके देश के गरीबों और कमजोरों को 'बाजार की शक्तियों' के ऊपर छोड़ दे।

बाजार के माध्यम से यदि समरूपता प्राप्त होती है तो सरकार को हर उस स्थान पर सावधानी से बराबर के अवसर उपलब्ध कराने होगें जहाँ वे उपलब्ध नहीं हैं। विशेष अवसरों का सिद्धान्त और उस पर अमल की नीतियाँ इसका सबसे सक्षम माध्यम है।

सरकार को पहल करके उन लोगों के लिए सामाजिक न्याय उपलब्ध कराना होगा जो बाजार अर्थव्यवस्था और नागरिक समाज के किनारे पर पडे हैं। न्यूनतम हस्तक्षेप में विश्वास करने वाला राज्य भी इस उत्तरदायित्व से दूर नहीं हो सकता, यदि वह ऐसा करेगा तो न केवल आर्थिक सुधारों पर चोट होगी वरन् राज्य का जातीय रूप से तटस्थ व लोकतांत्रिक चरित्र भी खतरे में पड़ जाएगा।

वर्तमान में आरक्षण से सम्बन्धित दो प्रमुख मुद्दे हैं –

एक ऐसी नीति का निर्माण करना और उस पर अमल करना जो सावधानी से जाँच पड़ताल करके यह तय करे कि आरक्षण से लाभान्वित होने वाले कौन–कौन से समुदायों को अब आरक्षण की आवश्यकता नहीं रह गई है, आशय यह है कि उन्हें अब पिछड़ा नहीं समझा जाना चाहिए। इन समुदायों को आरक्षण की सूची से बाहर कर देने से उन अत्यन्त पिछड़े समुदायों को लाभ मिलेगा जो दरअसल इन ताकतवर समुदायों द्वारा अधिकतम लाभ प्राप्त करते आ रहे हैं।

कारपोरेट (निजी) क्षेत्र के लिए विशेष अवसरों के सिद्धान्त पर आधारित नीतियाँ सूत्रबद्ध करना। यह भाव बढ़ता जा रहा है कि निजी क्षेत्र में भी भर्ती से सम्बन्धित नीतियाँ सामाजिक न्याय की आवश्यकताओं के आधार पर बदलनी चाहिए। मुद्दा यह है कि निजी क्षेत्र के लिए ऐसी नीतियां अलग से बनाई जाएं या फिर सरकारी क्षेत्र के लिए बनाई गई नीतियों के आधार पर ही उनका भी खाका तैयार किया जाए।

(दोनों मुद्दे, प्रगति कर चुके समुदायों से आरक्षण के लाभ वापस लेना और निजी क्षेत्र में नौकरियों को सामाजिक न्याय की जरूरतों के अनुसार निकट भविष्य में दिलवायी जावें।)

राजस्थान की राजनीति में जाति – राजस्थान की राजनीतिक प्रणाली का आधारभूत तत्व सामाजिक संरचना एवं राजनीतिक पद्धति के मध्य अन्तर्सम्बन्ध है। भारत के अनेक राज्यों में राजनीति का तरीका, राजनीतिक नेतृत्व की शैली, स्थायित्व और अस्थायित्व का प्रश्न, राजनीतिक पद्धति की प्रभावशीलता अत्यधिक रूप से जाति संरचना द्वारा प्रभावित होती है। अधिकतर राज्यों में राजनीति के आधुनिकरण का तात्पर्य समाज के परम्परागत समुदायों की राजनीतिक गतिशिलता से है। ऐतिहासिक वंशों के लिए जाति राजनीतिक क्रिया के लिए महत्वपूर्ण सीढ़ी है। राजस्थान जैसे राज्य में जहां बहुत कम आधुनिकीकरण हुआ है, जातिगत झुकाव ही इसकी महत्वपूर्ण विशेषता है, राजनीतिक नेतृत्व द्वारा प्रभावशाली व स्थायी राजनीतिक पद्धति के लिए जातिगत संरचना का उपयोग किया जाता है।[14]

यदि राजस्थान की राजनीति का व्यवहारिक स्वरूप देखें और प्रथम आमचुनाव से आकलन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि शनैः–शनैः दलों में राजनीतिक आदर्श तथा सिद्धान्त महत्वहीन होते चले गए तो नेतृत्व का आधार जातिवाद पर बढ़ता गया। रियासतों के एकीकरण तथा निर्माण के पश्चात् सामन्तों के लिए सत्ताच्यूत होना असहनीय था अतः उन्होंने राजपूत जाति को साथ लेकर लोकतांत्रिक मार्ग से सत्ता प्राप्ति का प्रयत्न किया। प्रथम विधानसभा चुनाव में 160 सदस्यों के सदन में सर्वाधिक 54 राजपूत निर्वाचित हुए, 22 ब्राह्मण, 12 जाट, 15 वैश्य, अनुसूचित जाति के 10 तथा जनजाति के 6, 2 मुस्लिम एंव 39 अन्य जातियों से सम्बन्धित थे।

प्रारम्भिक वर्षों में यद्यपि अनेक छोटे–छोटे दल थे परन्तु कांग्रेस को सर्वाधिक तीव्र चुनौती का सामना सामन्त शक्ति से करना पड़ा, किन्तु द्वितीय आम चुनावों में सामन्त शक्ति कुछ क्षीण हुई, इसका संभावित कारण जोधपुर के पूर्व महाराज हनुवन्तसिंह की आकस्मिक मृत्यु रही। क्योंकि वे सामन्तों का नेतृत्व कर रहे थे। द्वितीय विधानसभा चुनाव में राजपूत 26 ही निर्वाचित हुए, जबकि जाटों की संख्या 23 हो गयी जो की प्रथम आम चुनाव में 12 ही थे।

आरम्भिक वर्षों का विश्लेषण किया तो स्पष्टरूप से परिलक्षित होता है कि जातियों की दो धाराएं रही। प्रथम कांग्रेस के पक्ष में जाट, ब्राह्मण, वैश्य, मुसलमान, अनुसूचित जाति व जनजाति वर्ग थे, द्वितीय सामन्तों के पक्ष में मुख्य रूप से राजपूत जाति रही आगे भी न्यून या अधिक रूप से इस प्रकार का प्रवाह चलता रहा।

राजपूत जाति क्योंकि कांग्रेस के पक्ष में नहीं थी इसलिए प्रथम आमचुनाव के पश्चात् जयनारायण व्यास ने कांग्रेस को सुदृढ़ करने के लिए 22 राजपूत, जागीरदार विधायकों को कांग्रेस में सम्मिलित कर लिया, जिससे जाट नेता क्रुद्ध हो गए और व्यास के विरूद्ध कांग्रेस में ही विद्रोह हो गया और शक्ति परीक्षण में वे सुखाड़िया से परास्त हो गए। इसके पश्चात् जाटों के वर्चस्व में वृद्धि हुई किन्तु कुशल राजनीतिज्ञ मोहनलाल सुखाड़िया ने जब शक्ति संतुलन के लिए जाटों की शक्ति का विखण्डन किया तो कांग्रेस में पुनः विद्रोह हुआ और 1966 में जाट नेता कुम्भाराम आर्य ने राजपूतों के नेता झालावाड़ के पूर्व महाराजा हरिश्चन्द्रसिंह को साथ लेकर कांग्रेस पार्टी का परित्याग कर दिया। देश में जाटों की एकता के नाम पर अलग संगठन निर्मित किए, इसके पश्चात् जाट राजनीतिक शक्ति के केन्द्र बिन्दु बन गए, इसी परिप्रेक्ष्य में 1967 से 1980 तक सत्ता में जाटों की सशक्त भागीदारी रही परन्तु भाजपा के तत्कालीन नेता भैरोसिंह शेखावत के सुदृढ़ व्यक्तित्व के कारण जाटों की शक्ति सीमित हुई, 1998 के लोकसभा चुनाव के दौरान पूर्व प्रधानमंत्री

अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा जाटों को आरक्षण प्राप्त हो जाने के पश्चात् जाटों ने पुनः शक्ति प्राप्त की परन्तु राजस्थान में कोई महत्वपूर्ण जाट नेतृत्व नहीं है।

स्वतन्त्र पार्टी की 1959 में स्थापना, तृतीय आम चुनाव (1962) के पूर्व जयपुर की महारानी गायत्री देवी का स्वतन्त्र पार्टी में सम्मिलित होने से सामन्त शाही व राजपूत जाति का राजनीति में महत्वपूर्ण प्रभाव रहा किन्तु 1967 में जबकि अनेक राज्यों में कांग्रेस की सरकारों का पतन हुआ, इसे इन्दिरा गांधी ने चुनौती के रूप में लिया, उन्होंने सामन्तों तथा उद्योगपतियों की बढ़ती शक्ति को रोकने की दृष्टि से 14 बैंको का राष्ट्रीयकरण किया, इसके पश्चात् राजाओं के प्रिवीपर्स, उपाधियां, रियासतों के झण्डे, तोपों की सलामी तथा अन्य विशेषाधिकारों को समाप्त करने के लिए संविधान में आवश्यक संशोधन कराए, इन घटनाओं से स्वतंत्र पार्टी और सामन्तशाही कमजोर हो गयी।

प्रथम चार विधानसभा चुनावों तक राजनीति में प्रभावशाली जातियाँ जाट, राजपूत, ब्राह्मण तथा वैश्य रहीं।

1977 के पश्चात् जातिगत आधार वृहद् होने लगा ब्राह्मण, राजपूत व सम्पूर्ण देश में 1977 के चुनाव परिणामों पर पिछड़ी जातियों के मतदान का अधिक प्रभाव पड़ा, विशेषकर उत्तर भारत में लोकसभा के चुनावों के पश्चात् 1977 में अनेक राज्यों के विधानसभा के चुनाव हुए एवं अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें निर्मित हुई, इन सरकारों के निर्माण में पिछड़ी जाति के नेताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। केन्द्र सरकार ने 1978 में पिछड़े वर्ग की पहचान व स्थिति सुधारने के लिए मण्डल आयोग की स्थापना की।

केन्द्र की वी.पी. सिंह सरकार द्वारा आयोग की सिफारिशें लागू करने का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर हुआ, विशेष रूप से उत्तर भारत के राज्यों में इस प्रावधान के पक्ष विपक्ष में आन्दोलन होने लगे, करोड़ों रूपये की सम्पत्ति को जला दिया गया, सवर्ण जातियों के बेरोजगारों द्वारा आरक्षण के विरूद्ध आत्मदाह की घटनाएं हुई, महीनों तक जीवन उच्छृंखलित रहा। राजस्थान भी इस प्रकार की घटनाओं से अछुता नहीं रहा, जयपुर, अजमेर तथा कोटा में आत्मदाह के प्रयास हुए, समाज जातियों में विभक्त हो गया, राजनीतिक दलों मे विभिन्न जातियों को आरक्षण दिलवाने की होड़ लग गयी थी। एक जाति को प्रदान किये जाने वाला आरक्षण, दूसरी जाति में विरोध एवं राजनीति संघर्ष का आधार बन गया, चुनाव प्रभावित होने लगे। राजनीतिक दलों में सैद्धान्तिक एवं वैचारिक कार्यक्रमों के समर्थन एवं विरोध के स्थान पर जातिवाद प्रमुख आधार हो गया।

1990 के विधानसभा चुनाव में कांग्रेस परास्त हुई और भाजपा–जद गठबन्धन की सरकार निर्मित हुई, अन्य अनेक कारणों के साथ इसका प्रमुख कारण जाट–राजपूत जातीय

समीकरण रहा। केन्द्र में भी भाजपा के बाहरी समर्थन में जनता दल की सरकार विश्वनाथ प्रताप सिंह निर्मित कर चुके थे। वरिष्ठ जाट नेता नाथूराम मिर्धा 1989 में राजस्थान जनता दल के अध्यक्ष तथा केन्द्र में मंत्रीमण्डल के सदस्य थे। सीकर क्षेत्र से लोकसभा के सदस्य एवं हरियाणा के वयोवृद्ध जाट नेता चौधरी देवीलाल इस सरकार में उपप्रधानमंत्री थे। देवीलाल एवं भैरोसिंह शेखावत के मध्य गहरी राजनीतिक मित्रता थी, देवीलाल के पारिवारिक जन (पौत्र) अजय सिंह और कुछ समर्थकों ने विधानसभा का चुनाव लड़ा और वे निर्वाचित हुए। जनतादल के टिकट पर 5 जाट लोकसभा में व 5 राजपूत भाजपा से निर्वाचित हुए, इस प्रकार दोनों ही निर्वाचनों से जाट–राजपूत मतदाताओं का एक सुदृढ़ मोर्चा कांग्रेस के विरूद्ध निर्मित हुआ, 1990 के विधानसभा चुनावों में कुल 32 जाट उम्मीदवार निर्वाचित हुए उनमें से मात्र 7 कांग्रेस के थे एवं कुल 19 राजपूत जीते जिनमें से कांग्रेस के 2 विधायक थे।

शेखावत सरकार के शासनकाल में जब शेखावत स्वयं के हृदय के उपचार के लिए विदेश गए तब उनके पीछे से भाजपा में ही उनके विरूद्ध षड्यंत्र कर उन्हें पद से च्यूत करने के प्रयास किए गए, परन्तु शेखावत की कुशलता के कारण इस प्रकार के प्रयास विफल रहे, इसका भारतीय जनता पार्टी को महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुआ, शेखावत के राजनीतिक कौशल में वृद्धि हुई, जाट जाति जो सदैव से ही कांग्रेस के खेमे में थी वह भाजपा के पक्ष में आने लगी। जाट नेता नाथूराम मिर्धा के समीपस्थ समर्थक चन्द्रराज सिंघवी कांग्रेस को त्याग कर भाजपा में आ गए। 30 अगस्त, 1996 को नाथूराम मिर्धा का निधन हो जाने पर 8 फरवरी, 1997 को नागौर क्षेत्र का उपचुनाव हुआ, जिसमें स्वर्गीय नाथूराम मिर्धा के पुत्र भानुप्रकाश मिर्धा भाजपा उम्मीदवार होकर कांग्रेस के पूर्व केन्द्रीय मंत्री रामनिवास मिर्धा को केवल 131 वोटों से परास्त कर निर्वाचित हुए, दोनों के मध्य कड़ी प्रतिस्पर्द्धा थी।

ग्यारहवीं विधानसभा जो कि 1998 से 2003 तक रही में जातिवार विवरण इस प्रकार रहा – जाट 35, ब्राह्मण 20, राजपूत 18, वैश्य 17, मुस्लिम 13, गुर्जर 10, यादव 2, अनुसूचित जाति 33, अनुसूचित जनजाति 24 तथा अन्य कुछ छोटी–छोटी जातियों से सम्बन्धित रहे।

लोकसभा के 1999 में सम्पन्न निर्वाचन के समय झुंझूनू की एक जनसभा में तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने जाटों को अन्य पिछड़ी जाति में सम्मिलित करने की घोषणा की, इससे भारतीय जनता पार्टी को बहुत अधिक राजनीतिक लाभ प्राप्त हुआ। भाजपा को राजस्थान से लोकसभा की 25 में से 16 सीटें प्राप्त हुई। जाटों को अन्य

पिछड़ी जाति में आरक्षण प्राप्त होने से राजस्थान में राजपूत जाति में तीव्र असंतोष की भावना उत्पन्न हो गयी, राजपूत नेतृत्व ने सामाजिक न्याय मंच का गठन कर आरक्षण प्राप्त होने से पंच, सरपंच, प्रधान, जिला प्रमुख के पद पूर्व की अपेक्षा अधिक संख्या में जाटों के पास आ गए, विधायकों व सांसदों की संख्या में भी वृद्धि हुई कांग्रेस में जाट जाति के नेताओं का एक गुट जाट मुख्यमंत्री नियुक्त करने का दबाव उच्च कमान पर निर्मित करने लगा, जाट नेताओं को जाट महासभा का भी समर्थन प्राप्त था। केन्द्रीय नेतृत्व ने कांग्रेस में बढती हुई गुटबन्दी व भावी विधानसभा निर्वाचन को दृष्टि में रखते हुए 25 जनवरी 2003 को नए नेता श्रीमती कमला और अनुसूचित जाति के बनवारीलाल बैरवा को उपमुख्यमंत्री नियुक्त किया। गहलोत मंत्रीमण्डल में जाट जाति की संख्या अन्य की अपेक्षा सर्वाधिक थी, संसदीय सचिव सहित 42 में से 9 जाट थे।

राजस्थान में 2003 के विधानसभा चुनाव के समय भाजपा ने गुर्जर समुदाय को अनुसूचित जनजाति के दायरे में लाने का वचन दिया यद्यपि गुर्जर राज्य में पिछड़े वर्ग में सम्मलित है परन्तु अनुसूचित जनजाति का दर्जा प्राप्त करने की मांग उनके मध्य लोकप्रिय हो गई तो इसलिए कि उन्हें लगता है ऐसा होने पर आरक्षण का अधिक लाभ इन्हें मिल जाएगा। जब चुनाव में दिया गया आश्वासन पूर्ण नहीं हुआ तो गुर्जर समुदाय में आक्रोश स्वाभाविक था मई–जून 2007 में वे सड़कों पर उतर आए, धरने दिए, प्रदर्शन किए, उग्र हिंसात्मक घटनाएं हुई और इन घटनाओं से दबाव में आई राज्य सरकार ने इनकी मांग पर विचार करने के लिए न्यायमूर्ति जसराज चौपड़ा की अध्यक्षतामें 4 जून 2007 को समिति गठित की।

गुर्जर आरक्षण मामले के उठने के पश्चात् गुर्जर और मीणा जाति एक दूसरे के शत्रु हो गए, गुर्जरों ने चेतावनी दी कि 15 दिसम्बर 2007 तक यदि जनजाति के आरक्षण की चिट्ठी नहीं भेजी गयी तो आन्दोलन किया जाएगा, वहीं मीणा समाज ने गुर्जरों की मांग का विरोध करते हुए अपने वर्ग के विधायकों को त्यागपत्र देने को कहा। गुर्जरों की मांग के विरोध में मीणा जाति भी लामबन्द हो गई, मीणा समाज की जयपुर के समीप पालड़ी मीणा गांव में हुई महापंचायत में तत्कालीन केन्द्रीय वन राज्यमंत्री रामनारायण मीणा भी सम्मिलित हुए। संघर्ष समिति के संयोजक श्री नारायण ने स्पष्ट किया कि जनजाति के आरक्षण में विभाजन स्वीकार नहीं किया जाएगा, उन्होने चौपड़ा समिति को भंग करने की मांग की। गुर्जर–मीणा समाज के समान राजपूत ने भी आरक्षण की मांग उठायी, राजपूत करणी सेना ने महिला को साथ लेकर आरक्षण की कढ़ाई का निर्णय लिया।

जस्टिस जसराज चौपड़ा समिति ने रिपोर्ट में स्पष्ट किया कि गुर्जर समुदाय को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में सम्मिलित करना संवैधानिक नहीं है। इस वर्ग में जिन समुदायों को सम्मिलित करना है उनके लिए निश्चित कसौटियां बनी हुई हैं और यह मांग उन पर खरी नहीं उतरती यद्यपि रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि ये कसौटियां पुरानी पड़ चुकी है और वर्तमान संदर्भ में इनमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

ऐसी बात नहीं है कि अनुसूचित जनजाति का दायरा निर्धारित करने वाली शर्तों से भाजपा अनभिज्ञ रहे हों परन्तु वोटों की राजनीति से प्रभावित हो भाजपा ने चुनाव पूर्व इस का वचन दिया। चोपड़ा समिति की रिपोर्ट से नाराज गुर्जर नेताओं ने पुनः चक्का जाम करने व महापड़ाव डालने की चेतावनी दी। दूसरी तरफ राज्य सरकार ने बिना किसी टिप्पणी के समिति की रिपोर्ट यूपीए सरकार के पास भेज कर सम्पूर्ण मामले को केन्द्र पर डालने का प्रयास किया।

चोपड़ा समिति की रिपोर्ट आने के पश्चात् राजनीतिक नुकसान की भरपाई करने की मंशा से वसुन्धरा सरकार ने कुछ मंत्रियों की एक उपसमिति गठित कर दी, जो गुर्जरों के पिछड़ेपन के मद्देनजर विधानसभा के आगामी सत्र से पूर्व सिफारिशें प्रस्तुत करेगी सरकार द्वारा दिए गए आवश्यक सुझाव दे सकती है। उदहारण के लिए, समिति ने कहा कि उन स्थानों में विकास कार्यों में तेजी लाई जाए जहां गुर्जरों की बड़ी आबादी निवास करती है, उन्हें स्वच्छ पेयजल मुहैया कराने, उनके बालकों को विद्यालयों में प्रवेश में वृद्धि करने और उन तक स्वास्थ्य सेवाओं की पहुंच बढ़ाने के उद्देश्य से बजट में उदारता से आवंटन किया जाए जिन्हें दूर करने में कोई संवैधानिक अड़चन नहीं है। विडम्बना यह है कि भाजपा ने चुनाव के समय एक असंवैधानिक आश्वासन देकर विवाद को जन्म दिया[15]।

12वीं विधानसभा का जातिगत विवरण – विधानसभाओं और लोकसभा में अन्य पिछड़ी जातियों के स्थानों का आरक्षण नहीं है किन्तु 1990 में मण्डल आयोग लागू होने के पश्चात् इनका प्रतिनिधित्व सभी स्थानों पर बढ़ गया। विधानसभा चुनाव में अन्य पिछड़ी जातियों के कुल 53 विधायक निर्वाचित हुए उनमें भारतीय जनता पार्टी के 31 तथा कांग्रेस के 22 है। जिनमें से सर्वाधिक 27 विधायक जाट हैं। 27 में से 13 भाजपा के तथा 14 कांग्रेस के हैं, द्वितीय स्थान गुर्जरों का हैं जो कुल 8 निर्वाचित हुए जिनमें से 6 भाजपा में तथा 2 कांग्रेस के हैं। 22 राजपूत विधायक चुने गए इनमें से 18 भाजपा तथा 4 कांग्रेस के हैं। भाजपा विधायक देवी सिंह भाटी ने जाट आरक्षण के पश्चात् राजपूतों को अन्य पिछड़ा वर्ग में सम्मिलित करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया। सवर्णों में कुल 15 ब्राह्मण विधायक निर्वाचित हुए उनमें से भाजपा के 7 और कांग्रेस के 8 हैं, 18 महाजन विधायकों

मेंसे 13 भाजपा के तथा कांग्रेस के 5 चुने गए, 5 मुसलमान निर्वाचित हुए जिनमें से 4 कांग्रेस के तथा 1 भाजपा से थे। 3 सिक्खों में से भाजपा के 2 और कांग्रेस के 1 थे। 1 कायस्थ कांग्रेस से व 1 सिन्धी भाजपा से निर्वाचित हुए। 24 विधायक अन्य दलों से जैसे 4 इंडियन नेशनल लोकदल, 2 बहुजन समाजवादी पार्टी, 2 जनतादल (एकीकृत), 1 कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), दो अन्य दलों से और 13 निर्दलीय निर्वाचित हुए जिनमें से 8 जाट, 2 ब्राह्मण, 2 राजपूत, 2 वैश्य, 1 माली, 2 अनुसूचित जाति व लगभग 7 अनुसूचित जनजाति के है।

राजस्थान में व्यक्तिगत विश्लेषण से परिलक्षित होता है कि प्रारम्भ से ही कांग्रेस के पक्ष में जाट, ब्राह्मण, वैश्य, मुसलमान, अनुसूचित जाति एवं जनजाति रही एवं स्वतन्त्र्योत्तर युग में कांग्रेस को सामन्तों से कड़ी चुनौती प्राप्त हुई एवं उनके समर्थन में राजपूत जाति रही। आने वाले वर्षों में जातिगत उतार–चढ़ाव बना रहा। जाट विधायकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही, स्वतंत्र पार्टी के पतन के पश्चात् राजपूत विधायकों की संख्या क्षीण हुई। ब्राह्मणों, मुसलमानों एवं वैश्यों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई, 1989 में मण्डल कमीशन की रिपोर्ट लागू होने से अन्य पिछड़ी जातियों की संख्या बढ़ी एवं लोकसभा व विधानसभा में अनुसूचित जाति व जनजाति के आरक्षण से उनमें उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। 1989 के पश्चात् भाजपा ने राममंदिर मुद्दे को चलाया जिससे ब्राह्मणों की धार्मिक भावनाएं उद्वेलित हुई एवं वे भाजपा में सम्मिलित हुए। 1998 में भाजपा सरकार द्वारा जाटों को आरक्षण प्रदान किया। पिछले 12 विधानसभा चुनावों में 4 बार गैर कांग्रेसी सरकारें निर्मित हुई 1977, 1990, 1993 और 2003 में प्रथम समय जनता पार्टी, दो बार भाजपानीत संयुक्त सरकारें एवं 2003 में भाजपा की सरकार का गठन हुआ। चुनाव विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि जहां–जहां अनुसूचितजाति व जनजाति के अधिकांश सदस्य कांग्रेस के विरूद्ध मतदान करते है तब–तब गैर कांग्रेसी सरकारें निर्मित होती है।

पिछले 12 विधानसभा चुनाव परिणामों के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि अनुसूचित जाति एवं जनजाति के स्थान आरक्षण के पश्चात् भी जाट उनके समान संख्या में ही निर्वाचित होते हैं, अनुसूचित जाति 360, अनुसूचित जनजाति 263, जाट 346, राजपूत 308, ब्राह्मण 281, वैश्य 218, मुसलमान 79, गुर्जर 72, एवं सिक्ख, सिन्धी, पंजाबी 52 निर्वाचित हुए, इन आंकड़ों को लगभग के आधार पर विश्लेषण की दृष्टि से सवीकृत किया है।

TOTAL SEATS
ELECTED M.L.AS. OF CONGRESS AND OTHER PARTIES IN

Year	No. of Seats	JAT		RAJPUT		BRHAMAN		VASHYA		MUSLIM		SC	
		Total	INC	Total	INC	Total	INC	Total	INC	Total	INC	Total	INC
1952	160	12	9	54	3	22	19	15	13	2	2	10	9
1957	176	23	16	26	15	24	22	14	9	4	4	16	10
1962	176	24	15	36	12	27	16	18	8	3	2	29	12
1967	184	28	14	29	9	26	17	22	11	6	4	34	13
1972	184	33	22	22	19	21	14	22	18	6	5	32	27
1977	200	32	13	21	3	24	2	24	2	9	2	36	9
1980	200	30	19	19	12	28	18	20	9	10	9	35	21
1985	200	32	12	19	6	34	21	12	4	8	5	34	24
1990	200	32	7	19	2	19	4	18	3	8	3	35	6
1993	200	38	18	23	7	21	7	18	5	5	4	33	6
1998	200	35	24	18	13	20	18	17	12	13	11	33	30
2003	200	27	14	22	4	15	8	18	5	5	4	33	5
Total		**346**	**183**	**308**	**105**	**281**	**166**	**218**	**99**	**79**	**55**	**360**	**172**

RAJASTHAN IN DIFFERENT CASTES FROM 1952 TO 2003

ST		OBC		YDAV		GURJAR		VISHNOI		SIKH/ SINDHI/ PANJANBI		MALI		KAYASTH		SIRVI	
Total	INC	Total	INC	Total	INC	Total	INC	Total	INC	Total	INC	Total	INC	Total	INC	Total	INC
6	4	4	2	4	3	2	-	-	-	1	1	2	-	1	1	-	-
14	9	6	5	2	1	1	1	2	2	2	1	1	1	1	-	-	-
20	10	5	4	1	1	-	-	2	1	3	1	1	1	3	2	-	-
20	10	7	2	1	-	3	1	3	3	3	1	-	-	2	2	-	-
22	16	11	11	2	2	2	1	4	4	5	2	1	-	2	2	-	-
25	1	8	3	3	-	8	1	2	1	6	1	-	-	1	1	1	1
26	16	9	9	3	3	8	6	3	3	5	3	1	1	2	1	1	1
26	20	12	6	2	1	9	3	3	3	4	2	3	3	2	2	-	-
29	10	11	3	3	1	12	5	4	3	6	1	2	-	1	1	1	-
27	12	12	5	2	1	9	4	3	2	7	4	1	-	-	-	1	1
24	19	12	7	3	2	10	6	5	4	5	4	3	2	1	1	1	1
24	6	53	22	2	2	8	2	2	1	5	1	2	1	1	1	0	0
263	**133**	**150**	**79**	**28**	**17**	**72**	**30**	**33**	**27**	**52**	**22**	**15**	**9**	**17**	**14**	**5**	**4**

16

नोट :–

1) 1998 के विधानसभा चुनाव के बाद जाट अन्य पिछड़ी जाति में सम्मिलित कर दिये गये हैं।

2) अन्य पिछड़ी जातियों की संख्या बढ़ती जा रही हैं। अन्य जातियों के विधायक भी चुने जाने लगे हैं।

3) 2003 में उपरोक्त के अतिरिक्त जो चुने गये वे इस प्रकार हैं : भाजपा में पाटीदार 1, धाकड़ 3, कलबी 2, कुमावत 3, रावत 1, सभी ओबीसी में हैं। कांग्रेस में चारण 1, कलाल 11

4) कांग्रेस–भाजपा के अलावा 24 विधायक अन्य दलों से तथा निर्दलीय हैं। उनकी जातियों का पता अधिकृत रूप से नहीं मिल सका।

संदर्भ ग्रन्थ –

1. दुबे, अभय कुमार (सम्पादक) – भारत में राजनीति, कल और आज, रजनी कोठारी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ0 25
2. चौबे, कमल नयन – जातियों का राजनीतिकरण, बिहार में पिछड़ी जातियों के उभार की दास्तान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ0 36
3. धुर्ये, जी.एस. –कास्ट, क्लास एण्ड ऑक्यूपेशन, पॉपुलर बुक डिपो, बाम्बे,1969, पृ0 1
4. लीच, एडमण्ड आर – इंट्रोडक्शन, व्हाट शुड बी मीन बाई कास्ट? संकलित, ई.आर. लीच (सं) आस्पेक्ट्स ऑफ कास्ट इन साउथ इण्डिया, साइलोन एण्ड वेस्ट पाकिस्तान, कैम्ब्रिज, इंग्लैण्ड, 1960, पृ0 1 – 2
5. कोठारी, रजनी – कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स, ऑरिएन्ट लान्गमैन, दिल्ली, पृ0 4
6. डॉ0 बसु, डी.डी. – भारत का संविधान एक परिचय, वाधवा एण्ड कम्पनी, नागपुर 1997, पृ0 383
7. मंगलानी, रूपा – भारतीय शासन एवं राजनीति, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2005, पृ0 487
8. मंगलानी, रूपा – उपरोक्त पृ0 490, 491
9. कोठारी, रजनी – पॉलिटिक्स इन इण्डिया, ऑरिएन्ट लांगमैन, बम्बई, 1970, पृ0 225
10. फडिया, बी.एल., डॉ0 जैन, पुखराज – भारतीय शासन एवं राजनीति, राज्यों की राजनीति सहित, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2005, पृ0 497, 498

11. डॉ0 बसु, दुर्गादास – भारत का संविधान, एक परिचय, वाधवा एण्ड कम्पनी, नागपुर 1997, पृ0 384, 385
12. दुबे, अभय कुमार – सत्ता और समाज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ0 223
13. दुबे, अभय कुमार – उपरोक्त, पृ0 224, 225, 226, 227
14. वीनर, माइरन – स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, प्रिन्सटन युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूजर्सी, 1968, पृ0 326
15. जनसत्ता – सम्पादकीय , दिसम्बर 2007
16. विजय, भण्डारी : राजस्थान की राजनीति सामन्तवाद से जातिवाद के भंवर में, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ0 446–447

सप्तम् अध्याय
उपसंहार

साठ के दशक के अन्त तक राजनीतिक संस्थानीकरण और एकीकरण की प्रक्रिया के मध्य तनाव बढ़ने लगा था। अनसुलझी समस्याओं के वर्णन और उनके दबावों के कारण सत्तर के दशक से भारतीय राजनीति में नयी प्रवृत्तियों का उदय हुआ। अस्सी और नब्बे के दशक तक भारतीय अभिजन परिवर्तित परिस्थिति में राजनीति के आधुनिकीकरण के मूल भारतीय प्रतिरूप से विचलन की तरफ जा चुके थे। वे जनता की लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सहभागिता से भयभीत थे और प्रबन्धकीय तकनीकशाही शैली में राज्य व्यवस्था का कार्य संचालन चाहते थे। राष्ट्रीय निर्माण के भारतीय उद्यम की पुनर्रचना का आधार तो मात्र वे गरीब और बहुसंख्यक युवजन ही बन सकते हैं जो नयी दिल्ली के केन्द्र से हटकर वर्ग, स्त्री और जातीयता के उभरते हुए सवालों के आस–पास एक बड़े आन्दोलन को लक्ष्य लेकर चलेंगे। इस पुनर्रचना की आधार भूमि यह मान्यता होगी कि विविधता भारतीय समाज के लिए एक नैसर्गिक स्थिति है, द्वैधता हमारी सांस्कृतिक प्रवृत्ति है और अस्मिताओं की बहुलता हमारे राज्य के देहधारण की प्रक्रिया का आधार है।

भारत को विखण्डन से बचाने में उसकी सुदीर्घ परम्परा, ऐतिहासिक संस्कृति और महान एकजुटता ने बहुत महती भूमिका निभायी है। उसकी ये विशेषताएं भारतीय किस्म के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों की देन है। भारत की राजनीतिक स्थिरता की कुंजी इसकी समाज प्रणाली में निहित रही है, आधुनिकीकरण ने इस समाज प्रणाली को भीतर से बदला है। बिखराव और तरलता की स्थिति निर्मित हुई। समाज के पारम्परिक आधार का क्षय हो रहा है पर आवश्यक यह है कि इसके स्थान पर नया संस्थागत आधार निर्मित हो, नये अवसरों की संरचनाएँ बनें और नवीन सार्वभौम आग्रहों के आधार पर नयी व्यवस्था को वैधता प्राप्त हो। बिना इसके न तो प्रशासन चलाया जा सकता है न ही संस्थाओं की रचना की जा सकती है और राजनीतिक विकास की समस्याएँ राजनीतिक रूप से किसी प्रकार बचे रहने की समस्याओं में परिवर्तित हो जाती है। एक नये राष्ट्र के रूप में भारत जैसी प्राचीन सभ्यता को अपना राजनीतिक विकास कुछ इस तरह से करना था कि युगों प्राचीन विविधताएँ और परम्पराएँ भी नष्ट न हों और वह आधुनिक विश्व के सर्वश्रेष्ठ तत्वों को भी ग्रहण कर ले, इसी महान प्रयास के लिए इस देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था स्थापित की गई।

भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा परन्तु फिर भी लोकतंत्र की जड़ें यथावत् बनी रही। 1980 के दशक के अन्तिम वर्षों में भारत में इस प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए जिसका आगे की राजनीति पर गहरा प्रभाव हुआ। इस कालखण्ड की महत्वपूर्ण घटना (i) 1989 के चुनावों में कांग्रेस की पराजय है जिस पार्टी ने 1984 में लोकसभा की 415 सीटें जीती थीं उसे 1989 के लोकसभा चुनाव में मात्र 197 सीटें ही प्राप्त हुईं। 1984 के लोकसभा एवं 1985 के विधानसभा चुनावों में कांग्रेस को प्रचण्ड बहुमत प्राप्त हुआ था परन्तु शनैः–शनैः कांग्रेस की लोकप्रियता घटने लगी क्योंकि कांग्रेस पार्टी पर भ्रष्टाचार के आरोप लगने लगे तथा बोफोर्स काण्ड भ्रष्टाचार की चरम परिणति कहा जाने लगा। राजस्थान में 1990 के विधानसभा चुनावों में यह प्रमुख मुद्दा रहा। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में भारतीय जनता पार्टी ने जनता को कांग्रेस से विमुख करने के लिए बोफोर्स तोपकाण्ड में दलाली को मुख्य रूप से उजागर किया एवं हिन्दुत्व पर बल दिया। इस प्रकार इस चुनाव में सामाजिक और आर्थिक नीति के अन्य मुद्दों की अपेक्षा दो तात्कालिक मुद्दे ही राजनीतिक दलों के प्रति जनता द्वारा व्यक्त समर्थन अथवा विरोध के निर्णायक आधार रहे एवं भारतीय जनता पार्टी को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। आठवीं विधानसभा (1985) की अपेक्षा नवीं विधानसभा (1990) में भाजपा की सफलता दोगुनी से अधिक हो गयी एवं राजस्थान में जनता दल के सहयोग से सरकार निर्माण में सफल रही।

(ii) 1989 में ही उस परिघटना का अन्त हो गया जिसे राजनीति विज्ञानी अपनी विशेष शब्दावली में 'कांग्रेस प्रणाली' कहते हैं, यह तथ्य स्पष्ट है कि कांग्रेस एक महत्वपूर्ण दल के रूप में सत्ता पर स्थापित रही और 1989 के पश्चात् देश पर किसी अन्य राजनीतिक दल के स्थान पर उसका शासन अधिक दिनों तक रहा परन्तु दलीय प्रणाली के भीतर जैसी प्रमुखता इससे पहले के वर्षों में प्राप्त थी वैसी अब नहीं रही।

(iii) इस अवधि का एक दूरगामी परिवर्तन था मण्डल आयोग की सिफारिशों द्वारा अन्य पिछड़ा वर्ग का उदय। 1977–79 की जनता पार्टी की सरकार के समय उत्तर भारत में पिछड़े वर्ग के आरक्षण के लिए राष्ट्रीय स्तर पर शक्तिशाली रूप से आवाज उठाई गयी। बिहार के मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर इस दिशा में अग्रणी थे, इनकी सरकार ने बिहार में 'अन्य पिछड़ा वर्ग' को आरक्षण प्रदान करने के लिए नवीन नीति लागू की। इसके पश्चात् केन्द्र की जनता सरकार ने 1978 में बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल के नेतृत्व में मण्डल आयोग की स्थापना की, आयोग ने सर्वेक्षण किया और पाया कि इन पिछड़ी जातियों की शिक्षा संस्थाओं एवं सरकारी सेवाओं में बहुत कम उपस्थिति है इस कारण मण्डल आयोग ने अन्य पिछड़ा वर्ग को 27 प्रतिशत आरक्षण देने की सिफारिश की। तत्कालीन इन्दिरा गांधी की

सरकार ने इसे लागू नहीं किया। क्योंकि इससे समाज के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती थी। अगस्त 1990 में वी.पी.सिंह की राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार ने अपनी आन्तरिक गुटबन्दी, चौधरी देवीलाल का पिछड़ी जातियों में प्रभाव कम करने तथा भाजपा की मंदिर राजनीति की धार को कम करने के लिए जल्दबाजी में मण्डल आयोग की इस सिफारिश को लागू कर दिया। जिससे उत्तर भारत के हिन्दी प्रान्तों में आरक्षण राजनीतिक परिवर्तन का एक साधन बन गया। इससे राजस्थान की राजनीति भी अछुती नहीं रही, सत्ता निर्धारण का आधार जाति व आरक्षण बनने लगा।

मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू करने का राजस्थान पर भी गहरा प्रभाव हुआ, सवर्ण जातियों के बेरोजगारों द्वारा आरक्षण के विरूद्ध आत्मदाह जैसी घटनाएँ हुई, जनजीवन उच्छृंखलित हो गया, बन्द, प्रदर्शन, रोष, मार्ग अवरूद्ध करना सामान्य घटना हो गई। अजमेर, कोटा व जयपुर में आत्मदाह के प्रयत्न हुए, समाज जातियों में विभक्त हो गया तथा राजस्थान का वातावरण भी केन्द्र के समान ही विभत्स हो गया।

यद्यपि आरक्षण का पुरजोर विरोध किया गया उसके पश्चात् भी इसकी उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता। इससे ना केवल पिछड़ों और दलितों को वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र को लाभ हुआ है।

प्रथम तथ्य तो यह है कि आरक्षण के माध्यम से भारत के मध्य वर्ग की संरचना एवं प्रकृति में परिवर्तन हुआ है, अब वह अधिक समावेशी हो गया है। द्वितीय, स्वतन्त्रता के पश्चात् दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों के लिए विकास की संभावनाएँ सीमित ही थीं, वे अपनी जातिगत संरचना के अन्दर ही प्रगति कर सकते थे, आरक्षण के माध्यम से इनके लिए प्रगति की संभावनाएँ निश्चित रूप से बढ़ी हैं। तीसरे, आजादी के बाद से प्रभावी हुए आरक्षण ने भारत की राजनीतिक व्यवस्था पर गहरा असर डाला है शिक्षा और व्यवसाय के बढ़ते हुए अवसरों ने उत्पीड़ित समुदायों में एक नवीन राजनीतिक नेतृत्व को जन्म दिया है।

वास्तव में आरक्षण ने व्यक्तियों और उनके परिवारों को विशेष रूप से लाभ पहुंचाया है इसका दीर्घकालीन प्रभाव यह हुआ है कि सभी जाति, वर्गों के लिए शिक्षा एक सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्य बन गई है। शिक्षा के माध्यम से आधुनिकीकरण हुआ है और विकास की संभावनाओं में वृद्धि हुई है।

इन उपलब्धियों के बावजूद आरक्षण की नीति अपने कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो पायी है, उच्च स्तर की सरकारी सेवाओं में आरक्षण का पूरा कोटा नहीं भरा जा सकता है, अनेक समुदाय शिक्षा के न्यूनतम स्तर के अभाव में इसका लाभ नहीं उठा पाए हैं। आरिक्षत श्रेणियों में कुछ समुदायों ने जबरन घुसपैठ कर ली है,

यह दुष्प्रभाव चुनावी राजनीति और वोट बैंक की राजनीति का है दिल्ली और राजस्थान के जाट इसका उदाहरण है, इन दोनों स्थानों पर जाटों को पिछड़े वर्ग की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया गया है। राजस्थान में जाटों में सभी पिछड़े नहीं है कुछ के तो राजपरिवार व राजवंश है, दिल्ली में जाट तो किसी भी रूप में पिछड़े नहीं है। कुल मिलाकर पिछड़ा बनने की प्रतिस्पर्द्धा आरक्षण की नीति के लिए अलाभकारी है।

आरक्षण के साथ उठाए जाने वाले कदम पूर्णरूप से काफी नहीं है परन्तु कुछ कमियों के बाद भी आरक्षण ने उत्पीड़ित समुदायों के विकास को ठोस आधार प्रदान किया है।

(iv) आर्थिक विकास और राजनीतिक विकास का सम्बन्ध किसी भी तरह से सीधा और सरल नहीं होता परन्तु गरीबी और साधनहीनता की समस्याओं को राजनीतिक समस्या का दर्जा ना प्रदान करने वाली कोई भी राजनीतिक प्रणाली स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकती। राजनीतिक विकास के आर्थिक पहलुओं में जनसंख्या मूलक, पर्यावरण गत और राजनीतिक व्यक्तित्व के विकास के आयाम भी सम्मिलित होते हैं। जिस प्रकार कुछ अर्थशास्त्री आर्थिक विकास में राजनीतिक प्रक्रिया के योगदान को 'आर्थिक विकास की राजनीति' के रूप में चिन्हित करते हैं, उसी प्रकार राजनीति शास्त्रियों के लिए भी राजनीतिक विकास के आर्थिक घटकों पर 'राजनीतिक विकास के अर्थशास्त्र' की तरफ ध्यान देना आवश्यक होता है भारत में राजनीतिक विकास के आर्थिक पहलू दो चरणों से गुजरे हैं। प्रथम चरण में राज्य ने लोकोपकारी लक्ष्यों के साथ जनता का विकास करने के लिए हर क्षेत्र में आत्मनिर्भरता का नारा दिया और परिणाम के तौर पर भारी औद्योगीकरण और हरित क्रान्ति के कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए। द्वितीय चरण में भारतीय अभिजन ने भिन्न तरह का राजनीतिक अर्थशास्त्र अपनाया और विश्व पूँजीवाद की शक्तियों के समक्ष समर्पण कर दिया, यह जनता और विकास प्रक्रिया में जनता की सीमित सहभागिता वाला प्रतिरूप था।

इस दौर में जो आर्थिक नीतियाँ स्वीकृत की गयीं उसे ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम अथवा नए आर्थिक सुधार के नाम से जाना गया। यद्यपि इनका प्रारम्भ राजीव गाँधी की सरकार के समय हुआ था परन्तु 1991 तक यह परिवर्तन विशाल स्तर पर परिलक्षित हुआ। स्वतन्त्रता के पश्चात् से भारतीय अर्थव्यवस्था जिस दिशा में चलती आई थी, वह इन आर्थिक सुधारों के कारण मूलगामी अर्थों में परिवर्तित हो गयी। नवीन आर्थिक नीतियों की विभिन्न आन्दोलनों और संगठनों की ओर से भरपूर आलोचना हुई। इस अवधि में जितनी भी सरकारें अस्तित्व में आयी, सभी ने आर्थिक नीति को निरन्तर जारी रखा।

(iv) मई 1991 में राजीव गाँधी की हत्या के बाद कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में परिवर्तन हुआ। राजीव गाँधी चुनाव अभियान के दौरान तमिलनाडु के दौरे पर थे तभी जातिवादी राजनीति से गठित लिट्टे से जुड़े श्रीलंकाई तमिलों ने उनकी हत्या कर दी। 1991 के चुनावों में कांग्रेस सबसे बड़ी विजयी पार्टी थी। राजीव गाँधी की मृत्यु के पश्चात् कांग्रेस पार्टी ने नरसिम्हाराव को प्रधानमंत्री चुना।

(v) अयोध्या स्थित राममंदिर निर्माण को भाजपा ने बहुत बड़ा चुनावी और राजनीतिक मुद्दा बनाया, भाजपा ने अपनी विचारधारा में हिन्दू राष्ट्रवाद के तत्वों पर बल देना प्रारम्भ किया और हिन्दूत्व की राजनीति का मार्ग चुना। भाजपा विश्व हिन्दू परिषद्, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ राम मंदिर निर्माण का समर्थन कर रहे थे, उन्होंने 1992 दिसम्बर में 'कारसेवा' का आयोजन किया और रामभक्तों से आह्वान किया कि वे राम मंदिर निर्माण में श्रमदान करें। सम्पूर्ण देश में तनाव पूर्ण वातावरण हो गया। सर्वोच्च न्यायालय ने राज्य सरकार को आदेश दिया कि वह 'विवादित स्थल' की सुरक्षा की पूरी व्यवस्था करे परन्तु 6 दिसम्बर 1992 को विवादित ढ़ाँचे को नष्ट कर दिया गया, इस समाचार से देश के अनेक भागों में हिन्दू–मुस्लिम दंगे हुये। अयोध्या की इस घटना से अनेक परिवर्तन हुए, उत्तर प्रदेश में सत्तासीन भाजपा की राज्य सरकार को केन्द्र ने बर्खास्त कर दिया, इसके साथ ही दूसरे राज्यों में भी भाजपा की सरकार को केन्द्र ने बर्खास्त कर दिया, चूँकि उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री ने इस बात का हलफनामा दिया था कि 'विवादित ढ़ाँचे' की रक्षा की जाएगी लेकिन शपथ का पालन नहीं हुआ इसलिए सर्वोच्च न्यायालय में इनके खिलाफ अदालत की अवमानना का मुकदमा दायर हुआ।

इस घटना से राजस्थान भी अछुता ना रहा, साम्प्रदायिक दंगे हुए, जयपुर, टोंक आदि जिलों में आगजनी व प्रदर्शन हुए। पुलिस एवं दंगाइयों के मध्य संघर्ष हुआ, अनेक घायल हुए व आगजनी से अकूत सम्पत्ति को हानि पहुंची। उपर्युक्त घटनाओं को रोकने में विफल रहने की राज्यपाल की रिपोर्ट पर केन्द्र सरकार ने भैरोंसिंह शेखावत की सरकार को बर्खास्त कर राज्य में अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया तथा विधानसभा भंग कर दी गई। मुख्यमंत्री शेखावत का द्वितीय कार्यकाल भी पहले के समान ही राष्ट्रपति शासन द्वारा प्रभावित हुआ। दृष्टव्य है कि वर्तमान समय तक राजस्थान में चार बार 1967, 1977, 1980, 1992 में राष्ट्रपति शासन लग चुका है।

राजनीतिक दलों ने मस्जिद के विध्वंस की निंदा की और इसे धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्तों के विरूद्ध बताया, ऐसे में धर्मनिरपेक्षता पर गम्भीर बहस प्रारम्भ हो गई। भारत की लोकतांत्रिक राजनीति इस तथ्य पर आधारित है कि सभी धार्मिक समुदाय किसी भी

राजनीतिक दल में सम्मिलित होने के लिए स्वतन्त्र है परन्तु कोई भी राजनीतिक दल धार्मिक समुदाय पर आधारित नहीं होगा।

1989 का वर्ष भारतीय राजनीति में सदैव गठबन्धन आधारित राजनीति के प्रारम्भ हेतु स्मरणीय रहेगा। 1989 के पश्चात् लोकसभा के चुनावों में कभी भी किसी एक राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं हुआ, इस परिवर्तन के साथ केन्द्र में गठबन्धन सरकारों का दौर आरम्भ हुआ एवं क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने गठबन्धन सरकार निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1989 में भाजपा और वाम मोर्चा दोनों ने राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार को समर्थन दिया क्योंकि ये दोनों दल कांग्रेस को सत्ता से बाहर रखना चाहते थे, राष्ट्रीय मोर्चे के नेता विश्वनाथ प्रताप सिंह प्रधानमंत्री बने। राष्ट्रीय मोर्चे की केन्द्र सरकार के पतन के पश्चात् 1990 में चन्द्रशेखर के नेतृत्व में केन्द्र में जनता दल (समाजवादी) की सरकार सत्तारूढ़ हुई, इसे कांग्रेस (इ) ने बाहर से समर्थन किया।

सन् 1991 में केन्द्र में पी.वी.नरसिम्हा राव के नेतृत्व में कांग्रेस (इ) की सरकार सत्तारूढ़ हुई जिसे एआईडीएमके के साथ अन्य दलों का समर्थन प्राप्त था। 1996 के चुनावों में भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी, भाजपा को सरकार निर्माण के लिए आमंत्रित किया गया परन्तु अधिकांश दल भाजपा की नीतियों के विरूद्ध थे अतः भाजपा की सरकार लोकसभा में बहुमत प्राप्त नहीं कर सकी। अन्ततः भाजपा एक गठबन्धन (राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन – राजग) के नेतृत्व के रूप में सत्ता में आयी और मई 1998 से जून 1999 तक सत्ता में रही फिर पुनः अक्टूबर 1999 में इस गठबन्धन ने सत्ता प्राप्त की, राजग की दोनों ही सरकारों में अटल बिहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बने, 1999 की राजग सरकार ने अपना निर्धारित कार्यकाल पूर्ण किया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 1989 के चुनावों से भारत के गठबन्धन की राजनीति के एक लम्बे कालक्रम का प्रारम्भ हुआ, इसके पश्चात् 2004 तक केन्द्र में 9 सरकारें निर्मित हुई, ये सभी या तो गठबन्धन की सरकारें थीं अथवा दूसरे दलों के समर्थन पर टिकी अल्पमत की सरकारें थीं। इस कालखण्ड में कोई भी सरकार क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की साझेदारी अथवा उनके समर्थन से ही निर्मित हो सकती है। यह तथ्य 1989 के राष्ट्रीय मोर्चा सरकार, 1996 एवं 1997 की संयुक्त मोर्चा सरकार, 1998 एवं 1999 की राजग एवं 2004 की सप्रंग सरकार पर समान रूप से लागू होती है। परन्तु राजस्थान की स्थिति केन्द्र की स्थिति से निश्चित रूप से भिन्न है 1989 के पश्चात् राजस्थान में भी गठबन्धन सरकारों का क्रम प्रारम्भ हुआ परन्तु इसमें परिवर्तन हुआ। फरवरी 1990 के राज्य विधानसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभरी, भैरोंसिंह शेखावत को सर्वसम्मति

से इस दल का नेता निर्वाचित किया, जनता दल ने नत्थी सिंह को अपना नेता निर्वाचित किया। भारतीय जनता पार्टी और जनता दल में संविद सरकार के गठन पर सहमति हुई एवं भाजपा के नेता भैरोंसिंह शेखावत के नेतृत्व में भाजपा और जनता दल का मिला–जुला मंत्रिमण्डल सत्तारूढ़ हुआ। केन्द्र में 1990 में भाजपा ने विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया क्योंकि उस कालखण्ड में भाजपा ने हिन्दुत्व के मुद्दे को प्रभावी बनाया, इसी संदर्भ में भाजपा अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी ने सोमनाथ से अयोध्या तक की रथयात्रा प्रारम्भ कर रखी थी, 23 अक्टूबर, 1990 को जनता दल के मुख्यमंत्री लालूप्रसाद यादव ने अपने राज्य बिहार में आडवाणी को विघ्न उपस्थित करने के लिए गिरफ्तार कर लिया, उसके विरोध में भाजपा ने केन्द्र में राष्ट्रीय मोर्चे की वी.पी.सिंह सरकार से समर्थन वापस ले लिया। इसके साथ ही राजस्थान में भी इस संविद सरकार के समक्ष संकट उत्पन्न हो गया क्योंकि राजस्थान में भाजपा को जनतादल समर्थन दे रही थी परन्तु राजनीतिक जोड़–तोड़ में सिद्ध माने जाने वाले भैरोंसिंह शेखावत ने जनता दल को ही विभाजित करा दिया। दिग्विजय सिंह के नेतृत्व में 26 जनतादल विधायकों ने अपने दल से सम्बन्ध विच्छेद करते हुए जनता दल (दिग्विजय) की स्थापना की, इस नवीन दल के 18 सदस्यों को शेखावत मंत्रिमण्डल में स्थान दिया गया। शेखावत ने अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के द्वारा इस संविद मंत्रिमण्डल को एकजुट बनाए रखा, इस सरकार ने विधानसभा में तथा विधानसभा के बाहर मुख्य विपक्षी दल कांग्रेस का सफलता के साथ सामना किया।

विवादित ढ़ाँचे को गिराने के पश्चात् उसकी प्रतिक्रिया राजस्थान में भी हुई, और संवैधानिक तन्त्र की विफलता बताते हुए राष्ट्रपति ने 1992 में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। 1992 से 1993 एक वर्ष तक राष्ट्रपति शासन रहा। 1993 में चुनाव हुए और भाजपा सत्ता में आयी एवं पुनः भैरोंसिंह शेखावत मुख्यमंत्री बने, 1998 में कांग्रेस तथा 2003 में भाजपा सत्ता में आयी उपर्युक्त घटनाक्रम को देखने से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ केन्द्र की राजनीति एक दलीय प्रभुत्व से प्रारम्भ होकर गठबन्धन राजनीति की ओर उन्मुख हुई, वहाँ राजस्थान की राजनीति बहुदलीय व्यवस्था से आरम्भ हुई। 1952 के प्रथम आम चुनाव में राजस्थान एक बहुदलीय राज्य था, हिन्दू महासभा जनसंघ, रामराज्य परिषद् आदि अच्छी स्थिति में थे। जनसंघ एक कांग्रेस विरोधी प्रभावशाली दल था। 1961–62 में स्वतन्त्र पार्टी का उदय हुआ जो कि राजा महाराजाओं की पार्टी थी, इस पार्टी के कारण जनसंघ की प्रगति में बाधा उत्पन्न हुई। स्वतन्त्र पार्टी ने कम समय में ही राजस्थान में प्रभाव जमाया परन्तु सी. राजगोपालाचारी की मृत्यु के पश्चात् 1974 में चरण सिंह के नेतृत्व वाली

भारतीय क्रान्ति दल में सम्मिलित हो गई। केन्द्र के समान राजस्थान में भी कांग्रेस का एकाधिकार रहा। 1952 से 1990 तक (1977 से 1980 तक जनता पार्टी का शासन), 1998 से 2003 व 2008 से निरन्तर कांग्रेस का शासन रहा। इसी कालक्रम के दौरान तीन बार ऐसा समय आया कि राजस्थान की राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन होता किन्तु ऐसा ना हो सका।

प्रथम स्थिति उस समय दृष्टिगोचर हुई जबकि 1967 में मोहनलाल सुखाड़िया के नेतृत्व में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ तब विपक्षी दलों ने गठबन्धित होकर सरकार निर्माण का प्रस्ताव प्रस्तुत किया परन्तु राज्यपाल सम्पूर्णानन्द ने उस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। उस समय राज्यपाल विरोधी दलों के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते तो संभवतः गठबन्धन राजनीति का प्रारम्भ 1967 से ही हो चुका होता।

द्वितीय स्थिति 1977 में परिलक्षित होती है जब 1975 से 1977 तक आपातकाल के दौरान जनता कांग्रेस पार्टी से विमुख हुई तथा उस कटु अनुभव के पश्चात् जनता ने कांग्रेस को सत्ता से हटाकर, पांच दलों से निर्मित जनता पार्टी में विश्वास व्यक्त किया। जनता पार्टी की सरकार अपना कार्यकाल पूर्ण नहीं कर सकी और 1980 में राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया।

तृतीय स्थिति 1984 में आयी जब प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी की मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण देश में सहानुभूति की लहर उत्पन्न हुई। 1984 के लोकसभा व 1985 के विधानसभा चुनाव इसी पृष्ठभूमि में हुए और दोनों ही चुनावों में कांग्रेस को बहुमत प्राप्त हुआ। यदि उस समय सहानुभूति की लहर उत्पन्न नहीं होती तो स्थिति में परिवर्तन संभव था।

वर्ष 1989 में बोफोर्स तोप काण्ड के कारण कांग्रेस की प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा एवं हिन्दुत्ववादी दृष्टिकोण के कारण भाजपा के प्रभाव में वृद्धि हुई और 1990 में भाजपा के नेतृत्व में सरकार का निर्माण हुआ। उसके पश्चात् से राजस्थान में भाजपा एवं कांग्रेस की सरकार बारी–बारी से बनती रही अतः स्पष्ट है कि राजस्थान की राजनीति बहुदलीय व्यवस्था से प्रारम्भ होकर शनैः–शनैः द्विदलीय राजनीति की ओर अग्रसर हुई जबकि केन्द्र में गठबन्धन राजनीति का दौर प्रारम्भ हुआ।

भारत की परम्परागत सामाजिक संरचना समानता पर आधारित नहीं है, जिसका ज्वलन्त उदाहरण भारत में जातिप्रथा है। जाति व्यवस्था में जन्म के आधार पर ही मनुष्यों में भेदभाव किया जाता है। राजनीतिक प्रक्रिया एक माध्यम है जिसके द्वारा परम्परागत सामाजिक संरचना तथा लोकतांत्रिक प्रक्रिया के मध्य सामंजस्य स्थापित हो पाया है। वैचारिक रूप से जाति पर आधारित भेदभाव की विभिन्न स्त्रोतों द्वारा आलोचना की गई है।

इतिहास पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट होता है कि बौद्ध तथा जैन धर्म द्वारा जाति प्रथा का विरोध किया गया। आधुनिक समय में राजाराम मोहनराय, दयानन्द सरस्वती, ज्योतिबा फूले, ई.वी.रामस्वामी नायकर तथा डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने जाति प्रथा का पुरजोर विरोध किया है। इस वैचारिक आलोचना का प्रभाव भारतीय संविधान पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों के प्रावधान में समानता व स्वतन्त्रता को निश्चित किया गया है तथा जाति, धर्म, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर किसी भी सामाजिक भेदभाव का निषेध किया है। संविधान के अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता के अन्त का प्रावधान किया गया है।

यद्यपि वैचारिक आधार पर जातिप्रथा का विरोध किया गया है परन्तु व्यवहार में जाति प्रथा आज भी विद्यमान है, इस वैचारिक व व्यावहारिक विरोध के कारण ही भारतीय राजनीति में विभिन्न संघर्षों का उद्‌भव हो रहा है परन्तु जाति का राजनीतिकरण होने से जाति प्रथा समाप्त करने सम्बन्धी विभिन्न मांगों का दमन हुआ है तथा जाति का भारतीय राजनीति में संस्थानीकरण संभव हो पाया है। दलितों के राजनीतिक एकीकरण ने जाति में प्रमुख भूमिका निभाई है इसका उदाहरण उत्तरप्रदेश है जहाँ दलित महिला मायावती ने मुख्यमंत्री पद प्राप्त किया। राजनीतिक प्रक्रिया व संवैधानिक प्रावधानों द्वारा भारत में दलितों को राजनीतिक सत्ता में भागीदारी प्राप्त हुई है।

दक्षिण भारत में भी जातिगत राजनीति प्रभावी है, दक्षिण में ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन काफी समय से सक्रिय था। कांग्रेसी नेता कामराज नाडार द्वारा कांग्रेस के जनाधार का विस्तार कर उसमें दलितों को भी सम्मिलित करने का प्रयास किया किन्तु कांग्रेस को इसमें कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई किन्तु यह बहुत आश्चर्यजनक है कि जहाँ एक ओर द्रविड़ आन्दोलन द्वारा जाति व्यवस्था को जड़ से समाप्त करने की मांग की जा रही थी वहीं जाति के आधार पर ही इस आन्दोलन ने लोगों को राजनीतिक एकत्रीकरण कर दिया, इस प्रकार दक्षिण भारत में भी जाति का राजनीतिकरण हुआ तथा जाति सामाजिक क्रिया का आधार बनी।

राजस्थान की राजनीति का विश्लेषण करने पर अनेक तथ्य परिलक्षित होते हैं जो कि निम्न प्रकार है :–

- राजस्थान में जातिवाद अत्यन्त प्रभावी तत्व है। जातिगत विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि आरम्भ से ही जाट, ब्राह्मण, वैश्य, मुसलमान, अनुसूचित जाति एवं जनजाति कांग्रेस के पक्ष में रही तथा स्वतन्त्रता के पश्चात् कांग्रेस को सामन्तों से कड़ी चुनौती मिली एवं उन्हें राजपूतों ने समर्थन प्रदान किया। जाट विधायकों की संख्या

उत्तरोत्तर बढ़ती रही, स्वतन्त्र पार्टी के पतन के पश्चात् राजपूत विधायकों की संख्या में कमी हुई है। 1989 में मण्डल कमीशन के लागू होने से अन्य पिछड़ी जातियों की संख्या में वृद्धि हुई। 1989 में हिन्दुत्व मुद्दे के कारण ब्राह्मण जाति भाजपा में सम्मिलित हुई।

- राजस्थान की भौगोलिक, सामाजिक तथा जातीय भिन्नता को वी.पी.सिंह सरकार की मण्डल वाली नीति ने और गहराई से विभाजित किया। जहां राजस्थान में स्वतन्त्रता के बाद से ही अन्य पिछड़ी जातियां हाशिए पर चल रही थी, उनमें एक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ, साथ ही संख्या दल की दृष्टि से मजबूत जाट जाति ने अपनी ताकत के आधार पर केन्द्र में वाजपेयी सरकार से अन्य पिछड़े वर्ग में आरक्षण का लाभ प्राप्त कर लिया। यद्यपि राजस्थान सरकार के तत्कालीन मुख्यमंत्री अशोक गहलोत जाटों की मजबूत स्थिति को देखते हुए अन्य पिछड़े वर्ग में आरक्षण के पक्षधर नहीं थे, किन्तु अनमने मन से उन्होंने जाटों को अन्य पिछड़े वर्ग में सम्मिलित किया। इन सभी घटनाओं से राजस्थान की राजनीति उलझती चली गयी। जाट समुदाय भाजपा से दूर कांग्रेस के साथ थे। इसी धारणा को समाप्त करने के लिए भाजपा ने अन्य पिछड़े वर्ग में जाटों को आरक्षण प्रदान किया, किन्तु फिर भी जाट भाजपा से नहीं जुड पाये, इस समीकरण को सुलझाने के लिए एवं भैरोसिंह शेखावत की ढलती हुई उम्र देखते हुए, भाजपा से सांसद वसुन्धरा राजे सिन्धिया को प्रदेश की बागडोर प्रदान की। प्रारम्भ में राजे इस पद को स्वीकार करने में असहज थी, किन्तु उन्होंने पार्टी के निर्णय को स्वीकार किया। भाजपा ने यह निर्णय इसलिए किया क्योंकि वसुन्धरा राजे राजघराने से सम्बन्धित थी, दूसरी और जाट समुदाय में उनका विवाह हुआ तथा गुर्जर जाति में उनके पुत्र दुष्यन्त सिंह का विवाह हुआ। भाजपा यह दाव राजस्थान की सामन्तवादी, जातिवादी, भौगोलिक भिन्नता वाले प्रदेश में सफल सिद्ध हुआ।

  वसुन्धरा राजे ने राजस्थान की परिस्थिति को जांचने व परखने के लिए परिवर्तन यात्रा का प्रारम्भ किया इसी दौरान गुर्जर समुदाय की वर्षों से पड़ी अनुसूचित जनजाति में सम्मिलित होने की मांग को राजे ने मौन स्वीकृति प्रदान की।

  2003 के विधानसभा चुनाव में राजपूत, जाट जैसी जातियों ने भाजपा के पक्ष में मतदान किया। भाजपा को 120 सीटें प्राप्त हुई। सत्तासीन होने के पश्चात् राजे सरकार ने गुर्जर समुदाय की अनुसूचित जनजाति में सम्मिलित होने की मांग

पर कोई कार्यवाही नहीं की। इससे असंतुष्ट होकर गुर्जरों ने हिंसक आन्दोलन किया जिससे जानमाल की भारी क्षति हुई।

- 1989 के पश्चात् जहां केन्द्र में गठबन्धन की राजनीति का युग प्रारम्भ हुआ वहीं राजस्थान द्विदलीय राजनीति की ओर अग्रसर हुआ। राजस्थान में प्रमुख रूप से दो दल ही रहे :– कांग्रेस एवं भारतीय जनता पार्टी।

राजस्थान में दो दल ही प्रमुख रहे है जिसके अनेक कारण निम्न है :–

1. आर्थिक कारण – नीचे का तबका या निम्न वर्ग अधिक समृद्ध नहीं हुआ है, सम्पूर्ण राजस्थान की यही स्थिति है यदि मारवाड़ क्षेत्र को उदाहरण स्वरूप देखें तो यह ज्ञात होता है कि वहां वर्षा का अभाव है, जीविका उपार्जन के साधन न्यूनतम हैं इसलिए रोजगार की तलाश में राजस्थान से बाहर जाना पड़ता है। वहां एक कहावत प्रसिद्ध है कि 'कुण्डा भर पानी के लिए भी हाथ जोड़ने पड़ रहे है।' व्यक्ति इसी भंवर जाल से बाहर नहीं निकल पाते हैं उनकी सम्पूर्ण ऊर्जा एवं शक्ति जीविकोपार्जन में लग जाती है, इसलिए नवीन राजनीतिक समीकरण नहीं बन पाते है।
2. जातिवाद – राजस्थान की राजनीति में जातिवाद अत्यन्त प्रभावी तत्व है यहां जाटों के बारे में कहावत प्रसिद्ध है 'जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को।' गुर्जर, मीणा आरक्षण के विवाद से पूर्व भाईचारे से रहते थे, उनके बीच चाहे बेटी व्यवहार ना हो परन्तु रोटी व्यवहार अवश्य रहा। इस प्रकार यहां की जनता जातियों और उपजातियों में इस प्रकार विभक्त है कि वे कुछ नया नहीं सोच पाते हैं। सम्पूर्ण जातियां दो राजनीतिक दलों (भाजपा व कांग्रेस) में विभक्त है एवं वे नवीन राजनैतिक दल की आवश्यकता महसूस नहीं करते।
3. सामन्तवादी व्यवस्था – राजस्थान में प्रारम्भ से सामन्तवादी व्यवस्था रही है और यह व्यवस्था कमजोर जातियों के नेतृत्व को स्वीकार नहीं करती है।
4. प्राकृतिक कारण – राजस्थान के पश्चिम में विशाल रेगिस्तान है यहां कभी अकाल पड़ जाता है, कभी बाढ़ आ जाती है। ऐसी प्राकृतिक भिन्नता व विकट परिस्थितियां भारत के अन्य किसी दूसरे राज्य में नहीं है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त राजस्थान में जनसंख्या की विरलता व भौगोलिक भिन्नता के कारण भी दो दलों के अतिरिक्त अन्य दल सफल नहीं हो पाये है।

- पिछले 12 विधानसभा चुनावों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि अनुसूचित जाति व जनजाति का आरक्षण होने के पश्चात् भी जाटों की संख्या लगभग उनके अनुपात में ही रहती है। अनुसूचित जाति 360, अनुसूचित जनजाति 263, जाट 346, राजपूत 308, ब्राह्मण 281, मुसलमान 79, गुर्जर 72, सिन्धी, पंजाबी, सिख 52 निर्वाचित हुए। उपर्युक्त आंकड़े लगभग के आधार पर स्वीकार किए हैं।
- 2003 में राजस्थान में प्रथम बार महिला मुख्यमंत्री वसुन्धरा राजे सिन्धिया के नेतृत्व में सरकार का निर्माण हुआ। चुनाव परिणामों से राज्य कर्मचारियों की शक्ति का भी पता लगा कि वे चाहें तो एक सरकार का निर्माण कर सकते हैं ओर दूसरी सरकार को उलट सकते हैं।
- राजस्थान का केन्द्र में प्रभावशाली नेतृत्व नहीं रहा है इससे राजस्थान का समुचित विकास नहीं हो पाया है। जबकि क्षेत्रफल की दृष्टि से राजस्थान भारत का सबसे बड़ा राज्य है।

भारतीय राजनीति व्यवस्था में सुधार –

भारतीय गणतन्त्र विस्तार, क्षेत्र, जनसंख्या और संसाधनों की दृष्टि से विश्व का सर्वाधिक विशाल लोकतन्त्र है। निर्वाचकों की संख्या की दृष्टि से सार्वभौम वयस्क मताधिकार पर आधारित विश्व की सबसे बड़ी सहभागितापूर्ण राजनीतिक व्यवस्था है इसमें कुछ सुधारों के द्वारा इसे अधिक प्रभावशाली एवं शक्तिशाली बनाया जा सकता है :–

- भारत का प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता, समानता व बन्धुत्व के सिद्धान्त पर आधारित है परन्तु एक सुनियोजित रणनीति एवं लक्ष्य के अन्तर्गत भेदभाव, सामाजिक असमानता, धार्मिक कट्टरता से जाति विद्वेष की भावना में वृद्धि होती है। लोकसभा विधानसभा एवं स्थानीय संस्थाओं के चुनावों में जातिवाद के आधार पर चुनाव लड़े जाते हैं, नेता जाति के नाम पर वोट मांगते हैं और जाति विशेष के आधार पर ऐसे व्यक्ति चुन लिए जाते हैं जो राष्ट्र व समाज के हितों को प्रधानता देने के स्थान पर अपनी जाति के हितों को प्रधानता देते हैं, जातिवाद के कारण सामुदायिक भावनाएं संकीर्ण होती जा रही हैं, समाज, जाति, वर्ग, समुदाय में विभक्त होता जा रहा है। राष्ट्रीयता का विकास नहीं हो पा रहा है। समाज के लिए अभिशापित इस व्यवस्था ने समाज को विखण्डित कर छोटी–छोटी जातियों व उपजातियों में विभक्त कर दिया है।

जातिवाद के प्रसार को रोकने के लिए जाति विहीन समाज की रचना करनी होगी, राष्ट्रीय नेताओं द्वारा यह विश्वास तो दिलाया जाता रहा है पर आज तक न तो ऐसा संभव हो पाया है और ना ही भविष्य में व्यवहारिक दृष्टि से संभव है, क्योंकि जातिगत व्यवस्था

की जड़ें भारतीय समाज में इतनी गहरी जमीं हुई है कि कानूनों द्वारा इन्हें समाप्त नहीं किया जा सकता। उचित शिक्षा द्वारा जनमानस की मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाकर, जातिवाद के विरूद्ध स्वस्थ जनमत जाग्रत कर, अन्तर्जातीय विवाहों के लिए अनुकूल वातावरण तैयार कर, बच्चों को प्रारम्भिक स्तर से राष्ट्रीयता की शिक्षा देकर, मतदाता सूची में नाम के साथ जाति सूचक शब्द का प्रयोग न करके, उपर्युक्त सुझावों को अमल में लाकर, सरकार जाति आधारित संगठनों व राजनीतिक दलों पर रोक लगा सकती है।

भारत सबसे बड़ा लोकतन्त्रात्मक देश है जिसे चलाने के लिए उचित निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की गई है सुदृढ़ निर्वाचन प्रक्रिया के लिए संविधान के अनुच्छेद 324 में एक निर्वाचन आयोग की स्थापना की गई है जो निर्वाचन सम्बन्धी सभी कार्य सम्पादित करता है। भारत की निर्वाचन व्यवस्था में अनेक दोष हैं। भारतीय लोकतन्त्र का विगत 6 दशकों का अनुभव बताता है कि अनेक बाहुबली, आपराधिक पृष्ठभूमि एवं भ्रष्टाचार के मामलों में लिप्त लोग संसद एवं विधानसभाओं में निर्वाचित होकर पहुंच गए हैं, चुनावों में बूथ लूटना और धोखाधड़ी करना भारतीय राजनीति में सामान्य रूप से प्रचलित है। स्वतन्त्रता के पश्चात् से भारत की राजनीतिक स्थिति में सुधार के स्थान पर गिरावट आई है। यह स्वतन्त्र शोध का प्रश्न है।

भारत की राजनीतिक प्रक्रिया का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं बचा है जो निर्दोष हो। उदाहरण के लिए यदि निर्वाचन प्रक्रिया पर विचार करे तो पाते हैं कि पहले नेता मतदाताओं को पूरे कार्यकाल में महत्व देते थे किन्तु हाल के वर्षों में नेता चुनाव की घोषणा होने के बाद अपने क्षेत्रों में पहुंचते हैं और मत प्राप्ति के लिए धन बांटना, मदिरा वितरण आदि निकृष्ट कार्य करते हैं। वर्तमान में अधिकांश राजनेताओं का लक्ष्य मात्र जीत हासिल करना होता है उन्हें देश, समाज व मानवता से कोई सरोकार नहीं है।

राजनीतिक दल घोषणा पत्र में अनेक योजनाओं का उल्लेख करते हैं परन्तु उनको लागू नहीं करते और जनता भी घोषणा पत्र को चुनावों के पश्चात् कोई महत्व नहीं देती।

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए निर्वाचन सुधार की महती आवश्यकता है। समय–समय पर सुधारों के लिए कुछ समितियां गठित की गई हैं जैसे तारकुण्डे समिति, दिनेश गोस्वामी समिति एवं के. संथानम समिति। निर्वाचन प्रक्रिया में सुधार के लिए निम्न सुझाव दिए जा सकते हैं –

(अ) जिस प्रकार व्यक्तिगत प्रत्याशियों के लिए निर्वाचन व्यय की सीमा निर्धारित है उसी प्रकार राजनीतिक दलों के निर्वाचन व्यय की सीमा निर्धारित की जाए।

(ब) राजनीतिक दलों व व्यक्तिगत प्रत्याशियों दोनों को निर्धारित अवधि के भीतर अपने निर्वाचन व्यय का विवरण ऑडिटर से जांच कराकर चुनाव आयोग के समक्ष लाना चाहिए।

(स) निर्वाचन में राजनीतिक दलों द्वारा प्राप्त सीटों और उनके पक्ष में पड़े मतों के बीच समानुपातिक सम्बन्ध सुनिश्चित करने के लिए नई युक्ति निकाली जानी चाहिए।

(द) निर्वाचन से काफी समय पहले मतदाता सूची तैयार करके प्रकाशित कर दी जाए, जिससे मतदाताओं के नामों की जांच की जा सके और उसमें आवश्यकतानुसार नामों को जोड़ा या घटाया जा सकें।

(य) भ्रष्टाचार के विभिन्न तरीकों को निष्फल करने के लिए वर्तमान निर्वाचन प्रणााली में आवश्यक संशोधन किए जाए। धर्म, जाति, जनजाति या क्षेत्रीयता के आधार पर वोट मांगने वाले प्रत्याशियों को राजनीतिक दलों और वर्गों तथा जो धन या बलपूर्वक मतदाताओं को अपनी ओर से बहका लेते है, अयोग्य घोषित करके उन्हें एक या दो निर्वाचनों में भाग लेने से वंचित किया जाना चाहिए।

(र) इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन में एक विकल्प 'खड़े उममीदवारों में से कोई नहीं' (None of the above) को ओर जोड़ा जाए। अनेक चुनाव सर्वेक्षणों से स्पष्ट होता है कि जीतने वाले अनेक जनप्रतिनिधियों को केवल 10 से 20 प्रतिशत मत ही प्राप्त होते हैं जबकि जनप्रतिनिधियों के विरोध में पड़े मतों का प्रतिशत अधिक होता है, ऐसे में नोटा का विकल्प लोकतंत्र को बेहतर जिम्मेदार और जनता के प्रति जवाबदेह बनाए जाने की दृष्टि से प्रासंगिक और उचित है।

(ल) जनता को अधिक जागरूक कर मतदान को अनिवार्य किया जाना चाहिए तभी सम्पूर्ण अर्थों में लोकतन्त्र सफल हो सकता है।

संक्षेप में भारतीय राजनीति का उद्‌भव सामाजिक व्यवस्था से हुआ है। हमारी सामाजिक व्यवस्था जाति, वर्ण, धर्म पर आधारित रही है इसलिए कोई भी राजनैतिक दल जाति, वर्ण, धर्म को आज तक (2008 तक) नहीं छोड़ पाये है। सभी राजनैतिक दल जातिगत आधार पर उम्मीदवारों का चयन करते है और विजेता होने का गणित बैठाते है। राजस्थान की राजनीति में स्वतन्त्रता से लेकर आज तक जाट, राजपूत, ब्राह्मण, बनिये, गुर्जर, मीणा अपना वर्चस्व दिखाते रहे है। राजनैतिक दल मंत्रीपरिषद् के प्रतिनिधित्व में जाति, धर्म को महत्व देते है ना ही योग्यता को। राजनैतिक दलों के पास कार्यक्रम चिन्तन, सिद्धान्त का अभाव होने के कारण वे आरक्षण, जाति एवं धर्म का सहारा लेते है, जो किसी भी रूप में राजनीतिक दलों के लिए आवश्यक नहीं है। ऐसी राजनीतिक परिस्थितियों में

राजनीतिक दलों से यह अपेक्षा तो नहीं की जा सकती की वो जाति व वर्ण को छोड़ दे परन्तु एक समुचित देशीय विकास प्रणाली को लागू करे तो निश्चित रूप से केन्द्र राज्यों के मध्य टकराव संघर्ष को टाला जा सकता है।

केन्द्र या राज्य में चाहे किसी भी राजनैतिक दल की सरकार हो, उन्हें राष्ट्र हित में आपसी समन्वय एवं सहमति से कार्य करते हुए देश के विकास को बढ़ाना चाहिए। आज आवश्यकता है राजनैतिक दल संकीर्ण हितों व संकुचित मनोवृत्ति को छोड़कर देश के विकास में योगदान दें।

भारत के राजनीतिक दलों की सच्चरित्रता, जाति और निर्वाचन व्यवस्था में मात्र वैधानिक प्रावधानों से सुधार नहीं लाया जा सकता, ना ही स्वस्थ राजनीतिक वातावरण सुनिश्चित किया जा सकता है। इसके लिए प्रबुद्ध नागरिक समाज की आवश्यकता है। गरीबी उन्मूलन, निरक्षरता की समाप्ति, शिक्षा का व्यापक प्रसार, नागरिकों में बन्धुत्व की भावना तथा जनता के जीवन स्तर में व्यापक सुधार से वास्तविक रूप में स्वतन्त्र व समान नागरिकों का समाज निर्मित हो पाएगा और वे सभी भारतीय लोकतांत्रिक गणराज्य की गरिमा की सुरक्षा करने में समर्थ हो पाएंगे।

मैं एक शोध छात्रा के रूप में अपेक्षा करती हूं कि देश के राजनैतिक दल स्वार्थपरता एवं अवसरवादिता की राजनीति छोड़कर राष्ट्र की एकता अखण्डता व विकास के लिए कार्य करेंगे एवं अपने आचरण में शुचिता बनाये रखेंगे।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऑस्टिन, ग्रेनविल : दी इण्डियन कॉन्स्टीट्यूशन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, यू0एस0ए0, 1999
2. एल्डर्स वेल्ड, सैमुअल जे : पॉलिटिकल पार्टीज, ए बिहेवियरल अनालिसिस, शिकागो, रेन्ड मेकनेली, 1964
3. अल्तेकर, ए.एस. : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2005
4. अग्रवाल, आर.सी. : भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, आधुनिक भारत का संविधान, एस. चांद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1985
5. बसु, डी.डी. : भारत का संविधान, एक परिचय, वाधवा एण्ड कम्पनी, नागपुर, 2001
6. ब्रास, पॉल : दि पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिन्स इण्डिपेन्डेन्स, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1990
7. बक्शी, एस.आर. : श्यामा प्रसाद मुखर्जी, फाउन्डर ऑफ जनसंघ, अनमोल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992
8. बीजू, एम.आ. (सं.) : डिसेन्ट्रेलाइजेशन एन इंडियन एक्सपीरियन्स, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, 2007
9. बॉल, एलेन : आधुनिक राजनीति और शासन, मैकमिलन, 1971
10. चौबे, कमलनयन : जातियों का राजनीतिकरण, बिहार में पिछड़ी जातियों के उभार की दास्तान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
11. चन्द्र, विपिन : भारत का स्वतन्त्रता संग्राम : हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1995
12. चटर्जी, पार्थ (सं.) : स्टेट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2007
13. चतुर्वेदी, दिनेश चन्द्र : भारतीय शासक और राजनीति, मीनाक्षी प्रकाशन,

मेरठ, 1981

14. देसाई, मेघानन्द : इण्डिया इमरजिंग कान्ट्राडक्शन ऑफ स्लो कैपीटेलिस्ट डवलपमेन्ट, रॉबिन ब्लैकबर्न (सम्पादित), एक्सप्लोजन इन सब कॉन्टिनेन्ट, पैंगविन बुक्स, 1975

15. दुबे, अभय कुमार : सत्ता और समाज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

16. देसाई, ए.आर. : भारतीय राष्ट्रवाद की आधुनिक प्रवृत्तियां, मैकमिलन, नई दिल्ली, 1978

17. ड्रेम, जीन एंड सेन, अमर्त्य : इंडिया डेवलपमेन्ट एंड पार्टीसिपेशन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2002

18. दहिया, एम.एस. : ऑफिस ऑफ दि गवर्नर इन इण्डिया (ए क्रिटिकल कमेन्टरी), संदीप प्रकाशन, दिल्ली, 1979

19. फडिया, बी.एल., जैन, पुखराज : भारतीय शासन एवं राजनीति, राज्यों की राजनीति सहित, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, 2005

20. फाइनर, हरमन : द थ्योरी एंड प्रेक्टिस ऑफ मॉडर्न गवर्नमेन्ट, मैथ्यून पब्लिकेशन, लन्दन, 1961

21. धुर्ये, जी.एस. : कास्ट, क्लास एण्ड ऑक्यूपेशन, पॉपूलर बुक डिपो, बाम्बे, 1969

22. गेना, सी.बी. : तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं, विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि., नई दिल्ली, 1966

23. ग्रोवर, बी.एल., एंड ग्रोवर, एस. : मॉडर्न इंडियन हिस्ट्री, एस. चांद, दिल्ली, 2010

24. गोयल, ओ.पी. : इण्डियन गवर्नमेन्ट एंड पॉलिटिक्स, लाइट एण्ड लाइफ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979

25. हेमसेथ, सी.एच. : इंडियन नेशनलिज्म एंड हिन्दू सोशल रिफॉर्म, प्रिन्सटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्सटन, 1964

26. इन्टरनेट

27. जौहरी, जे.सी. : इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स, विशाल पब्लिकेशन, दिल्ली 1974

28. जॉन्स, डब्ल्यू. एच. मॉरिस : द गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया, युनविर्सल बुक स्टाल, नई दिल्ली, 1989

29. जैन, रमेश, गुर्जर, नाथूलाल : सूचना का अधिकार (अपेक्षाएं एवं चुनौतियां) भाग–। सबलाइन पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2006

30. जोशी, आर.पी., आढा, आर.एस. : भारतीय राजनीतिक व्यवस्थाः पुनर्रचना के विविध आयाम, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2006

31. जेफर लॉट, क्रिस्टोफर : द हिन्दू नेशनलिस्ट मुवमेन्ट इन इंडिया, पेंग्विन इंडिया, नई दिल्ली, 1996

32. कमल, के.एल. : पार्टी पॉलिटिक्स इन एन इंडियन स्टेट, स्टडी ऑफ मैन पॉलिटिकल पार्टीज इन राजस्थान, एस. चांद, दिल्ली, 1969

33. कौशिक, सुशीला : भारतीय शासन एवं राजनीति, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली, 1984

34. कोठारी, रजनी, (सं.) दुबे, अभय कुमार : भारत में राजनीति कल और आज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

35. कोठारी रजनी : कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स, ऑरिएन्ट लांगमैन, दिल्ली,

36. कश्यप, सुभाष : हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 2001

37. कोहली, अतुल : डेमोक्रेसी एंड डिस्कन्टेन्ट, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1991

38. कपिला, उमा : इंडियन इकोनॉमी, पफोर्मेन्स एण्ड पोलिटिकल, एकेडमिक फाउन्डेशन, नई दिल्ली, 2009

39. कौल, महेश्वर नाथ, शकधर, श्यामलाल : संसदीय पद्धति और प्रक्रिया, लोकसभा सचिवालय, 2002

40. खिलनानी, सुनील : द आइडिया ऑफ इंडिया, पेंगुइन बुक्स, नई दिल्ली, रिप्रिन्ट, 2004

41. ला पालोम्बरा, जोसेफ, : पॉलिटिकल पार्टीज एण्ड पॉलिटिकल

वीनर, मायरन (सं.) डवलपमेन्ट, न्यूजर्सी, प्रिन्सटन युनिवर्सिटी प्रेस, 1966

42. लीच, एडमण्ड आर. : इन्ट्रोडक्शन : व्हॉट शुड बी मीन बाई कास्ट? संकलित, ई. आर. लीच (सं.), आस्पेक्ट्स ऑफ कास्ट इन साउथ इण्डिया, साइलोन एण्ड वेस्ट पाकिस्तान, कैम्ब्रिज, इंग्लैण्ड, 1960

43. मेनन, वी.पी. : दि स्टोरी ऑफ इन्टिग्रेशन ऑफ इण्डियन स्टेट्स, ऑरिएन्ट लांगमैन, नई दिल्ली, 1956

44. मंगलानी, रूपा : भारतीय शासन एवं राजनीति, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2005

45. मल्होत्रा, गुरदीपचंद (सं.) : भारतीय संसद के पचास वर्ष, लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली, 2002

46. मित्रा, सुब्रट के. एवं सिंह, वी.वी. : डेमोक्रेसी एंड सोशल चेंज इन इंडिया, सेज पब्लिकेशन, दिल्ली, 1999

47. नामन डी., पामर : इंडियन पॉलिटिकल सिस्टम, मुफलाइन कम्पनी, बोस्टन, 1961

48. नारायण, इकबाल : रिवालाइट ऑन डॉन पॉलिटिकल चेन्ज इन इण्डिया, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, 1972

49. पायली, एम.वी. : इण्डियाज कॉन्स्टीट्यूशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, न्यूयार्क, 1962

50. पार्थसारथी, जी. : भारत का सांविधानिक इतिहास, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1976

51. पांडेय, जयनारायण : भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहबाद, 2001

52. पी.बी., गजेन्द्र गडकर : दि कॉन्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, इट्स फिलोसॉफी एण्ड बेसिक पोस्चूलेट्स, युनिवर्सिटी कॉलेज, नैरोबी, 1869

53. प्रसाद, अनिरूद्ध : आरक्षण सामाजिक न्याय एवं राजनैतिक संतुलन, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 1991

54. पोसवाल, सज्जन : समकालीन भारत (1947–2000) राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2013

55. राठौड़, मीना : भारत में राजनैतिक दल, आर.बी.एस.ए. पब्लिशर्स, जयपुर, 2003

56. रेने, ऑस्टिन एवं विलमोर, केन्डल : डेमोक्रेसी एण्ड अमेरिकन पार्टी सिस्टम, न्यूयार्क, हॉरकॉर्ट, 1950

57. राय, एम.पी. : भारतीय सरकार और राजनीति, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर,

58. राठौर, मधु : भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, आविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर, 2002

59. संथानम, के. : युनियन स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1960

60. सईद, एस.एम. : भारतीय राजनीतिक प्रणाली, मेकमिलन, दिल्ली, 1978

61. सिंह, महेन्द्र प्रताप : भारतीय शासन एवं राजनीति, ऑरिएन्ट ब्लैकस्वॉन प्राईवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2011

62. सिसन, रिचर्ड : दि कांग्रेस पार्टी इन राजस्थान, पॉलिटिकल इन्टिग्रेशन एण्ड इन्स्टीट्यूशन इन एन इण्डियन स्टेट, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, लन्दन, 1977

63. शर्मा, हरिशचन्द्र : भारत में राज्यों की राजनीति, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1982

64. शुक्ला, सुभाष : इश्यू इन इंडियन पॉलिटी, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2008

65. सील, अनिल : द इमरजेन्सी ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, कॉम्पीटिशन एण्ड कॉलेबोरेशन इन द लेटर नाइन्टिन्थ सेन्चूरी, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1968

66. सिंह, एम.पी., रॉय हिमांशु : इण्डियन पॉलिटिकल सिस्टम (सं.) मानक पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2005

67. सिंह एम.पी. एंड सक्सेना, रेखा : इण्डियन पॉलिटिक्स, कन्टेम्परेरी इश्यूस ए।उ कन्सर्न, प्रिन्सटन हॉल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 2008

68. शहाबुद्दीन, सैय्यद : सम सूत्र ऑफ ए कॉएलिशन धर्मा, साउथ एशिया पॉलिटिक्स, नई दिल्ली, 2004

69. सचदेवा, प्रदीप : अरबन लोकल गवर्नमेन्ट एंड एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया, किताब महल, अलाहबाद, 2000

70. सिवाच, जे.आर. : डायनेमिक्स ऑफ इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स, स्टरर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985

71. श्रीधरन, ई. : द फ्रेगमेन्टेशन ऑफ द इंडियन पार्टी सिस्टम 1952–99 जोया हसन (एडी) पार्टीज एंड पार्टी पॉलिटिक्स इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड, 2002

72. त्यागी, रूचि : भारतीय शासन एवं राजनीति, मयूर पेपर बेक, नई दिल्ली, 2006

73. थापर, रोमिला : भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1975

74. वाजपेयी, अटल बिहारी : इण्डिया एट द क्रॉस रोड, भारतीय जनता पार्टी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980

75. व्हेयर, के.सी. : फेडरल गवर्नमेन्ट, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, लन्दन, 1971

76. वीनर, मायरन : स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, प्रिन्सटन युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूजर्सी, 1968

77. वीनर, मायरन : पॉलिटिक्स ऑफ स्केरसिटि, पब्लिक प्रेशर एंड पॉलिटिकल रेस्पोन्स इन इंडिया, युनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, शिकागो, 1962

शोध–पत्रिकाएं

1. गौतम, आर.एस. (सं.) : मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसंधान जर्नल, मध्यप्रदेश इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्स रिसर्च, 6 भरतपुरी एडमिनिस्ट्रेशन जोन, उज्जैन (म.प्र.)
2. शर्मा, संजीव कुमार (सं.) : भारतीय राजनीति विज्ञान शोध पत्रिका, बी–5, युनिवर्सिटी केम्पस, चौधरी चरण सिंह युनिवर्सिटी, मेरठ (उ.प्र.)
3. लोकतन्त्र समीक्षा : इन्स्टीट्यूट ऑफ कॉन्स्टीट्यूशनल एंड पार्लियामेन्टरी स्टडीज, नई दिल्ली।
4. रेड्डी, सी.राममनोहर (ए.डी.) : इकोनोमिक्स एंड पॉलिटिकल वीकली, मुम्बई (महाराष्ट्र)
5. टंडन, सतीश (ए.डी.) : जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, देव कॉलेज, जालन्धर (पंजाब)
6. अग्रवाल, यू.सी. (सं.) : द इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली।
7. रूस्तगी, अशोक कुमार (सं.) : समाज विज्ञान शोध पत्रिका, अमरोहा (उ.प्र.)
8. विधायिनी : शोध संदर्भ विभाग, मध्यप्रदेश
9. वर्मा, अनिल कुमार (सं.) : शोधार्थी, कानपुर (उ.प्र.)
10. शर्मा, संजीव कुमार (सं.) : द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइन्स, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
11. निजामी, तौफीक ए. (सं.) : इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिक्स, अलीगढ़ मुस्लिम वि.वि. अलीगढ़
12. राम एन. (सं.) : फ्रंटलाईन, द हिन्दू नेशनल प्रेस, चन्नई
13. राव, के.वी. : पेपर ऑन द रोल ऑफ स्टेट गर्वनमेन्ट इन इण्डिया, इन इण्डियन पॉलिटिकल साइन्स रिव्यू,

दिल्ली नं. 3 व 4

14. राव, के.वी. : नॉन मेम्बर चीफ मिनिस्टर, जनरल ऑफ दि सोसायटी फोर स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्ट

15. रिपोर्ट ऑफ दि कमिटि ऑफ गवर्नर्स : द रोल ऑफ गवर्नर्स

16. राजस्थान का मंत्रिमण्डल : राजस्थान विधानसभा सचिवालय, जयपुर।

17. शिवचरण माथुर : प्रशासनिक सुधार आयोग, प्रथम प्रतिवेदन

18. सिंह, कृष्णबीर : शोध समीक्षा और मूल्यांकन, जयपुर।

अन्य नियतकालीन पत्रिकाएं

1. दि इकोनोमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली, समीक्षा, ट्रस्ट पब्लिकेशन, मुम्बई।
2. इण्डिया टुडे, लिविंग मीडिया इण्डिया, प्रा0लि0, नई दिल्ली।
3. संस्थान पत्रिका, लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली।
4. राज्य शास्त्र समीक्षा, राजनीति विज्ञान, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।
5. लोकतन्त्र समीक्षा।
6. कुरूक्षेत्र, भारत सरकार, ग्रामीण क्षेत्र व रोजगार मंत्रालय, नई दिल्ली।
7. योजना, भारत सरकार, सूचना व प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली।
8. भारत (वार्षिकी), प्रकाशन विभाग, भारत सरकार।
9. राजस्थान सुजस, सूचना व जनसम्पर्क निदेशालय, जयपुर।
10. पॉलिटिकल साइन्स रिव्यू, युनिवर्सिटी ऑफ राजस्थान, जयपुर।

समाचार पत्र

1. नवभारत टाइम्स
2. दि हिन्दुस्तान टाइम्स
3. हिन्दुस्तान दैनिक
4. जनसत्ता
5. दि हिन्दु
6. दिनमान
7. नई दुनिया

परिशिष्ट

प्रश्नावली

उत्तरदाता के सम्बन्ध में व्यक्तिगत सूचनाएं

आयु :

शैक्षणिक योग्यता :

जाति :

व्यवसाय :

लिंग :

आय :

निवास : ग्रामीण / नगरीय

1. वर्तमान में देश में कार्यशील प्रमुख राजनीतिक दलों के नाम बताइये।
2. राज्य में सक्रिय प्रमुख राजनीतिक दलों के नाम बताइये।
3. उपुर्यक्त दलों में से कौन–से क्षेत्रीय व कौन से राष्ट्रीय दल हैं?
4. क्या आप अग्रांकित विचारधाराओं / धारणाओं से परिचित हैं?

   (a) उदारवाद (b) समाजवाद

   (c) लोकतान्त्रिक समाजवाद (d) पूंजीवाद

   (e) साम्यवाद (f) सामाजिक व आर्थिक न्याय

   (g) पंथ निरपेक्षता (h) क्षेत्रवाद
5. अग्रांकित राजनीतिक दलों को क्या उपर्युक्त विचारधाराओं व धारणाओं में से किसी के साथ जोड़ा जा सकता है? (किस दल को किस विचारधारा के साथ– इंगित करें)

   (a) भाजपा :

   (b) कांग्रेस :

   (c) जनतादल :

   (d) मार्क्सवादी पार्टी :
6. अग्रांकित दलों के दो–दो प्रमुख नेताओं के नाम बताईये

   (a) कांग्रेस :

   (b) भाजपा :

   (c) समता पार्टी :

   (d) जनता दल (यू) :

(e) जनता दल (सेक्यूलर) :

(f) भा.क.पा. :

(g) मा.क.पा. :

7. पिछले विधान सभा चुनाव के समय कौन–कौन से प्रमुख मुद्दे थे?

8. उपर्युक्त मुद्दों में से वोट देने में आपको सर्वाधिक किस मुद्दे ने प्रभावित किया?

9. इनके नाम बताइये – सही/गलत

(a) प्रधानमंत्री :

(b) राजस्थान का मुख्यमंत्री :

(c) आपके यहां का सांसद :

(d) आपके यहां का विधायक :

(e) आपके यहां का प्रधान :

10. आपके क्षेत्र में अधिक प्रभावी दल का, आपके मत में अधिक प्रभाव किस कारण से है?

(a) दल का किसी जाति से सम्बन्ध होने के कारण?

(b) कोई स्थानीय नेता उस दल से जुड़ा है।

(c) दल की नीति अच्छी है।

(d) सदा से यही दल है।

(e) दल का प्रचार अधिक है।

(f) अन्य कारण।

11. भारत में चुनाव प्रणाली के विषय में कुछ विचार इस प्रकार हैं। आप राजस्थान सम्बन्धी अनुभवों के आधार पर अपनी सहमति/असहमति प्रगट करें।

(a) अपव्यय व भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है। सहमत/असहमत/अनिश्चित

(b) योग्य व स्वाभिमानी व्यक्ति दूर रहते है। सहमत/असहमत/अनिश्चित

(c) दल के सदस्यों का सही प्रतिनिधित्व कर सकती है पर उन प्रतिनिधियों का नहीं। सहमत/असहमत/अनिश्चित

(d) तनाव व हिंसा को जन्म देती है। सहमत/असहमत/अनिश्चित

(e) केवल साधन सम्पन्न व्यक्ति व दल ही चुनाव–प्रणाली का लाभ उठाते हैं। सहमत/असहमत/अनिश्चित

12. आपके विचार से कौन–सी सरकार अधिक महत्त्वपूर्ण है?

(a) राज्य सरकार (b) केन्द्र सरकार

(c) दोनों (d) एक भी नहीं

13. क्या आप सामान्यतः राजनीति में रूचि लेते है? बहुत/कुछ–कुछ/नहीं

14. आपके विचार से भारत में किस प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था का गठन किया गया है?

(a) अध्यक्षात्मक (b) संसदात्मक

(c) मिश्रित (d) नहीं जानते

15. भारत के राष्ट्रपति का चयन किस प्रकार होता है?

(a) जनता द्वारा प्रत्यक्ष

(b) संसद और विधानसभा के सदस्यों द्वारा

(c) नहीं जानते

16. भारत के प्रधानमंत्री का चयन किस प्रकार होता है?

(a) सीधे जनता द्वारा (b) राष्ट्रपति द्वारा

(c) लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल द्वारा (d) नहीं जानते

17. भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में आप किसे शक्तिशाली मानते हैं?

(a) राष्ट्रपति (b) प्रधानमंत्री (c) नहीं जानते

18. संसद सदस्य का प्रमुख कार्य क्या है? (एक से अधिक भी इंगित कर सकते है)

(a) सरकार की नीतियां और शासनतन्त्र पर अंकुश रखना।

(b) जनता के पक्ष को सरकार के सम्मुख रखना

(c) अपनी राजनैतिक शक्ति और महत्त्व की वृद्धि करना।

(d) जनता की समस्याओं का समाधान करना।

(e) अन्य कोई कार्य।

19. क्या आपने अपने महाविद्यालय में छात्रसंघ के चुनाव में मतदान किया है?

हाँ/नहीं

20. क्या आपने छात्रसंघ के किसी पद के लिए चुनाव लड़ा है? हाँ/नहीं

21. क्या आपने अपने छात्रसंघ के किसी प्रत्याक्षी के लिए सक्रिय रूप से चुनाव कार्य किया है? हाँ/नहीं

22. क्या आपने छात्रसंघ या किसी विद्यार्थी संगठन के द्वारा आयोजित प्रदर्शन, घेराव, जुलूस आदि में भाग लिया है?

(a) प्रायः (b) कभी–कभी (c) कभी नहीं

23. क्या आप जितनी शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे, उतनी प्राप्त कर सके/सकीं?

हाँ/नहीं

24. यदि नहीं, तो उसके क्या कारण थे?

(a) परिवार वाले आर्थिक कारणों से आगे शिक्षा का भार नहीं उठा सकते थे।

(b) जिस स्तर तक शिक्षा प्राप्त की उससे आगे शिक्षा की सुविधाएं स्थानीय स्तर पर उपलब्ध नहीं थीं।

(c) रोजगार में लगने के कारण शिक्षा अधूरी छोड़नी पड़ी।

(d) विवाह हो जाने के कारण शिक्षा जारी नहीं रह सकी।

(e) परिवार वालों के मत में महिलाओं की शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं है।

25. क्या आपको अपनी शिक्षा पूरी नहीं होने का पछतावा है? हाँ/नहीं

26. आपके अनुसार राजनीतिक दलों की अग्रांकित में से कौन–कौन से कार्य करने चाहिये?

(a) जन समस्याओं का निराकरण करना।

(b) किसी जाति विशेष के लोगों को दल का समर्थक बनाने का प्रयास करना।

(c) स्थानी गुटों के संघर्ष में अपने से सम्बन्धित गुट के हितों की रक्षा करना।

(d) पुलिस कार्यवाही आदि के प्रसंग में अपने दल के कार्यकर्त्ताओं की सहायता करना।

(e) सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करना।

(f) स्थानीय समस्याओं की जानकारी देना।

(g) क्षेत्र के विकास की गतिविधियों के लिए राजनैतिक व प्रशासनिक स्तर पर प्रयास करना।

(h) महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय व नीतिगत विषयों पर जनमत का निर्माण करना।

(i) अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटनाओं के विषय में जानकारी देना।

(j) किसी आकस्मिक घटना या आपदा के समय लोगों की सहायता के लिए सक्रिय रहना।

(k) राज्य स्तरीय मुद्दों और समस्याओं के विषय में लोगों को जागरूक करना।

27. आपके अनुसार पिछले वर्षों मं भारत में जातिवाद का प्रभाव –

(a) बढ़ा है (b) कम हुआ है। (c) उसमें कोई अन्तर नहीं आया।

28. आपके अनुसार राजनीतिक दलों को चुनाव प्रत्याक्षी बनाते समय क्या जाति का ध्यान रखना चाहिए? हाँ/नहीं

29. दलों द्वारा चुनाव में प्रत्याशी के चयन में जाति का ध्यान रखने को आप किस संदर्भ में सही मानेंगे?

(a) निर्वाचन क्षेत्र में जाति विशेष के मतदाताओं की बड़ी संख्या के कारण चुनाव में जीत की संभावना।

(b) दालें को अपनी समर्थक जाति के विधायक अधिक से अधिक संख्या में निर्वाचित कराने चाहिये, ताकि जाति को सत्ता में अधिक भागीदारी मिले।

(c) अनय प्रतिद्वन्द्वी दल द्वारा सिकी अन्य जाति या जातियों को दिये जा रहे प्रश्रय को रोकने के लिए यह आवश्यक है।

(d) अन्य कोई कारण

30. स्थानीय संस्थाओं में अ.जा., ज.जा. व अ.पि.व. के आरक्षण के प्रावधानों का क्या प्रभाव पड़ा?

(a) इन वर्गो में चेतना आई।

(b) जातिवाद को बढ़ावा मिला है।

(c) इन संस्थाओं के कार्यकरण में प्रभावशीलता आई है।

(d) कोई प्रभावन नहीं पड़ा है।

(e) अन्य कोई।

31. क्या आप लोकसभा व विधानसभाओं में अ.जा. व अ.पि.व. के लिए आक्षरण उचित मानते है? हाँ/नहीं

32. क्या स्थानीय संस्थाओं में महिलाओं के लिए पद आरक्षित हैं? हाँ/नहीं

33. क्या आप इन संस्थाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण को उचित मानते है? हाँ/नहीं

34. क्या आप जाति पर आधारित संगठनों का गठन किया जाना उचित मानते है? हाँ/नहीं

35. जातियों के संगठन अपनी–अपनी जातियों के विकास के प्रयासों के द्वारा देश के विकास में योगदान करते हैं। सहमत/असहमत

36. जाति पर आधारित संगठन केवल अपनी जाति के लोगों के उत्थान के लिए प्रसास करते हैं, इसके संकीर्णता और सामाजिक तनाव उत्पन्न होता है।सहमत/असहमत

37. क्या सरकारी नौकरियों में मिलने वाले आरक्षण के स्वरूप में परिवर्तन करना चाहिये? हाँ/नहीं

38. यदि हाँ, तो क्या परिवर्तन करना चाहिये?

(a) आरक्षण जाति नहीं बल्कि आर्थिक आधार पर दिया जाये।

(b) जिन परिवारों को एक बार आरक्षण का लाभ मिल चुका है उनकी अगली पीढ़ी को आरक्षण नहीं दिया जाये।

(c) आरक्षण मूल नियुक्ति में ही दिया जाये, पदौन्नति में नहीं।

(d) अन्य कोई परितर्वन।

39. क्या पार्टियों और चुनावों के बिना राजकाज बेहतर चलेगा। हाँ/नहीं/पता नहीं

40. क्या आपके वोट देने से कोई फर्क पड़ता है? हाँ/नहीं/पता नहीं

41. क्या केवल पढ़े–लिखे व्यक्ति को ही वोट देने का अधिकार होना चाहिय? हाँ/नहीं

42. क्या निर्वाचित प्रतिनिधि लोगों की चिन्ता करते हैं? हाँ/नहीं/कह नहीं सकते

43. क्या सरकार आम लोगों की देखभाल करती है? हाँ/नहीं/पता नहीं

44. आपके विचार से पिछले पाँच वर्षों में सामाजिक समूहों (जातिगत, धार्मिक, आर्थिक) के बीच सम्बन्ध –

(a) अधिक सौहार्द्रपूर्ण रहे हैं। (b) अधिक तनावपूर्ण रहे है (c) सामान्य रहे हैं।

45. भारत में सर्वाधिक आवश्यकता कुछ दृढ़ एवं शाक्तिशाली नेताओं की है जो जनता पर कठोर अनुशासन लागू कर सकें। सहमत/असहमत

46. प्रजातान्त्रिक सरकार एक शिथिल सरकार होती है। सहमत/असहमत

47. शैक्षणिक संस्थाओं में सरकार की आलोचना अथवा राजनीतिक मामलों की चर्चा पर पूर्ण प्रतिबन्ध होना चाहिये। सहमत/असहमत

48. राष्ट्रीय मुद्दों व समस्याओं की अपेक्षा नेताओं को अपनी क्षेत्रीय लोगों की समस्याओं का अधिक ध्यान रखना चाहिये। सहमत/असहमत

49. अधिकांश भारतीय नेता अयोग्य हैं जो घटनाओं व स्थितियों की वास्तविकता को समझने में असमर्थ है। सहमत/असहमत

50. सरकार चलाने वालों में अधिकांश लोग जनता के पैसे का जनहित एवं कल्याण के लिए सदुपयोग न करके व्यक्तिगत स्वार्थसिद्धि के लिए दुरूपयोग करते है। सहमत/असहमत

51. सरकार चलाने वाले अधिकांश लोग अपना समय व्यर्थ कार्यो में गंवाते हैं, न कि जनता के हित एवं कल्याण में। सहमत/असहमत

52. सरकार चलाने वाले अधिकांश लोग शक्ति–लोलुप एवं सत्ता के भूखे है। सहमत/असहमत

53. आज जनता के पास ऐसे साधन हैं कि वह जब चाहे अपनी इच्छानुसार सरकार बदल दे। सहमत/असहमत

54. नेताओं के लिए कुछ न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता होनी चाहिये। सहमत/असहमत

55. राजनीति में भाग लेने से व्यक्ति का प्रभाव एवं महत्त्व बढ़ जाता है।
सहमत/असहमत

56. जिस व्यक्ति या वर्ग के पास ठोस वोट हों, वह सरकार से जो चाहे करवा सकता है। सहमत/असहमत

57. सरकार चलाने वालों के लिए आम आदमी के विचारों का कोई महत्त्व नहीं है।
सहमत/असहमत

58. आज के सरकारी अफसर प्रायः जनता के विचारों का ध्यान रखते है।
सहमत/असहमत

59. सरकार जनमत के दबाव के अनुसार अपनी नीतियां बदलने के लिए बाध्य होती हैं। सहमत/असहमत

60. क्या आप राजनीतिक आरक्षण की व्यवस्था के समर्थक है?
    (a) नहीं
    (b) केवल अगले 10 वर्ष के लिए हो।
    (c) केवल अगले 20 वर्ष के लिए हो।
    (d) अगले 20 वर्ष से अधिक समय के लिए हो।
    (e) स्थायी तौर पर रहे।

61. आपके विचार से क्या आपके जिले की स्वायत्त संस्थाएं अपने कार्यों को करने में –
    (a) सफल रही हैं। (b) असफल रही हैं। (c) कह नहीं सकते।

62. यदि सफल नही हैं, तो वे किन–किन मामलों में सफल रही हैं?
    (a) आर्थिक सहायता (b) स्कूल, सड़क आदि के निर्माण में
    (c) प्राथमिक स्कूल चलाने में (d) प्रशासन की ज्यादतियों से बचाने में
    (e) राजनीतिक चेतना लाने में (f) अन्य।

63. यदि असफल रही तो क्यों?
    (a) गुटबन्दी (b) वित्त की कमी (c) योग्य व्यक्तियों की कमी
    (d) प्रतिनिधियों में स्वार्थ (e) प्रशासन में असहयोग (f) अन्य।

64. क्या देश के कुछ ऐसे वर्तमान नेताओं के नाम बता सकते हैं, जिनके प्रति आपके मन में श्रद्धा है?

65. शिक्षा प्रापत करने से सभी क्षेत्रों में सफल होने की क्षमता बढ़ती है।

सहमत/असहमत

66. लड़कियों को भी लड़कों के समान शिक्षा के पूरे अवसर मिलने चाहिये।

सहमत/असहमत

67. क्या आपके मत में परिवार की लड़कियों और अन्य महिलाओं को सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने की पुरूषों के समान स्वतन्त्रता हैं?

हाँ/नहीं

68. क्या आपके मत में परिवार की लड़कियों और अन्य महिलाओं को सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने की पुरूषों के समान स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

69. यदि नहीं, तो आप इसके लिए क्या आधार उचित मानेंगे?

(a) महिलाओं को पूरी तरह घर–गृहस्थी में ही ध्यान देना चाहिये।

(b) सामाजिक और राजनैतिक गतिविधियों में सक्रिय होने पर महिलाएं परिवार के अनुशासन से मुक्त हो जाएंगी।

(c) महिलाओं के इन गतिविधियां में भाग लेने सेपरिवार में तनाव बढ़ेगा।

(d) महिलाओं का घर से बाहर सक्रिय होना और इस क्रम में पुरूषों के सम्पर्क में आना अच्छा नहीं माना जाता।

(e) महिलाओं का ऐसी गतिविधियों में भाग लेना उनकी स्वयं की सुरक्षा के लिए ठीक नहीं है।

(f) अन्य कोई कारण।

70. क्या आपकी किसी नौकरी या व्यवसाय में संलग्न रहने की रूचि थी? हाँ/नहीं

71. व्यवसाय या नौकरी के विकल्प का चयन न करने के कारण थे?

(a) उपयुक्त व्यवसाय की अनुपलब्धता।

(b) नौकरी व परिवार दोनों को एक साथ संभालना कठिन प्रतीत हुआ।

(c) परिवार वाले नौकरी करने के प्रति सहमत नहीं।

72. आपको कौन–सा दल अच्छा लगता है?

73. आप इस दल क अग्रांकित में से किस कारण से समर्थन करते है?

(a) विचारधारा।

(b) दल का सामाजिक दृष्टिकोण।

(c) अल्पसंख्यकों व बहुसंख्यकों के प्रति दल के दृष्टिकोण के आधार पर।

(d) दल की आर्थिक नीतियों के कारण

(e) दल के नेतृत्व के कारण।

(f) जाति के अधिकांश लोगों के उस दल के प्रति समर्थन के कारण।

(g) स्थानीय स्तर पर प्रभावशाली व्यक्तियों के उस दल का समर्थक होने के कारण।

(h) पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण।

74. आप चुनाव में वोट देने जाते है? हाँ/नहीं

75. यदि हाँ, तो क्या अग्रांकित में से सभी चुनावों मे वोट देते है? (प्रासंगिक को इंगित करें)

(a) लोकसभा (b) विधानसभा (c) नगरीय/ग्रामीण निकाय

76. यदि उपर्युक्त में से किसी चुनाव में वोट देने में रूचि नहीं होती तो उसका क्या कारण है?

77. आप चुनाव में अपनी रूचि से वोट देने जाते हैं या कोई प्रेरित करता है?

78. वोट देने जाने में किसकी प्रेरणा या आग्रह महत्त्वपूर्ण होता है?

(a) पारिवारिक सदस्य।

(b) राजनीतिक दल के स्थानीय कार्यकर्ता।

(c) स्थानीय प्रभावशाली व्यक्ति।

(d) जाति का प्रभावशाली व्यक्ति।

(e) अन्य

79. पिछले विधानसभा चुनाव में वोट दिया था? हाँ/नहीं

80. क्या आप विभिन्न दलों के बड़े नेताओं की चुनावी सभाओं में भाग लेते है? हाँ/नहीं

81. यदि हाँ, ऐसी सभा में भागीदारी का क्या कारण होता है?

(a) भीड़ जुटा कर सभा को सफल बनाने के दल के कार्यकर्त्ताओं के प्रयासों के कारण।

(b) बड़े नेता को देखने की इच्छा के कारण।

(c) बड़े नेता द्वारा सभा में दिये गये भाषण में व्यक्त विचारों को जानने व समझने की इच्छा से।

(d) अन्य कारण।

82. क्या चुनाव सभा में दिये गये भाषण अथवा चुनाव सभा की सफलता या असफलता से बने वातावरण से आपके वोट के निर्णय पर कोई प्रभाव पड़ता है? हाँ/नहीं

83. विधान सभा चुनाव में, चुनाव से पहले बनी हुई सरकार के कार्य के आंकलन में अग्रांकित में से किसे महत्त्व देंगे? (वरीयता क्रम)

(a) भ्रष्टाचार पर नियन्त्रण (b) सामान्य जन–समस्याओं का समाधान

(c) कानून और व्यवस्था की स्थिति (d) महंगाई पर नियन्त्रण

(e) विकास कार्य (f) अन्य

84. देश के सम्मुख इस समय विद्यमान प्रमुख समस्याएं कौन–कौन सी है?

85. क्या आपको पता है कि चुनाव के समय विभिन्न राजनीतिक दलों की दूरदर्शन और आकाशवाणी पर प्रसारण का समय प्रदान किया जाता है? हाँ/नहीं

86. यदि हाँ, तो पिछले चुनाव में आपने क्या इन प्रसारणों को सुना या देखा? हाँ/नहीं

87. यदि प्रसारण देखें, तो उसका उद्देश्य क्या था?

(a) दूरदर्शन के अन्य कार्यक्रमों को दखने के क्रम में यह प्रसारण भी देखे गये।

(b) प्रसारण के द्वारा दल के दृष्टिकोण को जानने के लिए देखा।

88. आपके क्षेत्र में विगत दिनों कौन–कौन से विकास कार्य हुए?

89. उपर्युक्त विकास कार्य किस एजेन्सी या संस्था द्वारा कराये गये?

90. क्या आप किसी पार्टी के सदस्य है?

91. क्या आपने कभी चुनाव प्रचार में भाग लिया है? हाँ/नहीं

92. क्या वर्तमान चुनाव संचालन की व्यवस्था आपको उपयुक्त लगती है? हाँ/नहीं

93. यदि नहीं, तो आपके अनुसार चुनाव संचालन में क्या कमियां है?

(a) चुनाव में धन की भूमिका

(b) सरकारी साधनों व प्रभाव का दुरुपयोग

(c) बाहुबल से बूथ पर कब्जा करना अथवा मतदाताओं को डराना धमकाना

(d) अन्य कमी।

94. क्या पिछले दिनों विभिन्न जन–समस्याओं के सम्बन्ध में राजनैतिक दलों द्वारा किये गये किन्हीं आन्दोलनों की आपको जानकारी है? हाँ/नहीं

95. यदि हाँ, तो किस राजनैतिक दल द्वारा ये आन्दोलन किये गये?

96. राजनैतिक दलों द्वारा आन्दोलनों के माध्यम से उठाये गये मुद्दे क्या थे?

97. विभिन्न जन समस्याओं के सम्बन्ध में राजनैतिक दलों द्वारा किये जाने वाले आन्दोलनों में क्या आप भाग लेते है, हाँ/नहीं

98. क्या आप स्वयं चुनाव लड़ने के इच्छुक है? हाँ/नहीं

99. यदि हाँ, तो चुनाव लड़ने की आपकी इच्छा को अग्रांकित में से कौन–सा तत्त्व बाधित करता है –

(a) किसी दल से टिकिट मिलने की सम्भावना नहीं है।

(b) चुनाव का आर्थिक भार उठाने की क्षमता नहीं है।

(c) समर्थन जुटा पाना कठिन लगता है।

(d) अन्य कारण

100. क्या आप किन्हीं सामाजिक संगठनों के सदस्य हैं? हाँ/नहीं

101. क्या आप किन्हीं व्यावसायिक संगठनों के सदस्य है? हाँ/नहीं

102. क्या आप अंग्रांकित के बारे में जानते है?

(a) सरपंच (b) जिला परिषद् (c) ग्राम सभा (d) नगर परिषद्

(e) प्रधान

103. क्या आप किसी भी प्रकार की गतिविधि के लिए उपर्युक्त में से किसी के सम्पर्क में आते है? हाँ/नहीं

104. यदि हाँ, तो किस प्रकार की गतिविधि के सन्दर्भ में सम्पर्क में आते है?

(a) चुनाव प्रचार के सम्बन्ध में। (b) समस्याओं के समाधान के लिए।

(c) सामुदायिक कार्यक्रमों के सम्बन्ध में। (d) अन्य गतिविधि।

105. क्या ये इनमें से किसी में आपके सम्पर्क में आते है?

(a) समुदाय के कार्यक्रम (b) मोहल्ले के कार्यक्रम

(c) अन्य कोई अवसर (इंगित करें)।

106. ये किस प्रकार मदद करते हैं?

(a) स्वयं व्यक्तिगत रूचि दिखाते हैं।

(b) सम्बन्धित अधिकारियों के पास समस्या के समाधान के लिए प्रयास करते हैं।

(c) अन्य किसी प्रकार से।

107. राजनीतिक समस्याओं व मुद्दों के सम्बन्ध में आप साधारणतया किन व्यक्तियों के साथ चर्चा करते हैं?

(a) आस–पास के समवयस्क व्यक्ति।

(b) राजनैतिक दलों के कार्यकर्ता अथवा नेता।

(c) कार्यालय या अन्य स्थानों पर साथ काम करने वाले लोग।

(d) अन्य

108. क्या आप समय–समय पर उठने वाली राजनैतिक समस्याओं और मुद्दों पर चर्चा में भाग लेते हैं? हाँ/नहीं

109. यदि हाँ, तो इस प्रकार की चर्चाओं में भाग लेने के अवसर पर उपस्थित होते है?

(a) सामान्यतः

(b) किसी बड़ी राजनैतिक घटना या मुद्दे के उपस्थित होने पर।

(c) चुनाव के समय।

110. राजनैतिक मुद्दों पर आपके मत के निर्धारण में अग्रांकित में से क्या निर्णायक रहता हैं?

(a) केवल स्वयं का विश्लेषण और निष्कर्ष।

(b) परिवार के अन्य सदस्यों की राय।

(c) जाति के सम्भ्रान्त लोगों की उन्हीं प्रश्नों पर बनी हुई राय।

(d) समाचार पत्रों में प्रकाशित टिप्पणियां।

(e) सहकर्मियों और मित्रों की उन्हीं बिन्दुओं पर बनी हुई राय।

(f) अन्य कोई।

111. क्या आपने चुनाव के दिन या मतगणना के दिन चुनाव अभिकर्ता के रूप में कार्य किया है? हाँ/नहीं

112. क्या आपने किसी राजनैतिक दल द्वारा आयोजित जुलूस, प्रदर्शन या धरने में भाग लिया है? हाँ/नहीं

113. टेलीविजन पर प्रसारित होने वाले राजनैतिक मुद्दों और सामाजिक विषयों पर आयोजित चर्चाओं और विश्लेषणों को क्या आप देखते हैं?

हाँ/नहीं/नियमित/यदाकदा

114. यदि हाँ, तो आपके मत निर्धारण को ये चर्चाएं किस रूप में प्रभावित करती हैं?

(a) इनके माध्यम से सम्बन्धित मुद्दे पर विभिन्न दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

(b) सम्बन्धित मुद्दे पर सूचनाएं प्राप्त होती हैं।

(c) इन चर्चाओं में उभरा मत, स्वयं के मत–निर्धारण का आधार बनता है।

(d) अन्य।

115. क्या आप किसी दल में किसी पद पर आसीन हुए हैं? हाँ/नहीं

116. महिलाओं की राजनैतिक और अन्य सार्वजनिक गतिविधियों में भागीदारी के कम होने के क्या कारण हैं?

(a) महिलाओं में स्वयं में रूचि का अभाव।

(b) परिवार के पुरूषों का प्रतिरोध।

(c) इन गतिविधियों के क्रम में सम्पर्क में आने वाले पुरूषों का व्यवहार व असहयोग

(d) पारिवारिक जिम्मेदारियों से ही मुक्ति नहीं मिलना।

(e) पर्याप्त शिक्षित न होना।

(f) अन्य कोई कारण।

117. क्या आपके मत में नगरीय और ग्रामीण स्थानीय संस्थाओं में अनु.जातियों, अनु.ज. जा. अ.पि.व. व महिलाओं के लिए आरक्षण के प्रावधान से इन वर्गों की वास्तविक सहभागिता में वृद्धि होगी? हाँ/नहीं

118. क्या कोई पार्टी देश की समस्याएं हल कर सकती है? हाँ/नहीं/पता नहीं

119. क्या आप विभिन्न दलों द्वारा जारी चुनाव घोषणा–पत्रों या उनके विषय में समाचार पत्रों में छपे विवरणों को पढ़ते हैं? हाँ/नहीं

120. आपके मत देने के निर्णय पर चुनाव घोषणा–पत्रों में दलों के दृष्टिकोण और आश्वासनों का प्रभाव किस सीमा तक पड़ता हैं?

(a) कोई प्रभाव नहीं पड़ा। (b) थोड़ा प्रभाव पड़ता है।

(c) निर्णायक प्रभाव पड़ता है।

121. जन–समस्याओं के निराकरण के विषय में आपके क्षेत्र में सक्रिय राजनैतिक दल की अब तक की भूमिका के विषय में आपका क्या आंकलन है?

(a) सन्तोषजनक। (b) असन्तोषजनक।

(c) अत्यन्त प्रभावशाली।

122. क्या आपके क्षेत्र में कार्यरत राजनैतिक दल अग्रांकित में से सभी या कोई कार्य करते हैं? चिन्हित करिये।

(a) स्थानीय समस्याओं की जानकारी देना।

(b) जनसमस्याओं के निराकरण के लिए प्रशासनिक और राजनैतिक स्तर पर प्रयास करना।

(c) क्षेत्र के विकास की गतिविधियों के लिए राजनैतिक और प्रशासनिक स्तर पर प्रयास करना।

(d) अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटनाओं के विषय में जानकारी देना।

(e) किसी आकस्मिक घटना या आपदा के समय लोगों की सहायता के लिए सक्रिय रहना।

(f) राज्य स्तरीय मद्दों और समस्याओं के विशय में लोगों को जागरूक करना।

123. क्या आप किसी भी प्रकार की गतिविधि के लिए किसी राजनैतिक दल के सम्पर्क में आते हैं? हाँ/नहीं

124. यदि हाँ, तो किस प्रकार की गतिविधि के संदर्भ में सम्पर्क में आते है?

(a) चुनाव और मतदान के सम्बन्ध में।

(b) समस्याओं के समाधान के लिए आन्दोलनों के सम्बन्ध में।

(c) विकास कार्यों की स्वीकृति के लिए मंत्रियों या अन्य सम्बन्धित अधिकारियों से मिलकर प्रयास करने के सम्बन्ध में।

(d) अन्य।

125. राजनैतिक दल से आपके सम्पर्क का माध्यम कौन होता है?

(a) दल का स्थानीय कार्यकर्ता या स्थानीय पदाधिकारी।

(b) दल से सम्बन्धित क्षेत्रीय विधायक या विधानसभा चुनाव में दहा दल का प्रत्याशी

(c) दल के राज्य स्तरीय या अन्य बड़े नेता।

(d) अन्य।

126. जिस दल का आप समर्थन करते है, उसके बारे में क्या निम्न बाते जानते हैं?

(a) दल के बड़े नेता। (b) दल की विचारधारा।

(c) दल के कार्यक्रम। (d) राष्ट्रीय दल है अथवा क्षेत्रीय दल।

127. कब से आप इस दल के समर्थक हैं?

(a) पिछले चुनाव के बाद से।

(b) परिवार में इस दल के समर्थन की परम्परा है।

(c) दल के गठन के समय से।

(d) स्वयं के प्रारम्भ से इसी दल का समर्थन किया है।

128. क्या आप वर्तमान में जिस दल का समर्थन कर रहे हैं, उसके प्रति आपके समर्थन में भविष्य में परिवर्तन संभव है? हाँ/नहीं

129. यदि हाँ, तो अग्रांकित में से कौन–सा आधार ऐसे परिवर्तन का कारण बन सकता है?

(a) दल के नेता का परिवर्तन।

(b) दल की नीतियों और कार्यक्रमों में परिवर्तन के कारण।

(c) जाति के अधिकांश लोगों के उस दल का समर्थन करना बन्द कर देने पर।

(d) किसी अन्य दल के नेता का व्यक्तित्व अधिक प्रभावित करने पर।

(e) किसी अन्य दल की नीतियों व कार्यक्रमों के अधिक प्रभावित करने पर।

(f) अन्य कोई आधार।

130. इस चुनाव में किया मतदान पिछले चुनाव में मतदान से भिन्न था या उसके अनुरूप था?

(a) भिन्न था। (b) पिछले मतदान के अनुरूप था।

131. यदि भिन्न था, तो मतदान में भिन्नता किस कारण आई?

(a) दल के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तन। (b) प्रत्याशी की उपयुक्तता।

(c) प्रत्याशी की जातिगत सम्बद्धता। (d) प्रत्याशी की स्थानीयता

(e) प्रभावशाली व्यक्तियों का अन्यथा परामर्श। (f) अन्य

132. जिस प्रत्याशी को वोट दिया उसके चयन का आधार क्या था?

(a) प्रत्याशी की व्यक्तिगत योग्यता/उपयुक्तता। (b) दलीय सम्बद्धता।

(c) अन्य।

133. यदि दल के आधार पर वोट दिया तो मतदान के लिए उस दल को चुनने के क्या आधार थे?

(a) दल का नेतृत्व

(b) दल की विचारधारा

(c) दल के घोषणा–पत्र में घोषित कार्यक्रम और वादे।

(d) आपके समुदाय/जाति के अधिकांश लोगों के इस चुनाव में इसी दल को वोट देने का रूझान।

(e) दल की सरकारी दल या विपक्ष के रूप में पिछली भूमिका।

134. यदि प्रत्याक्षी की उपयुक्तता के आधार पर वोट दिया तो उपयुक्तता निर्धारण में कौन–सा कारण महत्त्वपूर्ण था? (प्राथमिक क्रम)

(a) प्रत्याशी की ईमानदारी छवि। (b) उसका दबंग होना।

(c) सहज उपलब्ध होना। (d) लोगों की मदद करने में उसी रूचि।

(e) प्रत्याशी की जातिय सम्बद्धता। (f) प्रत्याशी की स्थानीयता

(g) अन्य कारण।

135. किसे वोट देना है, यह निर्णय व्यक्तिगत रूप से लेते हैं या किसी के साथ परामर्श करके?

(a) व्यक्तिगत रूप से। (b) किसी अन्य से परामर्श लेकर।

136. यदि परामर्श लेते हैं तो किससे?

(a) परिवार के व्यक्ति। (b) जाति के प्रमुख व्यक्ति।

(c) स्थानीय प्रभावशाली व्यक्ति। (d) अन्य कोई।

137. क्या आपके परिवार के सभी मतदाता एक ही प्रत्याशी को वोट देते है? हाँ/नहीं

138. किसे वोट देना है, इसका निर्णय विभिन्न दलों द्वारा किये जा रहे चुनाव प्रचार से पूर्व ले लेते हैं या चुनाव प्रचार के दौरान उभरे मुद्दों या वातावरण के आधार पर लेते है?

139. लोकसभा, विधानसभा के सदस्यों को समर्थन देने व सरपंच, प्रधान आदि के समर्थन के आधार–

(a) समान हैं। (b) अलग हैं।

140. क्या आप राजनेताओं की घोषणाओं पर विश्वास करते हैं? हाँ/नहीं

141. क्या भारत में सभी पार्टियों की सम्मिलित सरकार होनी चाहिए?हाँ/नहीं/पता नहीं

– राठौड़, मीना : भारत में राजनैतिक दल आर.बी.एस.ए. पब्लिशर्स, जयपुर, 2003